भारत की संघीय व्यवस्था में राज्यों की स्वायत्तता
(केन्द्र राज्य सम्बन्धों के परिपेक्ष्य में एक शोध अध्ययन)

Autonomy of states in India's federal system
(A research study in the context of center state relations)

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

की

पीएच० डी० (राजनीति विज्ञान) उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध–प्रबन्ध

सामाजिक विज्ञान संकाय

शोधार्थी

राजेश कुमार चौहान

शोध पर्यवेक्षक

डॉ० फूलसिंह गुर्जर

सह आचार्य

राजनीति विज्ञान विभाग,

राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, झालावाड़ (राज०)

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा (राज०)

2021

CERTIFICATE

I feel great pleasure in certifying that the thesis entitled **"भारत की संघीय व्यवस्था में राज्यों की स्वायत्तता (केन्द्र राज्य सम्बन्धों के परिपेक्ष्य में एक शोध अध्ययन)"** by (Rajesh Kumar Chouhan) under my guidance. He has completed the following requirements as per Ph.D regulations of the University -

(a) Course work as per the university rules.

(b) Residential requirements of the university (200 days)

(c) Regularly submitted annual progress report.

(d) Presented his work in the departmental committee.

(e) Published/accepted minimum of one research paper in a referred research journal,

I recommend the submission of thesis.

Date:

Dr. Phool Singh Gurjar
Associate Professor & Head of Department
(Department of Political Science)
Government PG College, Jhalawar (Raj.)

CANDIDATE'S DECLARATION

I, hereby, certify that the work, which is being presented in the thesis, entitled **"भारत की संघीय व्यवस्था में राज्यों की स्वायत्तता (केन्द्र राज्य सम्बन्धों के परिपेक्ष्य में एक शोध अध्ययन)"** in partial fulfillment of the requirement for the award of the Degree of Doctor of Philosophy, carried under the supervision of Professor/**Dr. Phool Singh Gurjar** and submitted to the University of Kota, Kota represents my ideas in my own words and where others ideas or words have been included. I have adequately cited and referenced the original sources. The work presented in this thesis has not been submitted elsewhere for the award of any other degree or diploma from any Institutions.

I also declare that I have adhered to all principles of academic honesty and integrity and have not misrepresented or fabricated or falsified any idea/data/fact/source in my submission. I understand that any violation of the above will cause for disciplinary action by the University and can also evoke penal action from the sources which have thus not been properly cited or from whom proper permission has not been taken when needed.

Date – (Rajesh Kumar Chouhan)
Place – Research Scholar

This is to certify that the above statement made by Rajesh Kumar Chouhan, Registration No RS/784/16 is correct to the best of my knowledge.

Date – (Dr. Phool Singh Gurjar)
Place – Research Supervisor

ANTI-PLAGIARISM CERTIFICATE

It is certified that Thesis Titled **"भारत की संघीय व्यवस्था में राज्यों की स्वायत्तता (केन्द्र राज्य सम्बन्धों के परिपेक्ष्य में एक शोध अध्ययन)"** by Rajesh Kumar Chouhan has been examined by us with the following anit-plagiarism tool. We undertake the follows:

a. Thesis has significant new work/knowledge as compared already publish or are under consideration to be published elsewhere. No sentence, equation, diagram, table, paragraph or section has been copied verbatim from previous work unless it is placed under quotation marks and duly referenced.

b. The work presented is original and own work of the author (i.e. there is no plagiarism). No ideas, processes, results or words of others have been presented as author's own work.

c. There is no fabrication of data or results which have been compiled and analyzed.

d. There is no falsification by manipulating research materials, equipment or processes, or changing or omitting data or results such that the research is not accurately represented in the research record.

e. The thesis has been checked using URKUND software and found within limits as per HEC plagiarism Policy and instructions issued from time to time.

Rajesh Kumar Chouhan
(Research Scholar)

Place:

Date _____

Dr. Phool Singh Gurjar
(Research Supervisor)

Place:

Date _____

प्राक्कथन
(Preface)

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का शीर्षक – भारत की संघीय व्यवस्था में राज्यों की स्वायत्ता (केन्द्र राज्य सम्बन्धों के परिपेक्ष्य में एक शोध अध्ययन)। इस संबधं में आगे बढ़ते हैं तो स्पष्ट होता है कि भारतीय संविधान द्वारा भारत के लिए संघीय शासन की स्थापना की गई है, परन्तु इसके अन्तर्गत संघीय शासन व्यवस्था के लिए सामान्य रूप से प्रयोग किये जाने वाले शब्द संघ–राज्य (Federation) का प्रयोग न किया जाकर यूनियन (Union) शब्द का प्रयोग किया गया है। संविधान के पहले ही अनुच्छेद में यह कहा गया है कि भारत 'राज्यों का एक संघ' होगा। यहाँ संघ शब्द का प्रयोग एक सुविचारित आधार पर किया गया दिखाई देता है। वह आधार यह विचार है कि भारतीय संघ की स्थापना किन्हीं स्वतन्त्र राज्यों के बीच किसी समझौते के आधार पर नहीं हुई है, वरन् उसकी स्थापना पहले से चली आ रही एक राष्ट्रीय इकाई की उन विविध इकाईयों की एकता से हुई है, जिन्हें यद्यपि निर्धारित क्षेत्र में स्वायत्तता प्राप्त है तथापि वे संघ की अपृथक्करणीय इकाईयाँ है। इसीलिए भारत को राज्यों का एक अक्षुण्ण संघ कहा गया है। (India & An indestrictible union of states) ये प्रश्न या जिज्ञासा स्वाभाविक है कि 'फेडरेशन' शब्द को छोड़कर 'यूनियन' शब्द का प्रयोग क्यों किया गया। शायद इसका कारण यह है कि भारतीय संघ का निर्माण केन्द्रोन्मुखी शक्तियों द्वारा किया गया (Centripetal Forces)।

इस प्रकार यह संघ राज्यों के मध्य किसी समझौते का परिणाम नहीं है। इसे राज्यों पर ऊपर से थोंप दिया गया माना गया है। इस बात को स्पष्ट करते हुए संविधान की प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने यही स्वीकार किया था कि प्रारूप समिति के द्वारा इस शब्द का प्रयोग यह स्पष्ट करने के लिए किया गया है कि भारत यद्यपि एक संघ राज्य है तथापि वह संघ राज्यों के किसी समझौते का परिणाम नहीं है तथा संघ राज्य समझौते का परिणाम न होने के कारण किसी भी राज्य को संघ से अलग होने का अधिकार नहीं है। इसी आधार पर यह कहा गया है कि संविधान द्वारा राज्यों के एक अविनाशी संघ की स्थापना की गई है।

इसी संदर्भ में भारत में स्वयत्ता की समस्याओं को समझने का प्रयास किया है। चाहे कोई भी स्थिति रही हो, इतना अवश्य है कि भारत में संसदीय लोकतंत्र के साथ–साथ संघात्मक स्वरूप को भी स्वीकार किया गया है। चाहे यह अमेरिका जैसा आदर्श संघ न हो, चाहे ये आरोप लगाए जाए कि इसमें संघ शासन की पूरी विशेषताएँ नहीं है। यह अर्द्ध

संघात्मक है या संघात्मक होते हुए भी इसकी आत्मा एकात्मक है। फिर भी यह स्पष्ट है कि यहाँ दोहरी शासन व्यवस्था को अपनाया गया है और शक्तियों का बँटवारा भी किया गया है। अतः इसमें केन्द्र–राज्य सम्बन्धों की व्यवस्था और प्रक्रिया अवश्य अन्तर्निहित है। चूंकि यह केन्द्रोन्मुखी संघ है, राज्यों के साथ ही केन्द्र प्रशासित प्रदेशों का अस्तित्व भी यहाँ है।

अतः निरन्तर कुछ इस तरह के प्रश्न पैदा होते रहे है कि क्या भारत में राज्य अन्य संघों की तरह स्वतन्त्र है? क्या उनकी स्थिति नगरपालिकाओं' जैसी तो नहीं हो गई? क्या एकदलीय वर्चस्व के पतन के साथ केन्द्र–राज्य संबंधों में परिवर्तन आया है? किन कारणों से राज्य की भूमिका घटती–बढ़ती रही है। यदि ये सब प्रश्न है तो वर्तमान वास्तविक स्वरूप क्या है? इन्हीं सब प्रश्नों से उद्धेलित होकर और केन्द्र–राज्य सम्बन्धों के वास्तविक स्वरूप की खोजबीन, जाँच–परख करने के लिए ही मैंने अपने लघु शोध के लिए यह विषय चुना।

अतः इसे गम्भीरता से समझने और इसके अध्ययन और विश्लेषण के लिए मैंने अपने निर्धारित शोध विषय को पाँच अध्यायों में वर्गीकृत किया। प्रथम अध्याय– केन्द्र राज्य सम्बन्धों को लेकर भारतीय संविधान के भाग 11, 12 व 13 की व्यवस्थाओं से संबंधित है, जिसमें केन्द्र और राज्यों के मध्य विधायी, प्रशासनिक, वित्तीय व न्यायिक सम्बन्धों का विश्लेषण और आंकलन किया गया है। द्वितीय अध्याय केन्द्र राज्यों के मध्य उठने वाले विवादों से सम्बन्धित है, जिसका केन्द्र और राज्यों के मध्य तनाव के क्षेत्र नामकरण करके अध्ययन किया गया है और इस दृष्टि से तनाव के अनेक क्षेत्रों व बिन्दुओं की पहचान की गई है।

चूँकि भारतीय शासन और राजनीति की बदलती परिस्थितियों और उतार–चढ़ाव के मध्य अनेक बार ये सम्बन्ध अपनी कटुता के चर्म पर पहुँच गए। अतः दोनों के परस्पर सम्बन्धों को संचालित करने के लिए प्रयत्न और प्रयासों के क्रम में विभिन्न समितियों व आयोगों का गठन किया गया, जिनमें सरकारिया आयोग विशेष महत्वपूर्ण माना गया। अतः तीसरे अध्याय में इन्हीं समितियों और आयोगों का और उनकी सिफारिशों का उल्लेख किया गया है, ताकि सामान्य पाठक और अध्येत्ता भी उन मानदण्डों से परिचित हो सके। यह तृतीय अध्याय की विषय वस्तु है।

भारतीय राजनीति में 1967 के बाद एकदलीय वर्चस्व का राज्य राजनीति में पतन हो गया और बाद में केन्द्र में भी ऐसी स्थिति बनी कि किसी राष्ट्रीय दल का स्पष्ट बहुमत

नहीं रहा। ऐसी सूरत में राज्यों की केन्द्र के प्रति जो वफादारी और निष्ठा थी, उसमें बदलाव आया और उनके व्यवहार में नवीन प्रवृत्तियाँ दिखाई देने लगी। चतुर्थ अध्याय में उन्हीं प्रवृत्तियों को चिन्हित करने का प्रयास किया गया है।

पंचम अध्याय स्वायत्ता के विभिन्न पहलुओं को लेकर है। षष्टम अध्याय केन्द्र राज्य सम्बन्धों में उभरती प्रवृतियों का उल्लेख है। सप्तमः इस लघु शोध का अन्तिम अध्याय एक तरह से इसका निष्कर्ष है। अर्थात् इस अध्ययन और विश्लेषण से जो निचोड़ सामने आया है, उसे अभिव्यक्त किया गया है। यह ध्यान में रखते हुए कि जब केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में निरन्तर तनाव रहा है,तो इनके संबंधों को लेकर सारभूत वाले या सम्बन्धों का सारांश हर प्रबुद्ध भारतीय नागरिक तथा भारतीय राजनीति व राजनीतिक व्यवस्था के अध्येता के लिए जानना अति आवश्यक है। ताकि वे जान सके, स्वायत्ता के कारण जो समस्याएं उनसे निजात कैसे पाया जा सकता है तथा राज्यों समानता व संतुलन कैसे पाया जा सकता है।

इस शोध कार्य के दौरान विभिन्न अध्ययन पद्धतियों का सहारा भी लिया गया, जिसमें ऐतिहासिक पद्धति और विश्लेषणात्मक पद्धति अधिक महत्वपूर्ण रही, क्योंकि 1950 में भारतीय संविधान के लागू होने के समय से लेकर केन्द्र–राज्य सम्बन्धों का ऐतिहासिक विश्लेषण जानना आवश्यक रहा और इस दौरान दोनों के सम्बन्धों को लेकर जो घटनाएँ घटी और केन्द्र व राज्यों का जो व्यवहार रहा, उसका विश्लेषण अर्थात् ऐसा विश्लेषण, जिसके आधार पर कुछ निष्कर्षों पर पहँचा जा सके, करना आवश्यक था।

अतः राजनीतिक विश्लेषण की जो भी विधियाँ और पद्धतियाँ हो सकती है, उन सबका सहारा लिया गया। तुलनात्मक पद्धति का भी सहारा लिया गया, क्योंकि विभिन्न कालों में केन्द्र–राज्य संबंधों का अध्ययन करते समय विभिन्न कालों की स्थितियों की विशेषताओं को समझने के लिए तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक था। इसके साथ ही आधुनिक शोध विधि विज्ञान की जो अन्य पद्धतियाँ हो सकती है, सीमित मात्रा में उनका भी उपयोग किया गया और इस प्रकार यह सम्पूर्ण अध्ययन अनुभवमूलक ही माना जा सकता है। चूंकि केन्द्र–राज्यों के आपसी व्यवहार के लिए कुछ आदर्श निश्चित करने का उद्देश्य भी रहा। अतः थोड़ा आदर्शात्मक प्रणाली का पुट भी इसमें है।

अतः निःसंकोच यह कहा जा सकता है कि यह अध्ययन विभिन्न अध्ययन पद्धतियों के मिश्रण का सहारा लेते हुए अपनी मंजिल तक पहुँचा है।

इस अध्ययन के दौरान जो अध्ययन सामग्री एकत्रित की गई, उसमें प्रमुख रूप से भारतीय संविधान और केन्द्र–राज्य संबंधों की व्यवस्था और प्रक्रिया से सम्बन्धित संभव उपलब्ध पुस्तकों का अध्ययन किया गया। साथ ही विभिन्न समितियों, आयोगों की और इसी प्रकार के अन्य प्रस्तावों का भी अध्ययन किया गया तथा समय–समय पर केन्द्र–राज्य सम्बन्धों को लेकर समसामयिक विश्लेषण करने वाली पत्रिकाएँ, जनरल आदि तथा समाचार पत्रों का भी उपयोग किया गया।

इस तरह प्राथमिक और द्वितीयक दोनों ही प्रकार के स्रोतों का सहयोग लेकर प्रस्तुत लघु शोध सम्पन्न किया गया। लघु शोध के विभिन्न अध्यायों में भावी अध्येत्ताओं की सुविधा के लिए एक ग्रन्थ सूची भी प्रस्तुत की गई है, जो इस विषय पर और व्यापक जानकारी के लिए उपयोगी है, जिससे कोई भी भावी शोधकर्ता लाभ उठा सकता है।

आभार

प्रस्तुत शोध के सम्पन्न होने के लिए सबसे पहले मैं ईश्वर का शुक्र अदा करता हूँ कि मैं ये कार्य सम्पन्न कर पाया।

यह शोध अध्ययन मैंने अपने शोध निर्देशक एवं परम्पूज्य गुरूवर डॉ० फूल सिंह गुर्जर, सह आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, राजकीय महाविद्यालय, झालावाड़ (राजस्थान) के प्रति हृदय से आभारी व पूर्ण कृत्तज्ञ हूँ जिन्होनें स्नेहपूर्वक एवं अपनत्व भाव से पूर्ण दिशा–निर्देश देते हुए उचित मार्गदर्शन किया। उन्होनें न केवल शोध हेतु उचित मार्गदर्शन दिया अपितु मेरे शैक्षणिक स्तर के साथ व्यक्तितव के विकास में भी पूर्ण सहयोग प्रदान किया। उनसे प्राप्त हुई प्रेरणा एवं सहयोग के लिए मैं सदैव उनका हृदय से आभारी रहूँगा। गुरूदेव के सतत् सक्रिय और सर्वदा सुलभ निर्देशन के बिना इस शोध प्रबंध को पूर्ण करना संभव नहीं था। इसके साथ ही मैं शोध पर्यवेक्षक की धर्म पत्नी श्रीमती सज्जन पोसवाल, सह आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, राजकीय महाविद्यालय, झालावाड को भी हृदय से धन्यवाद देना चाहता हूँ जिन्होनें पर्यवेक्षक महोदय द्वारा मुझे दिये जाने वाले उपयोगी समय में निरन्तर सहर्ष सहयोग दिया।

मैं राजकीय महाविद्यालय, बून्दी के प्राचार्य डॉ० पियुष कुमार सालोदिया के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ जिन्होनें अपने अमूल्य समय में से मुझे समय देते हुए मेरे शोध कार्य को सम्पन्न करवाने हेतु सहयोग प्रदान किया।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने में कोटा विश्वविद्यालय, राजकीय महाविद्यालय झालावाड़, कोटा खुला विश्वविद्यालय, राजस्थान विश्वविद्यालय के पुस्कालयों के कर्मचारियों व प्रभारियों के प्रति भी अपना आभार प्रकट करता हूँ।

इसके अलावा मैं डॉ० धनसिंह यादव (डी.एस. यादव) जी, पूर्व प्राचार्य एवं विभागाध्यक्ष राजनीति विज्ञान विभाग, राजकीय महाविद्यालय, कोटा के प्रति भी अपना आभार प्रकट करता हूँ। जिन्होनें समय–समय पर मुझे अपने ज्ञान के सरोवर मे से शोध हेतु मदद की।

मैं अपने परम्पूजनीय पिताजी श्री मोडूलाल एवं अपनी माता श्रीमती शुशिला देवी व साथ ही बड़े भ्राता श्री दिनेश कुमार चौहान के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिनकी प्रेरणा व सहयोग से यह कार्य पूर्ण हो सका है।

मैं अपने पूजनीय ससुर श्री नानुराम नागरवाल व पूजनीय सास श्रीमती लक्ष्मी देवी के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होनें मुझे पारिवारिक जिम्मेदारियों से स्वतंत्र रखते हुए इस शोध कार्य को सम्पादित करने में सदैव सहयोग प्रदान किया एवं मैं अपनी पत्नी श्रीमती आशा चौहान का भी हृदय से आभार प्रकट करता हूँ जिन्होनें मुझे इस शोध अध्ययन को यथासमय पूर्ण करने में धैर्य से और रचनात्मक सुझाव व मार्ग–दर्शन प्रदान किया। उनके सहयोग व प्रोत्साहन से यह कार्य सम्पन्न हो सका।

इसके अलावा मैं डॉ० सोभागमल मीणा, डॉ० संदीप यादव, डॉ० रघुराज परिहार, डॉ० सुनील मीणा, श्री मनोज टटवाल, डॉ० आशिष जोरासिया एवं श्री आर०एस० मीणा (पुस्तकालय अध्यक्ष) का भी आभार प्रकृट करता हूँ जिन्होनें अपने अनुभव साझा करते हुए मुझे शोध कार्य हेतु प्रोत्साहन दिया।

इसके अतिरिक्त मैं अपने परम मित्र श्री नवाब अली अंसारी (केकड़ी) का भी आभारी हूँ कि उन्होनें समय–समय पर इस शोध कार्य में मुझे सहयोग प्रदान किया एवं कम्प्यूटर टाईपिस्ट श्री मोहम्मद अजहर (गौड़ कम्प्यूटर एण्ड प्रिन्टर्स, सरस्वती कॉलोनी, बांरा रोड़, कोटा) का भी आभारी हूँ जिन्होनें शुद्ध व शीघ्र टंकण के माध्यम से मेरे शोध कार्य को पूर्ण करवाते हुए सहयोग प्रदान किया।

शोधार्थी

राजेश कुमार चौहान

अध्याय विन्यास
(Chapterization)

अध्याय क्रमांक	शीर्षक	पृष्ठ संख्या
प्रथम	प्रस्तावना	1-25
द्वितीय	राज्य स्वायत्तता विषय पर साहित्यक सर्वेक्षण	26-43
तृतीय	भारतीय संघीय व्यवस्था : संघ व राज्यों का सम्बन्ध एवं स्वायत्तता का प्रश्न	44-71
चतुर्थ	भारत में संविधान की प्रकृति और उसमें राज्यों की स्थिति	72-90
पंचम	भारत में संघ व्यवस्था एवं राज्य स्वायत्तता के नवीन पहलू	91-111
षष्ठम	भारत में केन्द्र राज्यों के मध्य तनाव तथा खिंचाव तथा राज्यों में नए रूप से उभरती स्वायत्तता की मांग	112-132
सप्तम्	उपसंहार	133-153
	सारांश	154-177
	संदर्भ ग्रन्थ सूची	178-186
	प्रकाशित शोध पत्र	
	शोध प्रमाण पत्र	
परिशिष्ट – 1	केन्द्र–राज्य सम्बन्धों पर प्रशासनिक सुधार आयोग का प्रतिवेदन	
परिशिष्ट – 2	केन्द्र–राज्य सम्बन्धों पर राजमन्नार समिति प्रतिवेदन	
परिशिष्ट – 3	भारतीय संविधान की सूची	

अध्याय – प्रथम

प्रस्तावना

भारतीय संविधान के प्रथम अनुच्छेद में ही स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि भारत का संघीय ढांचा अमिट संघ का है। इसमें राज्य रूपी इकाइयों या प्रदेशों को मजबूत केन्द्र सरकार के अधीन कार्य करना होता है। संविधान की सातवीं सूची के अन्तर्गत राज्य सूची पर राज्यों को कानून बनाने का अधिकार है। अतः भारतीय संदर्भ में राज्यों की स्वायत्तता का अर्थ इन अधिकारों में वृद्धि करना है अर्थात यथासंभव वृद्धि करना या इनको वास्तविक बनाना है।

भारत में संविधान लागू होने के बाद राजनीतिक दलों की स्थिति जिस तरह परिवर्तित होती है उससे केन्द्र राज्य सम्बन्ध प्रभावित होते हैं। अनेक बार तो यह होता है कि कुछ राज्य केन्द्र की जकड़न ज्यादा ही महसूस करते हैं तथा अधिक स्वायत्तता की मांग करते हैं या अपने अधिकार क्षेत्र के विषयों पर कानून बनाने व अपनी नीतियों को लागू करने के लिए अधिक स्वतंत्रता चाहते हैं चूंकि राज्यों को स्वतंत्र करने का प्रावधान नहीं है। इसलिए स्वायत्ता की मांग करते हैं ऐसी स्थिति में यदि संघ सरकार सही दृष्टिकोण नहीं अपना पाती तो केन्द्र राज्यों के मध्य तनाव बढ़ता है और अधिक स्वायत्तता की मांग बढ़ती है क्योंकि राज्य केन्द्र पर निर्भरता से छुटकारा पाना चाहते हैं ताकि वे अपने बल पर ही राज्य कल्याण के लिए अधिक कार्य कर सकें। इसी सोच के आधार पर राज्य स्वायत्तता को समझने व समझाने तथा उसकी वास्तविक स्थिति को चिन्हित करने का प्रयास प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में किया गया है।

शोध के उद्देश्य

(i) भारत की संघीय व्यवस्था में राज्यों की स्वायत्तता के संबंध में विस्तृत अध्ययन किया जाना।

(ii) राज्य की स्वायत्तता का अवधारणात्मक पहलू एवं समस्याओं का एक विषय के रूप में अध्ययन किया जाना।

(iii) संघीय व्यवस्था के ढ़ाचें में राज्यों की स्थिति का सवैंधानिक व कानूनी परिप्रेक्षय में अध्ययन करना।

(iv) भारतीय संविधान के अन्तर्गत केन्द्र व राज्यों के मध्य विधायी, प्रशासनिक व विभिन्न सम्बन्धों का भी अध्ययन इनके अन्तर्गत करना।

(v) केन्द्र सरकार द्वारा राज्यों पर नियंत्रण का विस्तृत अध्ययन कर उनके मध्य सम्बन्धों का अध्ययन करना।

(vi) भारत में भाषा क्षेत्रवाद के आधार पर उठायी जा रही पृथक राज्यों की माँग का अध्ययन करना।

(vii) केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में उभरती हुई प्रवर्तियों एवं उनकी स्वायत्तता का अध्ययन किया जाना है।

(viii) संविधान में केन्द्र व राज्यों के मध्य सम्बन्धों के उन बिन्दुओं का प्रकाश डालना जिनसे केन्द्र व राज्यों के मध्य विवाद की स्थिति उत्पन्न होती है।

(ix) केन्द्र व राज्यों के मध्य ऐतिहासिक सम्बन्धों का अध्ययन करना।

(x) राज्यों की स्वयत्तता के संदर्भ में अन्य देशों के केन्द्र व राज्यों के मध्य सम्बन्धों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए भारत के संदर्भ में उनका अध्ययन करना।

(xi) वर्तमान प्ररिप्रेक्षय में राज्यों को अधिक से अधिक स्वायत्तता प्राप्त हो इस हेतु सुझाव देना।

(xii) केन्द्र व राज्यों द्वारा लोक कल्याणकारी योजनाओं का लाभ अधिक से अधिक जनता तक पहुँचे। इस हेतु अपनी–अपनी स्वायत्तता की माँग करते है ताकि जनता को उत्तरदायी शासन प्राप्त हो सके।

(xiii) केन्द्र राज्य सम्बन्धों की व्यवहारिक स्थिति को समझना।

(xiv) यह जानना की स्वायत्तता का मुद्दा किसी तरह केन्द्र और राज्य सम्बन्धों में तनाव पैदा करता है?

(xv) क्या स्वायत्तता के चलते नये राज्यों की स्थापना की मांग को स्वीकार कर छोटे–छोटे राज्यों की स्थापना कर, संघ में राज्यों की संख्या बढ़ाना उचित होगा? इसकी पुष्टि पर विचार करना आदि।

राज्यों की स्वायत्तता का दृष्टिकोण

भारत में केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों का वितरण आरम्भ से ही वाद–विवाद का विषय रहा है। संविधान निर्मात्री सभा में भी अनेक सदस्यों की ओर से यह आपत्ति उठायी गयी थी कि शक्ति विभाजन की यह योजना भारतीय संघ की इकाई राज्यों को 'नगरपालिकाओं का स्थान प्रदान करती है। संविधान लागू होने के बाद भी भारतीय संविधान की संघीयता को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता रहा है और राज्य सरकारों की सीमित शक्तियों को दृष्टि में रखते हुए कुछ संविधानशास्त्री उसे एक संघीय संविधान स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं।

संविधान द्वारा केन्द्र सरकार को विस्तृत शक्तियाँ प्रदान की गई हैं और राज्यों को निःसन्देह कम शक्तिशाली बनाया गया है। संविधान लागू होने के बाद से सन् 1967 के चतुर्थ आम चुनाव तक भारत में केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहे और उनके बीच कोई विशेष संविधानिक गतिरोध उत्पन्न नहीं हुआ जिसका मूल कारण केन्द्र और अधिकांश राज्यों में एक ही राजनीतिक दल (कांग्रेस दल) का सत्तारूढ़ होना था। सन् 1969 के आम चुनावों ने एक दलीय आधिपत्य का अन्त कर दिया। भारतीय संघ के आठ घटक राज्यों में कांग्रेस दल को बहुमत प्राप्त न हो सका; फलस्वरूप इन राज्यों में गैर–कांग्रेसी मिश्रित सरकारों का निर्माण हुआ। केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों के वितरण और सामंजस्य की समस्या उत्पन्न हुई। राज्य सरकारों की ओर से स्वायत्तता की माँग की गयी और यह माँग तमिलनाडु में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी जहाँ द्रविड़ मुनेत्र कडगम् (डी. एम. के.) जैसे प्रादेशिक दल ने भारतीय संघ से पृथक् होने तक की धमकी दी और यह नारा दिया कि 'भारत भारत वालों के लिए और तमिलनाडु तमिल लोगों के लिए।

मार्च 1977 के लोकसभा एवं जून 1977 के राज्य विधानसभाओं के चुनावों का विलक्षण परिणाम रहा है– केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टी से भिन्नता रखने वाली पार्टियों का राज्यों में उदय। फलस्वरूप केन्द्र–राज्य सम्बन्ध पर नये सिरे सेबहस महत्वपूर्ण हो गयी। राज्यों में शासन करने वाली पार्टियाँ केन्द्र से और अधिक स्वायत्तता की माँग करने लगीं। राज्यों की केन्द्र पर अत्यधिक वित्तीय निर्भरता की स्थिति ने एक बड़ी सीमा तक सत्ता के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को बढ़ाया, अतः केन्द्र पर राज्यों की वित्तीय निर्भरता दूर करने के लिए पश्चिम बंगाल की वामपंथी सरकार ने माँग की कि केन्द्र के राजनीतिक और आर्थिक अधिकारों में कमी करके राज्यों को अधिक से अधिक स्वायत्तता प्रदान की जाये।

राज्यों की स्वायत्तता :

अर्थ भारतीय संघ में राज्यों की स्वायत्तता से अभिप्राय है कि राज्यों के आन्तरिक मामलों में केन्द्रीय सरकार की दखलन्दाजी कम हो तथा संविधान द्वारा प्रदत्त विषयों पर उन्हें निरपेक्ष सत्ता के प्रयोग करने का अधिकार हो। राज्यों को अपने कार्यक्षेत्र में पूर्ण स्वायत्त बनाया जाये ताकि वे जनकल्याण के कार्यों को अपनी योजनाओं और विचारों के अनुसार स्वतन्त्र और निर्बाध रूप से कर सके। यह स्वायत्तता वित्तीय क्षेत्र में लगभग पूरी हो। केन्द्र की राजनीतिक और प्रशासनिक शक्तियाँ भी न्यूनतम रहें। उसका कार्य विदेश सम्बन्ध, रक्षा, मुद्रा और जनसंचार : विषयों तक सीमित और संकुचित कर दिया जाये। उसकी कराधान की शक्ति मात्र इतनी हो जिससे वह इन कार्यों के लिए पर्याप्त साधन जुटा सकने में समर्थ हों। केन्द्र को मजबूत रखते हुए भी राज्यों को इतनी वित्तीय शक्ति प्रदान की जाये जिससे वे साधनों के अभाव में अपने को असहाय और अप्रभावशाली महसूस न करें।

राज्यों की स्वायत्तता का अर्थ न तो राज्यों की स्वतन्त्रता से है और न सम्प्रभुता से। एक ऐसा वैधानिक दर्जा है जिसमें राज्यों को कतिपय निर्दिष्ट क्षेत्रों में पूर्ण स्वतन्त्रता तथा कम से कम केन्द्रीय हस्तक्षेप का आश्वासन प्राप्त होता है। राज्यों को अपने एक निश्चित क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने का अधिकार ही स्वायत्तता है।[1]

कर्णाटक के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री देवराज अर्स के शब्दों में, "आज की संघीय सरकार अपने कमजोर राजनैतिक चरित्र के कारण बड़े भागीदार की भूमिका निभाने में असमर्थ है। जिन परिस्थितियों के कारण संविधान निर्माताओं ने एकात्मकता की ओर झुकाव रखा था, अब वह परिस्थितियाँ बदल चुकी है। संविधान में संशोधन करके केन्द्र और राज्यों को संघवादी ढांचे में समान और स्वायत्त भागीदार' बनाया जाना चाहिए। इसीसे भारतीय संघ व्यवस्था प्रभावशाली ढंग से काम कर सकेगी।''[1] 11 फरवरी, 1978 को जम्मू–काश्मीर के मुख्यमन्त्री शेख अब्दुल्ला ने कलकत्ता में कश्मीर मेले का उद्घाटन करते हुए इस बात की माँग की कि तीस वर्ष पूर्व की परिस्थितियाँ अब नहीं रही हैं। अतः अब राज्यों को अधिकअधिकार दिये जाने चाहिए, जिससे वे अपना विकास कर सके.:.....:केन्द्र तथा राज्यों के समस्त सम्बन्धों पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए।'

राज्य स्वायत्तता की माँग कैसी और किस तरफ से?

भारत में मार्क्सवादी साम्यवादी दल, अकाली दल, नेशनल कान्फ्रेन्स तथा अखिल भारतीय द्रविड़ मुनेत्र कड़गम और अन्ना द्रविडमुनेत्र कडगम दलों द्वारा शासित राज्यों ने समय–समय पर केन्द्रीय सरकार के अधिकारों में कटौती करके राज्य सरकारों के अधिकारों में वृद्धि किये जाने की माँग की है। जनता पार्टी के शासन काल में गैर–जनता पार्टी के मुख्यमन्त्रियों जैसे ज्योति बसु, प्रकाश सिंह बादल, शेख अब्दुल्ला, एम. जी. रामचन्द्रन, देवराज अर्स आदि ने माँग की कि केन्द्र व राज्यों के सम्बन्धों में सन्तुलन की स्थिति होनी चाहिए और केन्द्र के पास कुछ अधिकारों को छोड़कर शेष सभी अधिकार राज्यों के पास होने चाहिए। अर्थात् राज्यों को स्वायत्तशासी निकाय बनाया जाये।[2]

पश्चिम बंगाल की मार्क्सवादी सरकार स्वायत्तता की माँग का बिगुल बजाने में अगुआ बनी हुई है। इसी उद्देश्य से वहाँ की सरकार ने एक विस्तृत मसविदा (Memorandum) तैयार किया और इस मसविदे को पश्चिम बंगाल के मन्त्रिमण्डल ने स्वीकृत कर अन्य राज्य सरकारों तथा केन्द्र की तात्कालिक मोरारजी देसाई सरकार को भेजा। राज्यों की स्वायत्तता के सन्दर्भ में पश्चिम बंगाल के मुख्यमन्त्री ज्योति बसु ने तात्कालिक प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई से भी बातचीत की और सुझाव दिया कि सभी मुख्यमन्त्रियों का सम्मेलन बुलाया जाये तथा इस पर राष्ट्रीय बहस चलाने हेतु वातावरण बनाया जाये।

राज्यों की स्वायत्तता के सन्दर्भ में प्रस्तुत मसविदे में निम्नलिखित सुझाव महत्वपूर्ण हैं : (1) भारतीय संघ को 'राज्यों का परिसंघ' घोषित किया जाए। (2) राज्य विधानसभाएँ जो कानून पास करेंगी उनमें किसी प्रकार की केन्द्रीय अनुमति की आवश्यकता नहीं हो। (3) राज्यों में कभी भी राष्ट्रपति शासन लागू न किया जाय। संविधान के अनुच्छेद 356 और 357 को जिसके तहत् भारतीय संघ के राष्ट्रपति को राज्यों की विधानसभाओं को भंग करने के अधिकार प्राप्त हैं, समाप्त किया जाय। (4) लोकसभा के समान राज्यसभा का निर्वाचन प्रत्यक्ष कराया जाये और तीस लाख से अधिक आबादी वाले राज्यों को राज्य सभा में समान प्रतिनिधित्व देना होगा। (5) कुल राष्ट्रीय राजस्व का 75 प्रतिशत भाग राज्य सरकारों को व्यय हेतु प्रदान किया जाय। (6) राज्य के सभी कर्मचारी राज्य सरकार के अधीन होंगे। राज्यों में आई. ए. एस. (भारतीय प्रशासनिक सेवा) तथा आई. पी. एस. (भारतीय पुलिस सेवा) अधिकारी न हों और इन पदों को समाप्त किया जाए अथवा आई. ए. एस., आई. पी. एस. व सी. आर. पी. (केन्द्रीय आरक्षी दल) जैसी सेवाओं को राज्य के आधीन किया जाये।

(7) राज्यों मेंस्वशासन के अधिकार के संरक्षण के लिए संविधान के अनुच्छेद 248 में इस प्रकार संशोधन किया जाये जिससे किसी भी महत्वपूर्ण विषय पर कानूनन राज्य विधानसभाओं का पूर्ण अधिकार बना रहे। (8) संविधान के अनुच्छेद 249 को रद्द किया जाना चाहिए। (9) नीति आयोग की कार्यप्रणाली में भी फेरबदल किया जाना चाहिए। (10) संविधान के अनुच्छेद 280(क) को खत्म करना चाहिए। (11) राज्यों को कर लगाने और वसूलने का अधिकार पूर्ण रूप से मिलना चाहिए। (12) संविधान के अनुच्छेद 280 की धारा 2 और 7 को समाप्त करना चाहिए। (13) केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के वाणिज्य सम्बन्धित संविधान के अनुच्छेद 302 में निहित अधिकारों को खत्म करना चाहिए। (14) संविधान के अनुच्छेद 200 तथा 201 को भी खत्म किया जाये। (15) राज्य की क्षमतानुसार राज्य विधानसभाओं को केन्द्र के समकक्ष सार्वभौम क्षमता मिलनी चाहिए।[3]

पश्चिम बंगाल के मार्क्सवादी वित्तमन्त्री अशोक मित्र ने आर्थिक स्वायत्तता के समर्थन में जोरदार तर्क पेश किए। उन्होंने कहा कि केन्द्र को सभी प्रत्यक्ष करों और अधिकांश अप्रत्यक्ष करों के नियन्त्रण का अधिकार है। केन्द्र के पास विदेशी मुद्रा को सुरक्षित कोष भी है जिससे वह अपने घाटे की वित्त व्यवस्था को कम कर सकता है जबकि यह विदेशी मुद्रा राज्यों द्वारा पैदा की जाती है। उन्होंने यह भी कहा कि जनता पार्टी के नये कार्यक्रम में ग्रामीण विकास पर जोर दिया गया है जो राज्यों द्वारा कार्यान्वित होगा। यदि राज्यों को अधिक वित्तीय शक्तियाँ नहीं दी गयीं तो उन्हें अधिक उत्तरदायित्व देने का कोई लाभ नहीं होगा।[4]

राज्य स्वायत्तता के दूसरे प्रमुख समर्थक हैं जम्मू–काश्मीर राज्य के मुख्यमन्त्री शेख अब्दुल्ला, जिन्होंने दिल्ली में आयोजित एक संवाददाता सम्मेलन में कहा कि 'भारतीय संविधान की धारा 370 को सभी राज्यों पर लागू किया जाय और राज्यों को अधिक से अधिक अधिकार दिये जाएँ, ताकि राज्य सरकारें समस्याओं से निपट सकने में सक्षम हों।'[5] पंजाब के भूतपूर्व अकाली मुख्यमन्त्री प्रकाशसिंह बादल के अभिमत में, 'केन्द्र की सुदृढ़ता राज्यों की सुदृढ़ता पर निर्भर करती है। अकाली दल ने अपने चुनाव घोषणापत्र में भी राज्यों की अधिक स्वायत्तता का समर्थन इस आधार पर किया था कि राज्य ही लोक कल्याण एवं सामाजिक विकास की योजनाओं को क्रियान्वित करने वाले निकाय हैं, अतः उन्हें स्वायत्त बनाया जाना चाहिए।[6]

शिरोमणि अकाली दल की कार्य समिति द्वारा अक्तूबर 1973 में श्री आनन्दपुर साहिब में अनुमोदित कार्यक्रम के राजनीतिक भाग का सम्बन्ध संघात्मक व्यवस्था के

अन्तर्गत प्रादेशिक स्वायत्तता से है। इस संकल्प में राज्यों को अधिक सशक्त बनाने, विभिन्न समुदायों में सम्मिलित अस्तित्व को बनाये रखने और 'राष्ट्र की एकता व अखण्डता' को बनाये रखने को कहा गया है। शिरोमणि अकाली दलके अनुसार–(1) संविधान की प्रस्तावना में संशोधन कर 'संघीय' शब्द को स्थान दिया जाना चाहिए; (2) अवशिष्ट शक्तियाँ राज्यों को दी जानी चाहिए; (3) राज्य सभा के सदस्यों को समान प्रतिनिधित्व वाले स्वायत्त इकाइयों के रूप में राज्यों की समानता के सिद्धान्त के आधार पर चुना जाना चाहिए; (4) केवल अपरिहार्य परिस्थितियों (विदेशी आक्रमण) के समय आपात स्थिति की घोषणा की जानी चाहिए; (5) राज्यपाल केन्द्र के मात्र एजेण्ट के रूप में न बना रहे बल्कि वह वास्तव में संविधानिक रूप से राज्य का प्रमुख बने।

आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव में यहाँ तक कहा गया है कि इस नये पंजाब और अन्य राज्यों में केन्द्र का हस्तक्षेप, रक्षा, विदेशी सम्बन्धों, मुद्रा तथा सामान्य संचार साधनों तक सीमित होगा, अन्य सभी विभाग पंजाब (तथा अन्य राज्यों) के क्षेत्राधिकार में रहेगा..... ।''

तमिलनाडु की डी. एम. के. और अन्ना डी. एम. के. सरकारें भी राज्य स्वायत्तता की प्रबल समर्थक रही हैं। तमिलनाडु राज्य में फरवरी 1967 से फरवरी 1976 तक डी. एम. के. दल की सरकार पदारूढ़ रही। इसके पहले मुख्यमन्त्री अन्नादुराई ने कहा था कि "हमें संविधान निर्माताओं द्वारा निर्धारित राज्यों की स्वायत्तता के सिद्धान्त और व्यवहार को अपनाना चाहिए। संघात्मक संविधान में आदर्श केन्द्र द्वारा सिर्फ उतनी ही शक्तियाँ व्यवहार में लायी जानी चाहिए कि देश की सम्प्रभुता और एकता की रक्षा हो सके। राज्यों को संविधान की ओर से स्वायत्तता प्राप्त है और उनके साथ नगरपालिकाओं के समान व्यवहार नहीं किया जा सकता।'' द्रविड़ मुनेत्र कड़गम प्रादेशिकता तथा क्षेत्रीयता का प्रबल समर्थक रहा तथा राज्यों की स्वायत्तता का प्रचण्ड हामी। कई बार इस दल ने भारतीय संघ से पृथक् होने की आवाज बुलंद की। सन् 1970 में इस दल ने मद्रास में 'राज्य स्वायत्तता सम्मेलन आयोजित किया तथा केन्द्र की कटु आलोचना की।[7] अप्रैल 1971 में मुख्यमन्त्री करुणानिधि ने यहाँ तक कहा कि यदि उनकी राज्य स्वायत्तता की माँग स्वीकार नहीं की गयी तो वे तमिलनाडु को भारतीय संघ से विलग करने हेतु आन्दोलन करेंगे।[8] सन् 1970 में तमिलनाडु सरकार ने केन्द्र और राज्यों के अधिकार क्षेत्रों के निर्धारण हेतु मद्रास उच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश राजमन्नार की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। डॉ. राजमन्नार के अतिरिक्त लक्ष्मण स्वामी मुदालियर, डॉ. पी. चन्द रेड्डी, इस समिति के सदस्य थे।[9] राज्य स्वायत्तता के परिप्रेक्ष्य में 'राजमन्नार समिति ने निम्नलिखित सुझाव

दिये।[10]**प्रथम,** एक अन्तर्राज्यीय परिषद् (Inter-State Council) स्थापित की जाये, जिसका अध्यक्ष प्रधानमन्त्री हो तथा राज्यों के मुख्यमन्त्री या उनके नामित व्यक्ति उसके सदस्य हों। इस परिषद् से परामर्श किये बिना संसद में ऐसा कोई विधेयक प्रस्तुत न किया जाये जिससे एक या अधिक राज्य प्रभावित होते हों। प्रतिरक्षा और विदेशी सम्बन्धों के अतिरिक्त, इस परिषद् से परामर्श किये बिना ऐसा कोई निर्णय न किया जाये जिससे एक या अधिक राज्यों के हित प्रभावित होते हों। **द्वितीय,** योजना आयोग को समाप्त कर दिया जाये तथा उसके स्थान पर एक संवैधानिक निकाय स्थापित किया जाये जिसमें राज्यों को सलाह देने के लिए विज्ञान, तकनीक, कृषि और अर्थ विशेषज्ञ हों। राज्यों के अपने योजना मण्डल हों जो उन्हें परामर्श देने का कार्य करें। **तृतीय,** वित्त आयोग स्थायी आधार पर स्थापित किया जाये तथा राज्यों के पक्ष में करों का पहले से अधिक वितरण हो ताकि उन्हें केन्द्र पर कम से कम निर्भर ना रहना पड़े। **चतुर्थ,** राजमन्नार समिति ने केन्द्रीय एवं समवर्ती सूची के अनेक विषयों को राज्य सूची में स्थानान्तरित करने की सिफारिश की।**पंचम,** समिति का सुझाव था कि केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में राज्यों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व होना चाहिए।**षष्ठम,** राज्यों के उच्च न्यायालय राज्यों के क्षेत्राधिकार के सभी मामलों के लिए उच्चतम न्यायालय हों।**सप्तम,** राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति राज्य के मन्त्रिमण्डल अथवा उसी उद्देश्य से बनाई गयी किसी उच्चाधिकार निकाय के परामर्श से की जाये।**अष्टम,** राज्यों को उनके औद्योगिक विकास के लिए विदेशी मुद्रा प्रदान की जाये।**नवम,** समिति का यह भी सुझाव था कि राज्य में किसी निजी या सरकारी क्षेत्र में औद्योगिक लाइसेन्स देने का अधिकार राज्यों को होना चाहिए।

डी. एम. के. की भाँति ही अन्ना डी. एम. के. ने मार्च 1977 में सम्पन्न चुनावों के अवसर पर अपना जो घोषणा–पत्र प्रकाशित किया उसमें राज्य स्वायत्तता पर बल दिया।[11]

राज्य स्वायत्तता : समर्थन में तर्क

राज्यों की स्वायत्तता के समर्थन में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं :

प्रथम, स्वायत्तता स्वतन्त्रता नहीं है और राज्य स्वायत्तता की माँग संघीय ढाँचे के अन्तर्गत ही की जा रही है, अतः इससे विघटन का खतरा नहीं है।

द्वितीय, राज्यों के कार्य दिन–प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं। आर्थिक नियोजन और ग्रामीण विकास सम्बन्धी बढ़ते हुए कार्यों को देखते हुए उन्हें वित्तीय साधनों की दृष्टि से

केन्द्र का मोहताज बनाये रखना ठीक नहीं। आय के पृथक् वित्तीय साधन होने से विकास सम्बन्धी कार्यों एवं दायित्वों के निर्वाह में अधिक सुविधा होगी।

तृतीय, केन्द्र और राज्यों में पृथक्–पृथक् राजनैतिक दलों की सरकार होना स्वाभाविक है। किन्तु यह देखा गया है कि राज्यों को अनुदान देते समय केन्द्रीय सरकार सौतेला व्यवहार करती है। वह उन राज्यों के साथ सौम्य व्यवहार करती है जहाँ उससे मेल–जोल रखने वाली राज्य सरकार है और उन राज्यों के साथकठोर रुख अपनाती है जहाँ उसकी विचारधारा से भिन्नता रखने वाली राज्य सरकार है। राज्य स्वायत्तता से यह दोहरा मापदण्ड समाप्त होगा।

चतुर्थ, अनुदानों की प्रक्रिया एवं शैली को लेकर भी भेदभाव की शिकायत की जा रही है। जहाँ गेहूँ पर सरकार 23 रु. प्रति क्विटल का अनुदान देती है वहाँ चावल पर यह अनुदान सिर्फ 4 पैसे प्रति क्विंटल आता है। इस अनुदान का लाभ उत्तरी राज्यों को तो मिलता है जहाँ लोग गेहूँ अधिक खाते हैं मगर चावल उगाने व खाने वाले दक्षिणी राज्यों को इसका कोई फायदा नहीं मिलता। इस तरह के भेदभाव मिटाने में भी राज्यों की आर्थिक स्वायत्तता कारगर साबित हो सकती है।[12]

पंचम, राज्य स्वायत्तता से ही भारत में सच्ची संघात्मक व्यवस्था की स्थापना हो सकेगी। फिलहाल तो राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं जैसी है। राज्य सूची के विषयों में भी केन्द्रीय सरकार जब चाहे हस्तक्षेप कर सकती है और राष्ट्रपति शासन के शस्त्र द्वारा राज्यों की बहुमत वाली निर्वाचित सरकार को अपदस्थ कर सकती है। राज्य स्वायत्तता की अवधारणा के क्रियान्वयन से ही 'समानऔर स्वायत्त भागीदारी' वाली संघ व्यवस्था अस्तित्व में आयेगी।

षष्ठम, राज्य स्वायत्तता से राज्यों में उत्तरदायित्व की भावना विकसित होगी। वे अपनी आय के अधिकतम स्रोत ढूँढ़ेंगे और केन्द्र पर निर्भर रहना छोड़ देंगे। आज कई राज्य अनाप–शनाप खर्च बढ़ाते जा रहे हैं क्योंकि वे जानते हैं कि अन्त में केन्द्रीय सरकार 'ओवर ड्राफ्ट', अनुदान आदि द्वारा उनकी मदद करेगी।

राज्यों को अधिक स्वायत्तता देने का प्रश्न संघवाद की तथाकथित 'पारम्परिक धारणा पर आधारित नहीं, बल्कि, अनिवार्यतः इस तथ्य पर आधारित है कि केवल ऐसा करने से ही उस समाज में भारत की एकता और अखण्डता को ठोस आधार मिलेगा जिसने 1858 से ही उत्तरोत्तर बहुराष्ट्रिक स्वरूप ग्रहण किया है। भारत एक इतना बड़ा और

विषमजातीय देश है कि इसे अत्यन्त केन्द्रीकृत एकात्म आधार पर शासित नहीं किया जा सकता।

राज्य स्वायत्तता की अवधारणा : विपक्ष में तर्क

केन्द्रीय सरकार (चाहे कांग्रेस दल की हो अथवा जनता पार्टी की) की दृष्टि में राज्य स्वायत्तता की अवधारणा से संघ व्यवस्था दुर्बल होगी और राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से खतरनाक परिणाम होंगे। इसके विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं :

प्रथम, कुल मिलाकर देश की सुदृढ़ता ही राज्यों की स्वायत्तता की सर्वोत्तम गारण्टी है क्योंकि किसी प्रकार वह मजबूती समाप्त हो जाये तो न भारतीय संघ की प्रभुसत्ता रहेगी और न ही राज्यों की स्वायत्तता रह सकेगी। देश आर्थिक संकट और राजनीतिक उथल–पुथल से गुजर रहा है। बदली हुई परिस्थितियों में राज्य स्वायत्तता की माँग करना देश को अराजकता, विघटन तथा विनाश की ओर ले जाना है।

द्वितीय, यदि अनुच्छेद 370 को सभी राज्यों पर लागू किया जाये तो क्या स्थिति उत्पन्न होगी? चूँकि अनुच्छेद 370 के अनुसार भारतीय संसद द्वारा कोई भी कानून जम्मू–काश्मीर राज्य में मान्य नहीं होगा। स्पष्ट है कि यदि सभी राज्यों को अनुच्छेद 370 के तहत ला दिया जाए तो भारत की अखण्डता को खतरा हो सकता है। शेख अब्दुल्ला की इस माँग से कि अनुच्छेद 370 को सभी राज्यों पर लागू किया जाए, यह मन्शा स्पष्ट हो जाती है कि शेख अब्दुल्ला अनुच्छेद 340 को संविधान का स्थाई प्रावधान बनाना चाहते थे ताकि उनकी राजनैतिक दुकानदारी चलती रहे। धारा 370 को हटाकर लद्दाख और जम्मू कश्मीर को राज्य बना दिया है।

तृतीय, राजमन्नार समिति के सुझाव तो संविधान की आत्मा को ही बदल वाले खतरनाक विचार हैं। यदि समिति के प्रतिवेदन को मान लिया जाए तो राज्य लगभग स्वायत्तशासी हो जाएँगे। न्याय, योजना, विदेशी मुद्रा, औद्योगिक लाइसेन्स सब कुछ ही राज्यों के हाथों में चले जाने के बाद में क्या राज्यों की स्थिति स्वाधीन राष्ट्रों से कुछ कम होगी ? वस्तुतः समिति का प्रतिवेदन क्षेत्रीयता को बढ़ाने वाला और राष्ट्रीय एकता को क्षति पहुँचाने वाला है।[13]

चतुर्थ, आज भारतीय संघ के घटक राज्य स्वायत्तता की माँग कर रहे हैं और स्वायत्तता के बाद उनकी अगली माँग स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता हो सकती है। प्रादेशिक

दलों द्वारा शासित राज्य सरकारों की स्वायत्तता की माँग के पीछे कहीं विदेशी ताकतों का हाथ तो नहीं है जो भारत की एकता को खण्डित करना चाहती हैं।[14]

पंचम, राज्यों को और अधिक स्वायत्तता देने से राज्यों में छोटी–छोटी तानाशाहियाँ स्थापित हो जाएँगी। राज्य के भीतर निर्णय और कार्य की शक्ति मुख्यमन्त्रियों के हाथों में घनीभूत हो जाएगी, साम्राज्य निर्माण की प्रवृति बढ़ेगी और देश का सन्तुलन लड़खड़ा जायेगा।

षष्ठम, संविधान के अनुच्छेद 356 व 357 के अनुसार भारतीय संघ के राष्ट्रपति राज्यों में वित्तीय संकट उत्पन्न होने पर, वैधानिक व्यवस्था असफल होने पर व आपातकालीन स्थिति में राज्यों के राज्यपाल की सलाह पर राज्य विधान सभा को भंग करने का अधिकार रखते हैं। इन अधिकारों के अभाव में भारतीय संघ जिसे संविधान में अंगीकृत किया गया है, के स्वरूप को धक्का पहुँचेगा और वह नष्ट भी हो सकता है। इस माँग का आधार काँग्रेसी शासन के दौरान राज्य विधान सभाओं का अधिक संख्या में भंग होना कहा जा सकता है। इसके लिए वर्तमान सरकार को इस अधिकार के दुरुपयोग न होने की सुरक्षा प्रदान करनी होगी। कोरोना महामारी के चलते अनेक राज्यों ने केन्द्र से आर्थिक पेकेज की मांग की है।

सप्तम, क्षेत्रीय दलों और उनके नेताओं द्वारा राज्यों की स्वायत्तता की माँग एक सुनियोजित, गम्भीर राजनैतिक चाल है, जिसके द्वारा कुछ तत्व अपने व्यक्तिगतराजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति करना चाहते हैं। मार्क्सवादियों ने प्रारम्भ से ही राज्यों के विघटन की माँग का समर्थन किया है। इस कड़ी में तेलंगाना विद्रोह का स्मरण किया जा सकता है। कुछ समय पूर्व राज्यों के पुनर्गठन की माँग उठी थी। अब राज्यों की स्वायत्तता के माध्यम से ये लोग आम जनता में इस बात की चर्चा का विषय बनाना चाहते हैं ताकि लोकमत का झुकाव इनकी तरफ हो सके।

राज्यों पर केन्द्रीय नियन्त्रण

भारतीय संघ में राज्यों पर केन्द्रीय नियन्त्रण के प्रमुख उपकरण इस प्रकार हैं :

(i) संसद की व्यापक विधि निर्माण शक्तियाँ—संविधान द्वारा केन्द्र और राज्यों के बीच विधायी शक्तियों का बँटवारा अवश्य किया गया है, परन्तु निम्नलिखित परिस्थितियों में संसद उन विषयों पर भी कानून बना सकती है जो राज्य सूची में दिये गए हैं—(क)

यदि राज्य-सभा दो-तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पास कर दे कि राष्ट्रीय हित के लिए यह आवश्यक है कि संसद राज्य सूची में दिये गए किसी विषय पर भी कानून बनाये तो संसद उस पर कानून बना सकती है। (ख) राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल की घोषणा हो जाने पर संसद राज्य सूची में सम्मिलित विषयों पर भी कानून बना सकती है। केन्द्रीय संसद की शक्ति की व्यापकता का तीन और बातों से पता चलता है—प्रथम, यदि समवर्ती सूची में सम्मिलित किसी विषय पर संसद भी कानून बनाये और राज्य का विधानमण्डल भी तथा उन दोनों में कोई विरोध हो तो संसद द्वारा निर्मित कानून मान्य होगा। द्वितीय, अवशिष्टराज्यों की स्वायत्तता का दृष्टिकोण 283 शक्तियाँ केन्द्र को प्राप्त हैं। तृतीय, यदि राज्य विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत किसी विधेयक का सम्बन्ध निजी सम्पत्ति पर कब्जा करने अथवा उच्च न्यायालयों की शाक्तियों को कम करने से हो तो राज्यपाल के लिए यह जरूरी है कि उस विधेयक को वह राष्ट्रपति के पास उनकी स्वीकृति के लिए भेजे।

(ii) संसद किसी नवीन राज्य का निर्माण कर सकती है और किसी भी राज्य का आकार घटा या बढ़ सकती हैं—अमरीकी या आस्ट्रेलियायी संघ व्यवस्था में केन्द्रीय सरकार राज्यों की इच्छा के विरुद्ध उनकी सीमाओं में हेर–फेर नहीं कर सकती, परन्तु भारत में केन्द्रीय संसद नवीन राज्यों का निर्माण कर सकती है और राज्यों के आकार को घटा या बढ़ा सकती है। ऐसा करने के लिए संसद को राज्यों की अनुमति प्राप्त नहीं करनी पड़ती।

(iii) राज्य सभा में सभी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व नहीं—विश्व की अधिकांश संघ व्यवस्थाओं में संसद के उच्च सदन का संगठन राज्यों की समानता के सिद्धान्त के आधार पर किया गया है। समानता का सिद्धान्त इसलिए अपनाया गया जिससे केन्द्रीय संसद् पर बड़े राज्यों का आधिपत्य कायम न हो सके। परन्तु भारत के उच्च सदन अर्थात् राज्यसभा में सभी राज्यों का बराबर संख्या में प्रतिनिधित्व नहीं होता।

(iv) राज्यों के अपने संविधान नहीं हैं—अमेरिका और स्विट्जरलैण्ड में राज्यों के अपने पृथक् संविधान हैं और उनमें संशोधन करने की शक्तियाँ भी राज्यों के विधानमण्डलों को ही प्राप्त हैं। परन्तु भारत में केवल एक संविधान है जो केन्द्र व राज्यों दोनों की संरचना और शक्तियों का उल्लेख करता है। राज्यों को यह अधिकार प्राप्त नहीं कि वे भारतीय संविधान की उन धाराओं का संशोधन कर सकें जिनका उनकी संरचना और प्रकार्यों से सम्बन्ध है। भारतीय संविधान में संशोधन प्रक्रिया की शुरूआत केवल संसद ही कर सकती है।

(v) अखिल भारतीय सेवाएँ तथा राज्यपाल——अखिल भारतीय सेवाओं जैसे भारतीय प्रशासनिक सेवा (आई० ए० एस०) तथा भारतीय पुलिस सेवा (आई० पी० एस०) पर भारत की संघीय सरकार का नियन्त्रण है। इन सेवाओं से सम्बन्धित उच्च अधिकारी राज्यों में अनेक महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त होते हैं। अतएव इन अधिकारियों के माध्यम से भी केन्द्रीय सरकार राज्यों की सरकारों पर नियन्त्रण रख सकती है। जहाँ तक राज्यपाल का प्रश्न है, उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति करते हैं तथा वह राज्य में केन्द्र के एजेण्ट के रूप कार्य करता है।

(vi) आपातकालीन घोषणा——अमेरिका, आस्ट्रेलिया व स्विट्जरलैण्ड जैसे संघों में केन्द्र को यह शक्ति प्राप्त नहीं है कि वह राज्यों की स्वायत्तता (autonomy) समाप्त कर सके। परन्तु भारत में आपातकाल की घोषणा किये जाने परसंविधान एकात्मक रूप धारण कर लेता है। आपातकाल में केन्द्रीय संसद उन विषयों पर भी कानून बना सकती है जो राज्य सूची में सम्मिलित हैं। जब राष्ट्रपति यह घोषणा कर देता है कि किसी राज्य की सरकार संविधान की धाराओं के अनुसार नहीं चलायी जा सकती तो राज्य की विधान सभा भंग कर दी जाती हैं। अप्रैल 1977 में तथा फरवरी 1980 में राष्ट्रपति ने एक साथ नौ राज्यों की विधानसभाओं को भंग करके इस तथ्य को उजागर कर दिया है कि भारतीय संघ के घटक राज्यों की स्थिति बड़ी दयनीय है।

(vii) वित्तीय दृष्टि से राज्यों की केन्द्र पर निर्भरता——वित्तीय दृष्टि से भी राज्यों को सदा केन्द्र का मुँह ताकना पड़ता है। केन्द्र पर राज्यों की आर्थिक निर्भरता दिन–प्रतिदिन बढ़ती जा रही है, जिसके कई कारण हैं——(i) संविधान में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य आय के संसाधनों का वितरण इस ढंग से किया गया है कि केन्द्र राज्यों की तुलना में अधिक लाभदायक स्थिति में है। उदाहरणार्थ, राज्यों को कृषि भूमि पर सम्पदा शुल्क, भू-राजस्व, कृषि आय पर आयकर आदि विषयों पर संसाधन सौंपे गये हैं। प्रशासनिक दृष्टि से भू-राजस्व इकट्ठा करना बड़ा कठिन होता है और राजनीतिक दृष्टि से कृषि आय पर कर लगाना राज्य सरकार के लिए घाटे का सौदा माना जाता है। इसके विपरीत केन्द्र के पास निगम कर, निर्यात कर तथा आबकारी कर जैसे महत्वपूर्ण संसाधन हैं। (ii) राज्य सरकारे अधिकांशतः लोक कल्याण और विकास सम्बन्धी कार्य करती है। सामाजिक कल्याण के विभिन्न क्षेत्रों जैसे स्वास्थ्य, चिकित्सा, शिक्षा आदि में राज्य सरकारों का खर्च अनवरत रूप से बढ़ता जा रहा है। राज्य सरकारों के दायित्व बढ़ते गये किन्तु संसाधनों में उस गति से वृद्धि नहीं हुई जिससे उन्हें घाटे के बजट अपनाने पड़े।(iii) अपनी वित्तीय स्थिति को सुधारने के लिए राज्य सरकारें केन्द्र की भाँति विदेशों से ऋण नहीं ले सकतीं। (iv) राज्यों

को दिये जाने वाले कतिपय अनुदान केन्द्रीय सरकार की स्वविवेकी शक्ति के अन्तर्गत आते हैं और राज्यों को बराबर यह शिकायत रही है कि केन्द्रीय सरकार इन अनुदानों का वितरण करते समय पक्षपातपूर्ण आचरण करती। है।(v) नियन्त्रक एवं लेखा परीक्षक सारे देश की वित्तीय स्थिति की देखभाल के लिए उत्तरदायी होते हैं और उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति करते हैं। यद्यपि राज्यों के अपने लेखा परीक्षक होते हैं परन्तु उन्हें इसी केन्द्रीय पदाधिकारी के नियन्त्रण और निर्देशन में कार्य करना होता है। (vi) अनुच्छेद 360 के अन्तर्गत राष्ट्रपति वित्तीय आपात् की घोषणा करके राज्यों की वित्तीय स्वतन्त्रता को मर्यादित कर सकता है।

यह कहना गलत है कि राज्य प्रतिष्ठित नगरपालिकाएँ मात्र हैं?

राज्य स्वायत्तता की माँग के समर्थकों का मत है कि संविधान के कई ऐसे तत्व हैं जो राज्यों की स्वायत्तता को सीमित करते हैं। आपात उद्घोषणा के समय संघात्मक राज्य एकात्मक राज्य में परिणत हो जाता है, राज्यों की वित्तीय स्वायत्तता विनष्ट हो जाती है और राज्य की संपूर्ण सत्ता संघीय कार्यपालिका के हाथों में केन्द्रीभूत हो जाती है। के. संथानाम ने तो यहाँ तक कहा कि नियोजन व्यवस्था ने नीति और वित्त सम्बन्धी सभी मामलों में राज्यों की स्वायत्तता को एक छाया का रूप प्रदान कर दिया है। क्या इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारत में राज्यों का दर्जा नगरपालिकाओं के समतुल्य है? हम इस विचार से सहमत नहीं हैं कि भारत के राज्यों को केवल नगरपालिकाओं को स्थान प्राप्त है। डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि ''राज्यों को नगरपालिकाओं का स्तर देकर संविधान ने केन्द्र को अत्यधिक शक्तियाँ प्रदान कर दी हैं, यह एक गम्भीर शिकायत हमेशा की जाती है। परन्तु यह दृष्टिकोण न केवल अत्युक्तिपूर्ण है साथ ही संविधान के उद्देश्यों के सम्बन्ध में एक भ्रान्त धारणा पर आधारित है।''[16] निम्नलिखित कारणों से हम राज्यों को स्वाधीन अथवा स्वायत्तशासी ही कहेंगे।

(1) राज्यों की सरकारें केन्द्र द्वारा निर्मित नहीं की गई हैं—नगरपालिकाओं अथवा नगर निगमों का निर्माण राज्य की इच्छा पर निर्भर करता है। राज्यों की सरकारें जब चाहें तब नगरपालिकाओं को भंग कर सकती हैं, उनकी शक्तियों को घटा–बढ़ा सकती हैं। परन्तु भारतीय संघ में सम्मिलित राज्यों का निर्माण पूर्णतया केन्द्र की इच्छा पर अवलंबित नहीं है। राज्यों को सभी शक्तियाँ संविधान से प्राप्त हैं। डॉ. अम्बेडकर के शब्दों में, ''राज्य अपनी विधायी तथा कार्यपालिका शक्तियों के लिए किसी प्रकार भी केन्द्र पर आश्रित नहीं है। इस सम्बन्ध में राज्य तथा केन्द्र एकही स्तर पर हैं।''[17]

(2) नागरिक दोहरे शासन के अन्तर्गत रहते हैं—लार्ड ब्राइस के मतानुसार संघात्मक शासन की पहचान यह है कि नागरिक दोहरे शासन– केन्द्रीय शासन और राज्य के शासन के अन्तर्गत रहें। दो प्रकार की विधियों–संसद द्वारा निर्मित विधि और राज्य विधानमण्डलों द्वारा निर्मित विधियों का पालन करें तथा नगरपालिका द्वारा लगाये गये करों के अतिरिक्त दोहरे करों–केन्द्र द्वारा लगाये गये करों व राज्य द्वारा लगाये गये करों का भुगतान करें। इस परिप्रेक्ष्य में तो हम भारतीय शासन व्यवस्था को संघ व्यवस्था का ही प्रतिमान (मॉडल) कह सकते हैं। यह ठीक है कि भारत में दोहरी नागरिकता नहीं है किन्तु दोहरी नागरिकता संघ शासन के लिए अनिवार्य लक्षण भी नहीं है। संघ शासन के अनिवार्य लक्षण तो ये हैं कि दो प्रकार की सरकारें हों, दो प्रकार के शासनाधिकारी हों, हों और नागरिकों को कम से कम दो तरह के कर देने पड़े। डॉ. अम्बेडकर ने ठीक ही कहा था कि "यह (भारतीय संविधान) एक द्वैध शासन की स्थापना करता है, केन्द्र में संघ सरकार है तथा उसके चारों ओर परिधि में राज्य सरकारें हैं। संविधान द्वारा निश्चित तौर पर पृथक्–पृथक् क्षेत्रों में इन्हें प्रभुसत्ता प्राप्त है।"[18]

(3) संविधान की सातवीं अनुसूची में संशोधन करने के लिए कम से कम आधेराज्यों के विधानमण्डलों की स्वीकृति आवश्यक है—हमारे संविधान की सातवीं अनुसूची केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों का बँटवारा करती है। इस अनुसूची में तीन सूचियाँ दी गयी हैं—संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। संघ सूची में 97 विषय हैं। इन पर संसद विधि निर्माण कर सकती है। राज्य सूची में 66 विषय हैं जिन पर राज्यों के विधानमण्डल विधि निर्माण करते हैं। समवर्ती सूची में 47 विषय हैं जिन पर संसद और राज्य विधानमण्डल दोनों ही कानून बना सकते हैं। संविधान द्वारा यह व्यवस्था की गयी है कि सातवीं अनुसूची में किया गया संशोधन तब तक प्रभावी नहीं होगा जब तक उसे कम से कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों की स्वीकृति प्राप्त नहीं होती। इसका अभिप्राय यह है कि केन्द्रीय सरकार शक्तियों के बँटवारे को मनमाने तरीके से परिवर्तित नहीं कर सकती। डॉ. अम्बेडकर ने संविधान सभा में स्पष्ट कहा "यह कथन असत्य है कि राज्यों को केन्द्र के अधीन रखा गया है। केन्द्र अपनी इच्छा से विभाजन रेखा बदल नहीं सकता।"[19]

(4) आपात्कालीन घोषणा संसद के समक्ष रखी जायेगी—यह ठीक है कि संविधान द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि राष्ट्रपति आपतस्थिति की घोषणा कर सके और इस घोषणा का यह प्रभाव होता है कि संविधान का संघात्मक रूप एकात्मक रूप में परिवर्तित हो जाता है। फिर भी, यह ध्यान रखना जरूरी है कि यदि दो महीने के भीतर संसद इस

घोषणा का समर्थन नहीं करती तो यह घोषणा स्वयमेव समाप्त हो जायेगी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि राष्ट्रपति संसद की इच्छा के बिना इस शक्ति का उपयोग दो महीने से अधिक समय के लिए नहीं कर सकता। संसद के दोनों सदनों में सभी राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं। अतएव वे इस बात को अवश्य देखेंगे कि राज्यों के अधिकारों के साथ खिलवाड़ न किया जाये।

(5) राज्यों की सरकारों ने कई बार केन्द्र का सफलतापूर्वक विरोध किया है—राज्य सरकारों ने केन्द्र की नीतियों का कई बार सफलतापूर्वक विरोध किया है। उदाहरण के लिए, हिन्दी के प्रश्न पर निश्चित बंगाल और तमिलनाडु की सरकारें इतनी उत्तेजित हो गयी थीं कि केन्द्रीय सरकार को हिन्दी के विस्तार की अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा। वर्तमान केन्द्रीय सरकार तथा पश्चिम बंगाल की ममता सरकार के मध्य अनेक विषयों पर टकराव, संघर्ष देखने को मिल रहा है।

(6) केन्द्रीय सरकार अपनी नीतियों के क्रियान्वयन हेतु राज्य सरकारों पर आश्रित—पॉल एच० एपिलबी का मत है कि केन्द्रीय सरकार अपनी नीतियों के क्रियान्वयन के लिए राज्य सरकारों पर आश्रित है नीति आयोग की तुलना में राष्ट्रीय विकास परिषद् नीति निर्माता निकाय के रूप में अधिक शक्तिशाली है। राष्ट्रीय विकास परिषद् में राज्यों के मुख्यमन्त्रियों को स्थान दिया गया है और ये परिषद् की कार्यवाहियों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ए० एन०झा ने लिखा है कि योजना का क्रियान्वयन, चाहे वह कानून द्वारा हो या प्रशासकीय कार्यवाही द्वारा, राज्यों के हाथों में ही है।

निष्कर्षतः, भारत के राज्यों को नगरपालिकाओं का दर्जा देना ठीक नहीं है। वे 'राज्य' ही हैं भले ही संविधान ने एक शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना की हो।

सरकारिया आयोग द्वारा समीक्षा और कतिपय सुझाव

भारत में पिछले 72 वर्षों में केन्द्र-राज्य के जो सम्बन्ध रहे हैं उनमें राष्ट्रीय सरकार के उत्तरदायित्वों में निरन्तर विस्तार हुआ है। अब राज्य के कुछ क्षेत्र केन्द्र के अधिकार क्षेत्र में आ गये हैं। ऐसा केन्द्र सरकार द्वारा की गई विधायी और कार्यकारी करवाई के परिणामस्वरूप हुआ है।

केन्द्र ने अपनी प्रभावी विधायी शक्ति का प्रयोग करके ऐसे कार्य भी अब अपने हाथ में ले लिए हैं, जो सामान्यतः राज्यों को सौंपे गए थे। संघीय सूची की प्रविष्टि 52 और 54

के आधार पर संसद द्वारा पारित अधिनियम इसके विशिष्ट उदाहरण हैं। प्रविष्टि 52 के अन्तर्गत, संसद ने उद्योग (विकास एवं विनिमय) अधिनियम, 1951 पारित किया। इसके परिणामस्वरूप केन्द्र का अब अधिनियम की अनुसूची I में उल्लिखित अधिकांश उद्योगों पर नियन्त्रण है। इसका सांविधानिकप्रभाव यह हुआ कि इस अधिनियम के अनुसार जैसे ही केन्द्र ने उद्योगों का नियन्त्रण अपने हाथ में लिया है, उससे राज्य सूत्री की प्रविष्टि 24 के अन्तर्गत उद्योगों के विषय के सन्दर्भ में राज्य की विधायी शक्ति समाप्त हो गई है। इस अधिनियम के अनुसार चाय, कॉफी आदि कृषि उत्पाद भी केन्द्रीय विनियमन के अन्तर्गत आते हैं। इसी प्रकार संसद ने संघीय सूची की प्रविष्टि 54 के अन्तर्गत लोक हित की घोषणा करके खान एवं खनिज (विकास एवं विनियम) अधिनियम, 1957 अधिनियमित किया। इसका कानूनी प्रभाव यह हुआ है कि जैसे ही यह विषय इस अधिनियम के अन्तर्गत शामिल किया गया वैसे ही राज्य सूची की प्रविष्टि 23 के अधीन राज्य विधान मण्डल की इस सन्दर्भ में विधायी शक्तियाँ समाप्त हो गयीं।[20]

नीति आयोग के माध्यम से केन्द्रीकृत योजना बनाना इस बात का एक सुस्पष्ट उदाहरण है कि कार्यकारी प्रक्रिया के माध्यम से किस प्रकार भूमिका का कृषि, मत्स्य उद्योग, मुद्रा एवं जल संरक्षण, लघु सिंचाई, क्षेत्र विकास, ग्रामीण पुननिर्माण एवं आवास आदि जैसे क्षेत्रों में भी विस्तार हुआ है जबकि ये क्षेत्र पूरी तरह से राज्य सूची के अन्तर्गत आते हैं।[21]

सरकारिया आयोग ने संविधान के मूल ढाँचे में आमूलचूल परिवर्तन को न ही उचित माना है और न ही आवश्यक। किन्तु राज्यों की स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए अपने प्रतिवेदन में स्थान-स्थान पर कतिपय महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। जो इस प्रकार हैं :–

(1) कराधान से भिन्न अवशिष्ट अधिकार समवर्ती सूची में रखे जानेचाहिए।

(2) ऐसे किसी व्यक्ति को ऐसे किसी राज्य के राज्यपाल के रूप में नियुक्तन किया जाय जो केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टी का राजनीतिज्ञ हो, जिसराज्य का शासन अन्य पार्टी द्वारा चलाया जा रहा हो।

(3) राष्ट्रपति द्वारा विचार किए जाने के लिए अनावश्यक रूप से राज्यविधेयकों के आरक्षण से बचना चाहिए।

(4) अनुच्छेद 356 का प्रयोग बहुत कम अवसरों पर तथा अत्यावश्यकमामलों में ही अन्तिम उपाय के रूप में उस समय किया जाना चाहिए, जब अन्य उपलब्ध सभी विकल्पों से राज्य में संविधानिक तन्त्र कोभंग होने से रोका न जा सके।

(5) संघ सरकार को राज्य सरकार द्वारा किए गए अनुरोध से भिन्नसिविल शक्ति की सहायतार्थ राज्य में सशस्त्र बलों तथा अन्य बलों को वांछनीय है कि परिनियोजित करने अथवा राज्य में उपद्रवग्रस्त क्षेत्र घोषित करने से पहले यह जहाँ कहीं भी सम्भव हो राज्य सरकार से परामर्श किया जाय और उसका सहयोग प्राप्त किया जाय, हालांकिराज्य सरकार से पूर्व परामर्श करना अनिवार्य नहीं है।

(6) राज्यपाल के रूप में नियुक्त किए जाने वाले किसी व्यक्ति के चयन मेंराज्य के मुख्यमन्त्री के साथ सुनिश्चित रूप से परामर्श किए जाने केलिए संविधान के अनुच्छेद 155 में उपयुक्त संशोधन किया जाय।

(7) संविधान में उचित संशोधन करके निगम कर की निबल आय अनुज्ञये सीमा तक राज्यों में हिस्से योग्य की जा सकती है।

(8) संघ सरकार को, अनुच्छेद 293 के खण्ड (4) के अन्तर्गत राज्यों कोबैंकों और वित्तीय संस्थाओं से एक वर्ष से कम अवधि के उधार लेनेके लिए सहज सहमति दे देनी चाहिए।

(9) सिद्धान्ततः, उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को उनकी सहमति केबिना स्थानान्तरित न किया जाय।

प्रस्तावित शोध कार्य का महत्व
Importance of Proposed Research Work

- इस शोध द्वारा केन्द्र-राज्य संबंधों के प्रशासनिक, विधायी, वित्तीय और न्यायिक क्षेत्रोंमें व्यावहारिक पक्ष की जानकारी मिलेगी।
- केन्द्र-राज्य संबंधों को प्रभावित करने वाले व्यापक कारणों का विस्तृत विवरण मिलेगा।
- केन्द्र-राज्यसंबंधों के बारे में संवैधानिक प्रावधानों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- केन्द्र-राज्य संबंधों में उतार-चढ़ाव के राजनीतिक पहलूओं पर प्रकाश डालेंगे।

- केन्द्र-राज्य संबंधों में सुधार हेतु गठित विभिन्न समितियों/आयोगो के सुझावों का विश्लेषण कर उनकी वास्तविक अनुपालना की जानकारी प्राप्त होगी।
- राजस्थान के विशेष संदर्भ में ऐतिहासिक अवलोकन कर समसामयिक केन्द्र-राज्यसंबंधों के विभिन्न पहलुओं को परिलब्ध करेंगे।
- राज्यहित एवं राष्ट्रहित में सामंजस्य के बिन्दुओं को उजागर कर केन्द्र–राज्य समरसता हेतु सुझाव उपलब्ध करायेंगे।
- राजस्थान की विशिष्ट आवश्यकताओं के संदर्भ में केन्द्र–राज्य संबंधों के महत्व एवं उसके उपयोग हेतु सुझाव देना।
- केन्द्र और राज्य के मध्य समरसता बनाए रखने में सहयोगी व्यवस्थाओं की समीक्षा करना तथा भारत की विशेष संघीय स्थिति को देखते हुए राजनीतिक पहलूओं की व्याख्या करना।
- आन्तरिक सुरक्षा, सूचना क्रान्ति के युग में राज्य की विशिष्ट भूमिका का विवेचन कर आधुनिक युग में केन्द्र-राज्य समन्वय में सुधारात्मक पहलूओं पर प्रकाश डालना।
- उक्त बिन्दुओं के आधार पर प्रान्तीय स्वायत्तता का ठीक से अध्ययन

प्रस्तावित शोधकार्य का स्पष्टीकरण एंव महत्त्व

भारत में संघात्मक शासन की स्थापना 1935 के भारत शासन अधिनियम के अन्तर्गत हुई हैउस समय यह संघ 11 बिट्रिश प्रान्तों 6 चीफ कमिश्नरी प्रान्तों तथा कुछ रियासतो सेमिलकर बनाया गया था।

स्वतन्त्रता के बाद संघीय सरकार के अन्तर्गत 14 राज्य व 6 केन्द्र शासित प्रदेश थेवर्तमान में 28 राज्य व 8 केन्द्र प्रशासित राज्य है।

1919 के अधिनियम में इन प्रान्तों को कुछ स्वतंत्रता प्रदान कर दी गई थी लेकिन पूर्णस्वायत्तता 1935 के अधिनियम द्वारा प्रदान की गई। इसी अधिनियम के आधार पर भारत काजो नया संविधान बना उसमें इस अधिनियम को कुछ संशोधनों के साथ अपना लिया गया।जिससे राज्यों कि स्वायत्तता के सम्बन्ध को लेकर संविधान में शक्तियों का विभाजन करकेन्द्र व राज्य के मध्य सम्बन्धों का विभाजन किया गया ताकि केन्द्र व राज्य एक दूसरे सेस्वायत्त रहकर अपनी-अपनी शक्तियों के आधार पर कार्य कर सके।

भारत के सविधान में केन्द्र व राज्यों के सम्बन्धों को हम निम्न आधारो पर समझ सकते है –

(i) प्रशासनिक सम्बन्ध,

(ii) विधायी सम्बन्ध,

(iii) वित्तीय सम्बन्ध,

(iv) न्यायिक सम्बन्ध,

अध्ययन का संभावित योगदान
Expected Contribution of Study

प्रस्तावित शोध अध्ययन चूंकि केन्द्र-राज्य संबंधों पर आधारित रहेगा अतः इसके माध्यम से यह ज्ञानार्जन होगा कि हमारे संसदीय संघ में राज्यों की क्या स्थिति है? चूंकि केन्द्र-राज्य संबंधों से जुड़ी अनेक संस्थाएं हैं जैसे-प्रशासन, व्यवस्थापिका, न्यायपालिका, अतः इनकी क्या भूमिका रहेगी, यह जान सकेंगे और इससे हमारी जानकारी हमारे तंत्र के प्रति बढ़ेगी। हम तय कर सकेंगे कि हमारे राज्यों की स्वायत्तता कैसे बनी रहेगी? राज्य किस रूप में सहयोग करें ताकि राष्ट्र की सुरक्षा, एकता और अखण्डता अक्षुण रहे? अतः यह अध्ययन अत्यन्त उपयोगी होगा। राजनीति विज्ञान के साहित्य में महत्वपूर्ण योगदान होगा तथा रूचिकर भी होगा।

कुरियन एवं वर्गीस ने "केन्द्र-राज्य संबंध" (1980) के शीर्षक से केन्द्र–राज्य संबंधों का अध्ययन किया है। सुभाष सी. कश्यप ने "यूनियन स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया' (1969) के शीर्षक से अध्ययन किया है। अनिरुद्ध प्रसाद ने "सेन्टर स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया' (1988) के शीर्षक से अध्ययन किया है यह भी केन्द्र राज्य संबंधों को समझने की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

इसी प्रकार ए.जी. नूरानी का अध्ययन भी महत्वपूर्ण हैं जो 'सेन्टर स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया" के नाम (1972) में किया गया। पालकीवाला द्वारा किया गया अध्ययन जो "सेन्टर स्टेट रिलेशन्स ए ब्रोड प्रेसपेक्टिव" (1981) के नाम प्रस्तुत हुआ है यह भी केन्द्र–राज्य संबंधों को समझने में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

ये सभी अध्ययन भारतीय संघीय व्यवस्था में इकाइयों और यूनियन के आपसी संबंधों और व्यवहार को समझने में सहयोग देते हैं।

राजस्थान के विशेष संदर्भ में बी.एल. पनगडियां की रचना "स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया' (1988) महत्वपूर्ण है। डॉ. इकबाल नारायण की "स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया' नामक रचना जो 1976 में प्रकाशित हुई वह भी महत्वपूर्ण है और राजस्थान के ही विशेष संदर्भ में सी.एम. जैन का भी विशेष लेख जिसका मैंने अध्ययन किया है वह है "सेन्टर स्टेट रिंलेशन्स इन इण्डियाः ए केस स्टडी ऑफ राजस्थान" जो इण्डियन जनरल ऑफ पालिटिकल साइन्स जुलाई से सितम्बर 1970 में प्रकाशित हुआ है, महत्त्वपूर्ण है। परन्तु उपरोक्त सभी अध्ययन या तो समय की दृष्टि से अधिक भूतकालीन है या राजनीतिक दृष्टि से अभिव्यक्त किये गए हैं या सैद्धान्तिक पहलुओं पर अधिक बल दिया गया है। इस कारण यह महसूस किया गया कि ये सभी अध्ययन समग्र नहीं हैं और तनाव के नये क्षेत्र उजागर होते रहे हैं। साथ ही 1967, 1977, 1989 आदि वर्षों में ऐसी स्थितियां बनी जो पूर्व में नहीं थी और संबंधों को नए रूप से समझना आवश्यक हो गया। 1992 से 1998 तक कि जो स्थिति रही वह भी कुछ इस तरह की थी कि उसको व्यापक रूप में समझा जाना आवश्यक है तथा 21वीं शदी की नई स्थितियों को भी समझा जाना अपेक्षित है ताकि हमारे संघ के वास्तविक स्वरूप को समझा जा सके। यह ऐसा विषय है जिस पर राज्यों की मांग बढ़ती जाती है और केन्द्र का मौन।

उक्त अध्ययनों में इसकी कमी है और कहीं-कहीं तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य का भी अभाव है। अतः इन अध्ययनों के निष्कर्षों को सर्वव्यापी निष्कर्ष नहीं कह सकते हैं। अतः राजस्थान के विशेष संदर्भ में एक नए और व्यापक अध्ययन की आवश्यकता है जिसमें राजस्थान के साथ ही एक तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य को उभारा जा सकें ताकि यह अध्ययन सभी राज्यों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकें।

प्रस्तुत अध्ययन इसी आग्रह को लेकर किया गया है, इस दृष्टि से यह अध्ययन अत्यन्त रूचिकर हो और राजनीति विज्ञान के साहित्य में और विशेषकर भारतीय राजनीति और शासन में एक उल्लेखनीय योगदान है।

शोध अध्ययन पद्धति एवं डिजाइन
Research MathologyAnd Design

प्रस्तुत शोध की अध्ययन पद्धति मिश्रित रहेगी। ऐतिहासिक व इतिहास पर आधारित तुलनात्मक पद्धति का सहारा लिया गया है। ऐतिहासिक तथ्यों की परस्पर तुलना व वर्गीकरण के आधार पर समकालीन अनुभव की पुष्टि या अपुष्टि की गयी है अर्थात्

इतिहास द्वारा प्राप्त तथ्य अध्ययन के अनुभवों को स्पष्ट एवं पुष्ट किया है। ऐतिहासिक व तुलनात्मक पद्धति के साथ ही विश्लेषात्मक पद्धति को अपनाया गया है तथा केन्द्र-राज्य संबंधों कीसंवैधानिक और कानूनी स्थिति को समझा गया है।

आधुनिक शोध विधि विज्ञान की दृष्टि से यह अध्ययन विश्लेषणात्मक भी है जिसके माध्यम से केन्द्र-राज्य संबंधों का विश्लेषण करके विभिन्न स्थितियों में केन्द्र और राज्यों की भूमिका व महत्व को चिन्हित किया गया है और केन्द्र-राज्य संबंधों के संदर्भ में राजनीतिक वास्तविकताओं का भी ज्ञान प्राप्त किया गया है। प्रस्तुत, अध्ययन में केन्द्र राज्य संबंधी संविधान से जुड़े अन्य पहलुओं का अध्ययन किया गया और सामाजिक विवेचन हेतु सामयिक शोध पत्रिकाओं और अन्य पत्र-पत्रिकाओं का सहारा लिया गया है। जिनके आधार पर राजनीतिक और कानूनी आवश्यकताओं तथा कानूनी प्राथमिकताओं का भी ज्ञान प्राप्त किया गया है। स्वायत्तता को फोकस किया गया है।

इस प्रकार यह अध्ययन शोध पद्धति के परम्परागत और आधुनिक दोनों का प्रयोग करेगा तथा परम्परागत पद्धति द्वारा प्राप्त जानकारी (तथ्यों एवं आंकड़ों) का वैधानिक और व्यावहारिक स्वरूप आधुनिक विश्लेषणात्मक पद्धति द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत शोध की शोध प्रविधि

प्रस्तावित अध्ययन का क्षेत्र भारत की संघीय व्यवस्था में राज्यों की स्वायत्तता केन्द्रराज्यों संबंधो के प्ररिप्रेक्ष्य में एक शोध अध्ययन तक सीमित रखा गया गया है। जिसके लिएअध्ययन हेतु केन्द्रिय सरकार तथा दिल्ली में स्थित संसद को कार्यवाही सचिवालय, अन्य राज्यों की विधानसभा का अध्ययन किया जायेगा।

अध्ययन के द्वितीय स्त्रोत के रूप में प्रकाशिक अध्ययन सामग्री तथा इससे सम्बंधीत पुस्तकें, जर्नल आदि को प्रयोग में लेकर उक्त संघीय शासन व्यवस्था राज्यों की व्यवस्था तुलनात्मक अध्ययन कर समीक्षा की जायेगी।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत अध्ययन के रूप में भारत की संघीय व्यवस्था में राज्यों की स्वायत्तता केन्द्र-राज्यों के प्ररिप्रेक्षय के संबंध में न्यादर्श पद्धती, ऐतिहासिक, विशलेषणात्मक,पद्धतियों का सहारा लेकर इस शोध का अधिक व्यवहारिक, वैज्ञानिक

तथ्यपरक बनाने में किया जा सके। ताकि आने वाले शोधार्थी केन्द्र राज्य संबंधो के परिप्रेक्ष्य में एक शोध के मध्यसंबंधो की जानकारी प्राप्त कर सके।

प्रस्तुत विषय पर पूर्वकृत शोध कार्य की महत्ता

प्रस्तुत शीर्षक "भारत की संघीय व्यवस्था में राज्यों की स्वायत्तता केन्द्र राज्यों के संबंधो में एक शोध अध्ययन के क्षेत्र में शोध कार्य की प्रवृति प्रारम्भ हो चली है, वर्तमान समय में इसके पूर्व के कार्यकाल पर भी शोध कार्य चल रहा है। उक्त कार्यकाल पर मेरी जानकारी अनुसार अभी तक कोई शोध कार्य नहीं हुआ है। इसलिए मैने इस शिर्षक पर शोधकरने का निश्चय किया है। भारत सरकार के पुस्तकालयों में उपलब्ध विशेष सामग्री को वहाँके अधिकारियों द्वारा मुझे देने के लिए आश्वस्त किया है, इसलिए मैं उनका अत्यंत आभारी हूँ।

उपलब्ध शोध साहित्य की समीक्षा

डॉ0 दुर्गादास बसु——ने भारत का संविधान एक परिचय (28 अगस्त, 2013) में संघात्मक शासन व्यवस्था में केन्द्र राज्यों के मध्य विधायी, प्रशासनिक व वित्तिय संबंधो पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है तथा उन्होने यह बताया है कि केन्द्र और राज्यों के मध्य संबंधो का विभाजन किस प्रकार का होना चाहिए। तथा केन्द्र से राज्य कहाँ तक स्वायत हो, का उक्त अध्ययन किया है।

सज्जन पोसवाल——समकालीन भारत (2013) में संघ तथा राज्यों के मध्य संबंधों का वर्णन किया गया है, जिसमें बताया गया है कि केन्द्र राज्यों के साथ किस प्रकार की नीति काप्रतिपादन करेगा का अध्ययन निम्न शोध शिर्षक में किया जायेगा।

आचार्य बालचन्द्र गोस्वामी 'प्रखर'——संसदीय लोक सफल या असफल (2007) में मौलिक अधिकारों, मौलिक कर्तव्यों, नीति निर्देशक सिद्धान्तों, चुनाव प्रक्रिया और राजनतिक दलों, विधान मंड़लों की प्रक्रिया, लोक प्रशासन, न्याय पालिका और पंचायतीराज आदि विषयों पर विचार व्यक्त किए गए है।

दिलीप सिंह महरौली——भारतीय राज्य व्यवस्था (2011) में संघावाद एक आधुनिक अवधारणाहै, यह संयुक्त राज्य अमेरिका से व्यवहार में ली गई है, दूसरे विश्व युद्ध के बाद

संघवाद का प्रचलन एक प्रथा फैशन के रूप में चल पड़ा है, जिसका अध्ययन भारतीय संविधान के अन्तर्गत केन्द्र राज्यों संबंधो के विषय में किया जायेगा।

कमजोर केन्द्र बिखराव को प्रात्साहित करता है तो कमजोर राज्यों के कारण केन्द्र में तानाशाही स्थापित होने का खतरा भी है। आपात्काल का अनुभव इसका ताजा उदाहरण है जबकि राज्यों को आज्ञाकारी शिशुओं से बदतर बना दिया और केन्द्र द्वारा सांविधानिक शक्तियों के अपहरण पर राज्य सरकारें चूं तक नहीं कर रही हैं। राज्यों के राजनैतिक अधिकारों की अपेक्षा आर्थिक एवं वित्तीय शक्तियों का तथ्य सामने आया है और राज्य सरकारों के निरन्तर घाटे के बजट व आय के सिकुड़ते साधनों के परिप्रेक्ष्य में यह प्रश्न विचारणीय है कि उन्हें वित्तीय सुदृढ़ता दी जाये। राज्यों की स्वायत्तता का प्रश्न महज राजनीतिक दृष्टि एवं आधार से परे राज्यों की प्रशासनिक जिम्मेदारी, जनहित के काम, विकास की दुरूहताएँ आदि के सन्दर्भ में विचारणीय है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
References

1. फड़िया बी.एल., भारत में केन्द्र राज्य संबंध, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा, 2007 पृ. 275
2. नन्दकिशोर, त्रिखा, "संघ और राज्य—एक और गोष्ठीः नतीजा कुछ नहीं''**नव-भारत टाइम्स,** 23 सितम्बर 1978, पृ. 4.
3. **सनडे** (कलकत्ता), 2 अप्रैल 1978, पृ. 22–29
4. वेस्ट बंगाल गवर्नमेण्ट्स मेमोरेन्डम : सेन्टर-स्टेट रिलेशन्स, **पीपुल्स डेमोक्रेसी** 2(2), 8 जनवरी 1978, पृ. 58.
5. **दि टाइम्स ऑफ इण्डिया** (नई दिल्ली), 12 जुलाई, 1977, पृ. 1.
6. **जान्हवी** (नई दिल्ली), नवम्बर 1978, पृ. 33–34.
7. एम. एस. धामी, ''पोलिटिकल पार्टीज एण्ड स्टेट ऑटोनामी इशू : ए केसस्टडी ऑफ अकाली पार्टी'', के. आर. बम्बवाल (सम्पादित), **नेशनल पॉवरएण्ड स्टेट ऑटोनोमी** (मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1977), पृ. 144-61.
8. डी. सी. गुप्ता, **इण्डियन गवर्नमेण्ट एण्ड पालिटिक्स** (विकास,नई दिल्ली,1972), पृ. 121.
9. **उपर्युक्त।**
10. **दि कम्पीटिशन मास्टर,** जुलाई 1971, पृ. 760.
11. **रिपोर्ट ऑफ सेल्टर–स्टेट इन्क्वायरी कमेटी** (मद्रास 1971), पृ. 1.
12. **दि हिन्दुस्तान टाइम्स,** 16 फरवरी, 1977, पृ. 1.
13. डॉ. श्याम लाल भांडावत, "राज्यों को आर्थिक स्वायत्तता कहाँ तक?" **राजस्थान पत्रिका** (जयपुर), 23 अगस्त, 1978, पृ. 5-6.
14. बाबूलाल फड़िया, **भारतीय सरकार एवं राजनीति** (सरस्वती सदन, दिल्ली,1977), पृ. 261.
15. रहमत बेगम, "भारतीय संघ और राज्यों की स्वायत्तता", **लोकतन्त्र समीक्षा** (नई दिल्ली), जनवरी-मार्च, 1977, पृ. 87–88.
16. **भारतीय रिजर्व बैंक बुलेटिन के विभिन्न अंक :** सप्तम वित्त आयोग का प्रतिवेदन, अध्याय 2, पृ. 116.
17. **कान्स्टीट्यूट असेम्बली डिबेट्स,** खण्ड 7, पृ. 33.
18. **उपर्युक्त।**
19. **उपर्युक्त।**
20. **उपर्युक्त।**
21. **केन्द्र-राज्य सम्बन्ध आयोग रिपोर्ट,** भाग–I (1988), पृ. 13.
22. **उपर्युक्त, पृ. 14**

अध्याय– द्वितीय

राज्य स्वायत्तता विषय पर साहित्यक सर्वेक्षण

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का यह अध्याय शोध में उपलब्ध साहित्य की समीक्षा से सम्बन्धित है। उल्लेखनीय है कि समाज में प्रचलित व्यवहार, व्यवस्था संस्थाओं की प्रक्रिया आदि से सम्बन्धित पूर्व में प्रचलित विचारों, सिद्धान्तों, मान्यताओं, आदि के सत्यापन पर ही अनुसंधान आधारित रहता है, और कोई भी खोजबीन–छानबीन तथा अनुसंधान तब जन्म लेता है, जब किसी विषय पर संदेह की स्थिति पैदा होती है तथा संख्या तक पहुंचने के लिए उस संदेह को परखना आवश्यक हो जाता है।

आंगल भाषा में विद्वानों ने स्वीकार किया है किजब तक खोज या रिसर्च शुरू न हो जाए, उनका दोहरापन क्या है? सच्चाई जब तक उनकी शंका नहीं होगी तब तक दिल या दिमाग कैसे जागृत होगा? हमें याद रखना चाहिए। विश्वास और आस्था मनुष्य को बांधती है लेकिन संदेह मनुष्य को मुक्त करता है।[1]

मैरी जाहोदा, मोटान डच और स्टुअर्ट डब्ल्यू' कुक ने भी अपनी पुस्तक में ऐसा ही कुछ स्वीकार किया है।[1]हडसन की एक बहुत अच्छी तरह से ज्ञात मैक्सिम है जिसके संपर्क में अनुसंधान के महत्व को अच्छी तरह से समझा जा सकता है "सभी प्रगति जांच से पैदा हुई है, संदेह बेहतर है, फिर इसके लिए आत्मविश्वास से अधिक पूछताछ और आविष्कार की ओर जाता है"[2]

अनुसंधान को निम्नलिखित प्रमुखों बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए भी समझा जा सकता है–

1. अनुसंधान प्रौद्योगिकी में पेशेवरों के लिए आजीविका के स्त्रोत का संकेत दे सकता है।

2. अधिक अनुसंधान का तात्पर्य साहित्यक महिलाओं और पुरूषों के लिए नई शैलियों एवं रचनात्मक कार्यों में शामिल होना है।

3. अनुसंधान उन छात्रों को सामाजिक प्रतिष्ठा हेतु उच्च स्थान प्राप्त करने के लिए भविष्य का संकेत दे सकता है जिन्हें पीएच.डी. थीसिस लिखने में महारत हासिल है।

4. अनुसंधान बुद्धिजीवियों और विश्लेषकों को नए सिद्धांतों के सामान्यीकरण का संकेत दे सकता है।

5. अनुसंधान का अर्थ नए विचारों और विचारकों व दार्शनिकों की अन्तदृष्टि के लिए आग्रह कर सकता है।

इस प्रकार अनुसंधान कई सामाजिक सरकार और व्यावसायिक समस्याओं को सरल बनाने के लिए दिशा–निर्देश प्रदान करने और ज्ञान के उद्देश्य के लिए ज्ञान के महासागर के लिए अनुसंधान का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। यह एक प्रकार का औपचारिक प्रशिक्षण है, जो किसी को पत्र के विकास को बहुत बेहतर तरीके से समझने में सक्षम बनाता है।

वास्तविकता यह है कि एक अनुसंधानकर्ता को पग–पग पर विकट समस्याओं का सामना करना पड़ता है और उन समस्याओं से तभी रूबरू हुआ जा सकता है जब ज्ञान राशि का संचित कोष हमारे सामने उपलब्ध हो ताकि उस साहित्य को देखकर विषय में हमारी रूचि पैदा हो, अनुसंधान में सहायता मिले, और जो शोध एक शोधार्थी करने जा रहा है उसको सहायता मिले।

अतः निर्विवाद यह माना जा सकता है कि शोध या अनुसंधान में उस विषय पर पहले से उपलब्ध साहित्य की जानकारी और उसकी समीक्षा करते हुए आगे बढ़ा जाये। शोध के संदर्भ में भी हम स्वीकार कर सकते हैं कि शोधार्थी के लिए वही साहित्य उपयुक्त है जिसमें हमारा हित निहित है। साहित्य से ही नया साहित्य जाग उठता हैं,

वास्तव मेंसाहित्य की समीक्षा से अभिप्राय यह है कि शोध विषय पर पहले से ही विद्वानों ने क्या कहा? और पृष्ठतकिया है? और जो उन्होनें कहा है उसकी सीमा और क्षमता क्या है? उससे क्या सहयोग और सहारा प्राप्त किया जा सकता है।[3]अर्ल बब्बी ने स्पष्ट किया है किसाहित्य की समीक्षा का अर्थ है कि अन्य लोगों ने इस विषय के बारे में क्या कहा है, इसके लिए क्या सिद्धांत हैं और अस्तित्व में मौजूद खामियां क्या हैं।

साहित्य की समीक्षा (उपलब्ध साहित्य समीक्षा) से यह भी अभिप्राय है कि इस विषय पर अन्य शोधकर्ताओं के समक्ष जो समस्याएं रही है वो वर्तमान शोधकर्ता समझ सके, और उनका निराकरण कर सके। इस दृष्टि से साहित्य की समीक्षा शोध में एक महत्वपूर्ण अंग है।

सभी विद्वानों नेअनुसंधान के विभिन्न ऐलीमेन्टस में इसको स्थान दिया है जैसे अर्ल बेबी ने छः बातें स्वीकार की है –

1. समस्याएं एवं उद्देश्य
2. उपलब्ध साहित्य की समीक्षा
3. अध्ययन का विषय
4. मापन
5. डाटा एकत्रित करने के तरीके
6. विश्लेषण

हार्टन और हंट[4]ने आठ पक्ष/कदम एक वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए आवश्यक बताए हैं– (उपरोक्त पृ.सं. 29)

1. समस्या का अर्थ और परिभाषा (Define the Problems)
2. उपलब्ध साहित्य की समीक्षा (Review of Literature)
3. प्राकल्पना का निर्माण (Formalities the Hypothesis) अर्थात वे विचार जिनको अनुसंधान के दौरान सत्यापित करना है।
4. अनुसंधान डिजाइन या योजना (Research Design Or Yojna)
5. डाटा संग्रहण (Data Collection)
6. डाटा विश्लेषण
7. डाटा के आधार पर निष्कर्ष निकालना तथा
8. अध्ययन को उचित या अनुचित ठहराना

यह सभी उस विषय पर उपलब्ध साहित्य के आधार पर ही किया जा सकता है। इसीलिए हम मान सकते हैं कि अनुसंधान पर उपलब्ध साहित्य ही यह स्पष्ट करता है कि कहां से कहाँ, क्यों और कैसे निर्धारित होता है। इसिलिए शरतचन्द्र चटर्जी[5] ने स्वीकार किया है कि विषय पर शत् साहित्य का उपयोग किया जाना आवश्यक है। रामचन्द्र शुक्ल ने भी स्वीकार किया है कि प्रत्येक देश का साहित्य वहां को जनता को चितवृति का संचित प्रतिबिम्ब होता है।[6]

मैथेलीशरण गुप्त ने ही अपने पद्य की भाषा में लिखा है कि

मृत हो की जीवित
जाति का साहित्य जीवन चित्र है
वह भ्रष्ट है तो सिद्ध फिर वह
जाति भी अपवित्र है।[7]

वास्तविकता यह है कि वर्तमान में समाज विज्ञानों में जो अनुसंधान होता है उसके आधार पर अनेक निष्कर्ष प्रस्तुत किए जाते हैं। क्योंकि वह मौखिक होता है हर अनुसंधानकर्ता को भी अपने अनुसंधान में मौलिक होने का प्रयास करना पड़ता है, ऐसा करने के लिए उपलब्ध साहित्य पर आवश्यक दृष्टि डालना और पूर्व के निष्कर्षों को जाँचना–परखना आवश्यक हो जाता है।

इसिलिये रविन्द्रनाथ टैगौर[8] ने भी स्वीकार किया है कि साहित्य के माध्यम से ही हम समस्या की वास्तविक प्रकृति के निकट पहुंचते हैं और पूर्ण रूप से उसे जान पाते हैं जो अनुसंधान का अन्तिम लक्ष्य भी है। अतः निश्चित रूप से यह स्वीकार किया जा सकता है कि साहित्य वह है जिसे पढ़ने से यह प्रतीत हो कि लेखक ने समस्या के सभी पहलुओं को स्पष्ट किया है। अतः साहित्य एक व्यास भी है, खोज भी है और इन दोनों का प्रत्यार्पण भी है।

यदि साहित्य का पतन होता है तो राष्ट्र का भी पतन होता है इसी कारण एक बार (1955) एक कवि सम्मेलन में सीढ़िया चढते हुए तत्कालिन प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू सीढ़ियों से लड़खड़ाये तो उनके पीछे आ रहे राष्ट्रीय कवि रामधारी सिंह दिनकर ने सहारा देकर संभाल लिया, इस पर जब नेहरू जी दिनकर जी को धन्यवाद देने लगे तो, दिनकर जी ने येही कहा कि मैंने यह कोई अहसान नहीं किया है बल्कि यह मेरा दायित्व है कि भारत की राजनीति जब–जब लड़खडायेगी, साहित्य उसे संभालेगा।

अतः हम स्वीकार कर सकते हैं कि साहित्यकार ही अपने साहित्य द्वारा समाज को आशा प्रदान कर प्राणवान बनाता है।

हम रविन्द्रनाथ ठाकुर[9] से भी सहमत हो सकते हैं कि महत् साहित्य का गुण है अपूर्वता, यानि मौलिकता। साहित्य जब अकलन्त शक्तिमान रहता है, तब वह चिरन्तन को ही नये रूप में प्रकशित कर सकता है, ये ही उसका काम है। और इसी का नाम मौलिकता है। स्पष्ट है कि शोधकर्ता के लिए शोध के लिए निर्धारित विषय पर साहित्य उपलब्ध होना आवश्यक है तभी वह आगे बढ़ सकता है या उसको अपने शोध को पूरा करने में सहयोग मिलता है।

यदि अध्ययन विषय से सम्बन्धित साहित्य का पुनरावलोकन किये बिना ही शोध कार्य प्रारम्भ कर दिया जाता है तो इससे सम्पूर्ण शोध प्रक्रिया के ही दोषपूर्ण रहने की

संभावना रहती है।[10] अतः आवश्यक है कि प्रारम्भ से ही शोध से संबंधित साहित्य का अध्ययन कर लिया जाये।

वास्तविकता यह है कि सामाजिक शोध के अनेक सोपान है या विभिन्न चरण है जिनमे से शोध को गुजरना पड़ता है साथ ही सामाजिक शोध की प्रकृति वैज्ञानिक है क्योंकि इसमें वैज्ञानिक पद्धतियों का उपयोग किया जाता है शोध का मुख्य लक्ष्य वैज्ञानिक निष्कर्षों की प्राप्ति, सामानीकरण तथा नियमों का प्रपिादन करना है। इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु वैज्ञानिक पद्धति या वैज्ञानिक कार्यविधी का सहारा लेना आवश्यक है। पुनः कहा जा सकता है कि इस कार्य विधि के कई चरण है जिन सभी में से होकर शोधकर्ता को गुजरना पड़ता है, और अन्त में निष्कर्षों या सत्य तक पहुंचने के लिये कोई लघुमार्ग नहीं है। सामाजिक शोध भौतिक विज्ञानों की तुलना में अधिक व्यापक है इसकी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि शोधकर्ता सुनिश्चित और सुव्यवस्थित रूप से वैज्ञानिक कार्यविधि के प्रमुख चरणों को ध्यान में रखा कर आगे बढ़े।

स्पष्ट है कि सामाजिक शोध के प्रारम्भ से अन्त तक सुनिश्चित ढंग से कार्य किया जाता है इसमें एक निश्चित क्रम से एक चरण से दूसरे चरण में और दूसरे चरण से तीसरे चरण में अर्थात् क्रमानुसार विभिन्न चरणों से होते हुए आगे बढ जाता है।

इन्ही चरणों में एक महत्वपूर्ण चरण सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन और समीक्षा भी है स्पष्ट है कि शोध प्रक्रिया के सभी चरण परस्पर एक दूसरे के पूरक और परस्पर आत्मनिर्भर होते हैं।[11]

जैसे –

1. शोध समस्या का चयन तथा परिकल्पना का प्रस्तुतीकरण
2. शोध की रूपरेखा, अभिकल्प या डिजायन का निर्माण
3. समंको तथा सामग्री का संकल्प
4. तथ्य सामग्री का संकेतन एवं विश्लेषण
5. प्राप्त निष्कर्षों का निर्वचन, ताकि परिकल्पना का परीक्षण किया जा सके।
6. व्याख्यात्मक सिद्धान्त या संभावना परक निष्कर्ष

इसके पश्चत् समस्त शोध प्रक्रियाओं प्रतिवेदन, लघु प्रबन्ध या शोध प्रबन्ध के रूप में लिखा एवं तैयार किया जाता है।[12]

एक शोधार्थी को वास्तव में शोध करने की प्रक्रिया के चरणों को और भी विस्तार पूर्वक समझना चाहिए–

1. समस्या या विषय का चुनाव
2. प्रथम से सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन कि उसके किन–किन या अंक को लिखा एवं अनुसंधान किया जा चुका है।
3. विषय या समस्या के मुख्य भाग, अंश या इकाईयों का अध्ययन अथवा निर्धारण।
4. परिकल्पना या प्रस्थापना का निर्माण कि क्या उस विषय या समस्या के समाधान के बारे में शोधक की कोई सोच या कल्पना है।
5. समय, साधन एवं स्वयं की रूचि को देखते हुए समस्या के संदर्भ में अपने अध्ययन क्षेत्र का निर्धारण करना। इसमें समस्त विषय को शोध की समस्या बनाने की बजाय किसी विशेष घटना अवधि विकास या पतन को भी आधार बनाया जा सकता है।
6. यदि शोध किसी प्रश्नावली पर आधारित है या सर्वे पर आधारित है तो उत्तरदाताओं या सूचनादाताओं अथवा तथ्य ज्ञाताओं का चुनाव करना जिससे समस्या से सम्बन्धित उपयोगी एवं विश्वसनीय सूचनाएँ मिल सकें।
7. जानकारी के स्त्रोतों का निर्धारण कि वे मूल स्त्रोत है या गौण। इन्हें प्राथमिक एवं द्वितीयक स्त्रोत भी कहा जाता है।
8. उन साधनों, पद्धतियों, उपकरणों, प्रविधियों आदि की जानकारी एवं उपयोग जो विश्वसनीय सूचनाएँ संकलित करने में सहायक हों। अध्येता को इनकी विश्वसनीयता एवं प्रमाणिकता के बारे में सुनिश्चित होना चाहिए।
9. इसके बाद सूचनाओं तथ्यों आदि के संकलन का कार्य शुरू होता है इसके लिए क्षेत्र/स्थान पर जाकर अवलोकन, सम्पर्क पत्र, व्यवहार आदि भी करना पड़ता है।
10. तथ्यों को संकलित करने के साथ उनके सही/गलत होने का सम्पादन करना पड़ता है और उनको संक्षेप में दर्शाने अथवा के लिए संकेत या प्रतीक देने पड़ते हैं। इससे उनका वर्गीकरण किया जा सकता है और विषयवार तालिकाएं बनायी जा सकती है।
11. जब तालिकाएं या सारणीयाँ बन जाती है तो उनके प्रस्तुत आंकड़े, अंको के माध्य पारस्परिक संबंध ढूंढा जाता है इसे ही विश्लेषण कार्य कहते हैं। फिर उन्हें निहितार्थ खोजे जाते हैं तथा पक्ष विपक्ष में अपना निर्णय बताया जाता है।
12. ऐसा करने के बाद प्राप्त तथ्यों, उनके वर्गो, सारणीयों एवं विश्लेषण को देखकर सामान्य निष्कर्ष या सामान्यीकरण निकाले जाते हैं इसे निष्कर्षीकण या सारांशीकरण भी

कहते हैं जिन्हें इस तरह प्रस्तुत किया जाता है कि वे वैसे ही तथ्यों पर कहीं भी लागू हो सकें।

जब बहुत सारे सामानीकरणों को परस्पर सम्बन्ध कर दिया जाता है तो उन्हें सिद्धान्त कहा जाता है। ऐसे सिद्धान्त वैसी समस्या या समस्याओं के क्या, कैसे और क्यूं का उत्तर देते हैं अर्थात् व्याख्यात्मक होते हैं इन व्याख्यात्मक सिद्धान्तों के आधार पर भविष्य कथन भी किया जा सकता है और ऐसी सूरत में सर्वत्र लागू होने वाले सिद्धान्त नियम कहलाते हैं। अतः एक अध्येयता विचार, सिद्धान्त और नियमों की ओर इशारा करता है जिससे एक लक्ष्य बुद्धि पैदा होती है।

13. इस समस्त कार्य को क्रमबद्ध एवं विस्तारपूर्वक लिखा जाता है और अंततः इस लेखन कार्य को प्रतिवेदन लघुशोध प्रबन्ध या शोध प्रबन्ध लेखन कहा जाता है। अतः आवश्यक है कि सम्बन्धित साहित्य का होशीयारी से अध्ययन किया जाये।[13]

वास्तविकता यह है कि शोध या अनुसंधान का कार्य सत्य को जानना है इसलिए अन्वेषक/शोधकर्ता वही है जिसको प्रत्येक प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने का जोश होता है, जिसको सदा जानने की इच्छा बनी रहती है और जो बिना जाने कभी संतुष्ट नहीं होता है, वही सच्चा शोधक या दार्शनिक है।[14]

थोरो[15] ने भी स्वीकार किया है कि दार्शनिक होने का अभिप्राय सूक्ष्म विचारक होने तक सीमित नही है बल्कि यह है कि हम ज्ञान के ऐसे प्रेमी बन जायें कि उसके इशारों पर चलते हुए विश्वास, संख्या, स्वायत्तता और उद्वारता का जीवन व्यतीत करने लगे।

स्पष्ट है कि किसी विचार पर संदेह होना और किसी विचार पर आश्चर्य व्यक्त होना दर्शनशास्त्र की आधारशीला है अनुसंधान उसका विकास है और अज्ञानता उसकी सम्पत्ति है।[16]

अतः हम मान सकते हैं कि खोज का उद्देश्य हमारे जीवन और व्यवहार को बदलना है और इसके लिए शत् साहित्य का अध्ययन अति आवश्यक है। इसलिये **सिसरो**[17]का भी कथन है कि मन की सच्ची दवा दर्शन ही है।

स्पष्ट है कि अनुसंधान और शोध कार्य के लिए उपलब्ध साहित्य का ज्ञान और उसकी समीक्षा अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

उक्त विवरण और विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि सामाजिक शोध के चरणों के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने कुछ मतभेद अवश्य है परन्तु मूलतः इसके चरण एक ही है।

इतना आवश्यक है कि शोधकर्ता अपने अध्ययन में किन चरणों का उपयोग करेगा और किस क्रम में करेगा यह शोध की प्रकृति पर निर्भर करता है।

अगस्ट काम्टे[18] ने वैज्ञानिक पद्धति के निम्न चरणों का उल्लेख किया है–

1. विषय का चुनाव
2. अवलोकन द्वारा तथ्यों का संकलन
3. तथ्यों का वर्गीकरण
4. तथ्यों का परीक्षण
5. नियमों का प्रतिपादन

श्रीमती पी.वी. यंग[19] ने वैज्ञानिक पद्धति के निम्नलिखित चरणों का उल्लेख किया है–

1. कार्यकारी प्राकल्पना का निर्माण
2. तथ्यों का अवलोकन एकत्रीकण एवं लेखन
3. लिखित तथ्यों का श्रेणीयों/अनुक्रमों में वर्गीकरण
4. वैज्ञानिक सामानीकरण एवं नियमों का प्रतिपादन

जार्ज ए लूण्डबर्ग[20] ने वैज्ञानिक पद्धति के निम्न चार चरणों का उल्लेख किया है–

1. कार्यकारी प्राकल्पना
2. तथ्यों का अवलोकन एवं लेखन
3. एकत्रित तथ्यों का अवलोकन एवं संगठन
4. समानीकरण एवं नियमों का प्रतिपादन

सामाजिक शोध की प्रक्रिया को अधिक उत्तमता के साथ समझने की दृष्टि से उक्त विवरण और विश्लेषण से जो निष्कर्ष निकलता है उसके आधार पर शोध प्रक्रिया के निम्न चरणों का उल्लेख और विवेचन किया जा सकता है।

1. समस्या का चुनाव
2. सम्बन्धित उपलब्ध साहित्य का अध्ययन
3. प्राकल्पना का निर्धारण
4. इकाईयों का निर्धारण
5. अध्ययन क्षेत्र का निर्धारण
6. सूचना दाताओं का चुनाव

7. सूचना के स्त्रोतों एवं अध्ययन के उपकरणों एवं प्रविधियों का निर्धारण
8. उपकरणों एवं प्रविधियों का पूर्व परीक्षण एवं अग्रगायी अध्ययन
9. तथ्यों का अवलोकन एवं संकलन
10. तथ्यों का सम्पादन, संकेतन, वर्गीकरण, एवं सारणीयन।
11. तथ्यों का विश्लेषण व विवेचन
12. सामानीकरण एवं नियमों का प्रतिपादन

उल्लेखनीय है कि हर चरण की दूरी सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन और समीक्षा है–ताकि अन्य रिसर्च स्कॉलर्स की त्रुटियों को दोहराया न जा सके या यह जानने के लिए कि अन्य ने इस विषय के बारे में क्या कहा है।

यदि अध्ययन विषय से सम्बन्धित साहित्य का पुनरावलोकन किये बिना शोध कार्य प्रारम्भ कर दिया जाता है तो इससे सम्पूर्ण शोध प्रक्रिया के ही दोषपूर्ण होने की संभावना रहती है।

अतः आवश्यक है कि प्रारम्भ से ही शोध से सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन कर लिया जाये। इस प्रकार के साहित्य के अध्ययन से शोधकर्ता का कार्य कुछ सरल हो जाता है। इससे उसे अध्ययन की विभिन्न प्रविधियों का ज्ञान हो जाता है, शोध कार्य में आने वाली कठिनाइयों का पता चल जाता है, महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं की जानकारी मिल जाती है, किये हुए शोध कार्य को पुनः दोहराने की भूल से छुटकारा मिल जाता है तथा शोध कार्य की सही रूपरेखा तैयार करने में मदद मिलती है।

सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन कर लेने से **श्रीमती यंग**[20] के अनुसार निम्न लाभ मिलते हैं–

1. शोधकर्ता को अध्ययन के विषय में ऐसी अंतः दृष्टि (INSIGHT) प्राप्त होती है जिससे वह उचित प्रश्न कर सही सूचनाएँ एकत्रित कर सकता है।
2. शोध कार्य में उपयोगी पद्धतियों एवं प्राविधियों का उचित ज्ञान हो जाता है।
3. अवधारणों को समझने में एवं प्राकल्पनाओं का निर्माण करने में सहायता मिलती है।
4. किसी शोध कार्य को फिर से दोहराने की गलती से बचा जाता है और विषय से सम्बन्धित उन पहलूओं पर ध्यान दिया जाता है जिस पर अन्य शोधकर्ताओं ने पूर्व में ध्यान नहीं दिया। इससे शोध कार्य अधिक व्यवस्थित हो जाता हैं।

स्पष्ट है कि शोध विषय पर उपलबध साहित्य की शोध में महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

प्रस्तुत शोधकर्ता ने अपने शोध प्रस्ताव में उपलब्ध शोध साहित्य की समीक्षा करते हुए उल्लेख किया है कि संघात्मक शासन व्यवस्था में केन्द्र–राज्यों के मध्य विधायी, प्रशासनिक एवं वित्तीय सम्बन्धों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है और यह बताया है कि केन्द्र और राज्यों के मध्य अर्थात् राज्य को प्रादेशिक और स्थानीय मामलों में Freehand दिया जाये। भारत में संघ निर्माण के समय जब भारतीय संघ में ब्रिटिश प्रान्तों और देसी रियासतों का सम्मेलन किया गया तब कुछ राज्यों में राज्यों को स्पेशल दर्जा देते हुए संघ में शामिल किया गया, और यह विशेषदर्जा एक तरह से उनको दी जाने वाली स्वायत्तता ही थी, अर्थात् वे अपने मामलों में केन्द्र का दखल महसूस न करें तथा अपने स्वेच्छा के आधार अपने शासन कार्यों को कार्य रूप दे सके, इस संबंध में 07 मई, 1992 को ''मोलाना आजाद स्मृति भाषण'' देते हुए भूतपूर्व राष्ट्रपति आर.वेंकटरमण ने मत व्यक्त किया कि 'यदि हम समाज में विघटनकारी शक्तियों को नियंत्रित करना चाहते हैं तो हमें राज्यों के लिए अधिक स्वायत्तता की मांग पर विचार करना और उसके साथ सामंजस्य स्थापित करना होगा।'[22]

यदि ऐतिहासिक संदर्भों में इसकी जनाकारी दी जाये तो भारत में ईस्ट इण्ड़िया कम्पनी की समाप्ति के बाद ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की थी, कि भारत में धीरे–धीरे उदार प्रजातांत्रिक संस्थाओं की स्थापना की जायेगी इस क्रम में 1861, 1892, 1909, 1919 एवं 1935 में विभिन्न अधिनियम (Act.) पारित किये गए, 1919 के अधिनियम में प्रान्तों को कुछस्वायत्तता प्रदान की गई और उसे द्वैध शासन प्रणाली कहा गया परन्तु 1935 के Act. द्वारा प्रान्तों को पूर्ण रूप से स्वायत्तता प्रदान कर दी गई और उसे Provisional Attorney या प्रान्तीय स्वायत्तता कहा गया, और इसे 1935 के अधिनियम की सबसे प्रमुख विशेषता माना गया। प्रान्तीय स्वायत्तता के अन्तर्गत हर प्रान्त में एक विधान मण्डल एवं कार्यपालिका की व्यवस्था की गई, प्रान्तों के सभी विषय मंत्रियों को दिये गए जो विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी थी।

प्रान्तों की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित थी जिनका प्रयोग वह ब्रिटिश सरकार की ओर से करता था न कि गवर्नर जनरल के अधीन होकर करता था, गवर्नर सभी कार्य मंत्रियों की सलाह से करता था, इस तरह चुने हुए प्रतिनिधियों और प्रान्तीय विधान सभाओं द्वारा निर्मित मंत्रिमण्डल द्वारा जनहित में किये जाने वाले कार्यों की पद्धति को ही प्रान्तीय स्वयत्ता का नाम दिया गया। फिर भी जी.जी. गवर्नर जनरल को कुछ स्वविवेकीय शक्तियां दी गई जो प्रान्तीय स्वायत्तता के विरूद्ध थी।

यदि इस क्रम में आगे बढ़ते है तो प्रान्तीय स्वायत्तता के अर्थ की दृष्टि से दो पहलू हैं[23]

प्रान्तीय स्वायत्तता का पहला अर्थ यह है कि प्रान्तीय शासन में केन्द्र का अनावश्यक नियंत्रण ओर हस्तक्षेप ना हो, अर्थात, प्रान्तीय शासन केन्द्र के नियंत्रण से स्वतंत्र हो।

दूसरा अर्थ यह है कि प्रान्तीय कार्यपालिका प्रान्तीय व्यवस्थापिका के माध्यम से जनता के प्रति उत्तरदायी हो और प्रान्तीय कार्यपालिका का कार्यकरण उसके प्रान्तीय व्यवस्थापिका में विश्वास पर आधारित हो। इसी अर्थ को ध्यान में रखते हुए 1935 के अधिनियम में स्वायत्तता की व्यवस्था ने निम्न विशेषताए दृष्टिगत थी–

(i) प्रान्तीय कार्यपालिका शक्ति गवर्नर में निहित, अर्थात् प्रान्तों की कार्यपालिका शक्ति गवर्नर में निहित आवश्य थी परन्तु वे मंत्रियों की सलाह से काम करता था और उस पर यह निर्भर करता था कि वह शासन को किस हद तक उत्तरदायी बनने का अवसर देता है।

(ii) प्रान्तीय मंत्री जो शासन के वास्तविक संचालक थे उनको जनता के प्रति उत्तरदायी बनाया गया अर्थात् वे अपने पद पर तभी तक रह सकते थे जब तक कि विधानसभा में बहुमत के विश्वास पात्र हों।

गवर्नर की स्वविवेकीय शक्तियों के अतिरिक्त सभी मामलों में उत्तरदायित्व मंत्रियों को ही सौंपा गया था।

(iii) मताधिकार का विस्तार किया गया– मताधिकार का विस्तार अवश्य किया गया परन्तु हर प्रान्त में मताधिकार की व्यवस्था अलग–अलग थी और, मताधिकार की योग्यता ने अधिक महत्व सम्पत्ति को दिया जाता था।

प्रथम सदन विधानसभा का गठन इस विस्तृत मताधिकार के आधार पर तय किया गया, और इसी एक्ट द्वारा कुछ प्रान्तों जैसे मद्रास, बम्बई, बिहार, बंगाल, असम तथा संयुक्त प्रान्तों में द्विसदनीय विधान मण्डल की व्यवस्था भी की गई यह द्वितीय सदन विधान परिषद था।

(iv) उच्च न्यायपालिका की व्यवस्था– 1935 के एक्ट के द्वारा प्रान्तों में उच्च न्यायालय की स्थापना भी की गई और सर्वोच्च स्तर पर संघीय न्यायालय की व्यवस्था स्वीकार की गई।

1935 के एक्ट के अन्तर्गत फरवरी 1937 में जब निर्वाचन सम्पन्न हुए तब से प्रान्तों में स्वायत्तता का कार्यान्वयन आरम्भ हुआ इस एक्ट के अन्तर्गत प्रचलित शासन व्यवस्था 10 वर्ष तक रही परन्तु जिन प्रान्तों में कॉग्रेस मंत्रीमण्डल कार्य कर रहे थे वहा यह व्यवस्था केवल 2 वर्ष ही रही।

द्वितीय विश्व युद्ध में भारत सरकार के साथ प्रान्तीय सरकारों को बिना अनुमति के युद्ध में शामिल होने की घोषणा कर दी जिसके प्रतिरोध में कांग्रेस मंत्रीमण्डलों ने त्याग पत्र दे दिया और आठ प्रान्तों में गवर्नर शासन लागू कर दिया गया।

उल्लेखनीय है कि प्रान्तीय स्वायत्तता का सर्वाधिक लाभ बंगाल में मुस्लिम लीग ने 1946 तक शासन चलाकर उठाया, भारत के नये संविधान के लागू होने के बाद राज्यों की स्वायत्तता की निरन्तर मांग अखिल भारतीय संघीय शासन का सबसे अधिक विवादग्रस्त मुद्दा है, और यह मांग एक तरह से राज्यों के अधिकारों से सम्बन्धित है।

भारत की राज्य व्यवस्था में स्वायत्तता का प्रश्न शक्तिशाली किन्तु सरकार के खिलाफ निरन्तर उठती हुई एक जबरदस्त मांग है।

स्वायत्तता की मांग को उग्र रूप से उठाने का श्रेय क्षेत्रीय सांस्कृतिक प्रथकतावादी तत्वों को है।

भूमि पुत्रों के सिद्धान्त ने स्वायत्तता की मांग को बढ़ावा दिया है परन्तु स्वायत्तता का अर्थ स्वतंत्रता नहीं है यदि भारत के संदर्भ में आगे बढ़े वो भारत का संघीय ढाँचा अविनाशी संघ का है इसमें राज्य इकाईयों को शक्तिशाली केन्द्र सरकार के अधीन कार्य करना है संविधान की सांतवी सूची के अन्तर्गत राज्य सूची पर राज्यों को कानूनी बनाने का अधिकार है। अतः भारतीय संदर्भ में राज्यों की स्वायत्तता का अर्थ राज्यों में अधिकारों में यथा सम्भव वृद्धि करना और उन्हें वास्तविक बनाना है।[24]

यदि वास्तव में राज्यों द्वारा अधिक स्वायत्तता की मांग पर विचार करें तो स्पष्ट होता है कि चतुर्थ आम चुनाव (1967) के बाद उठी, जब कई राज्यों में गैर कांग्रेसी दलों की सरकार बनी। मद्रास के तत्कालीन मुख्यंत्री अन्ना दुरई ने कहा कि राज्यों को संविधान की ओर से स्वायत्तता प्राप्त है और उनके साथ नगरपालिकाओं के समान व्यवहार नही करना चाहिए, तमीलनाडू की करूणानिधि सरकार ने सितम्बर 1967 में केन्द्र राज्यों के सम्बन्धों पर विचार करने के लिए डॉ० पी.वी. राज मन्नार की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया जिसने सुझाया कि अन्तर्राज्यीय परिषद का गठन हो, उसके निर्णय बाध्यकारी

हो, समवर्ती सूची में कम से कम विषय रखे जायें, अवशिष्ट शक्तियां राज्यों को सौंप दी जाये, आयकर एकत्रित करने की शक्ति राज्यों को दी जाये तथा राज्यपालों की नियुक्ति राज्य सरकारों की सहमति के आधार पर की जाये, केन्द्र सरकार ने राज्य मन्नार समिति की अनुशंसाओं को यह कहते हुए नकार दिया कि इससे भारतीय संघ की एकता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, सन् 1977 में स्वायत्तता की मांग वाम मोर्चा सरकार (पश्चिमी बंगाल) के मुख्यमंत्री ज्योति बसू ने उठाई, जिसका समर्थन जम्मू कश्मीर के मुख्यमंत्री शेख अब्दुल्ला ने भी किया। तत्कालीन प्रधानमंत्री मोरारजी भाई देसाई ने राज्यों को अधिक अधिकार देने की बात को केन्द्र सरकार को कमजोर करने वाला माना और यह तर्क सामने रखा कि अनेक विविधताओं से परिपूर्ण भारत जैसे विशाल देश में राष्ट्रीय एकता के लिए केन्द्र का शक्तिशाली होना आवश्यक है। संविधान निर्माण के समय डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने स्वीकार भी किया था कि ''भारतीय संविधान ने एक दोहरे शासन की व्यवस्था की है, जिसे केन्द्र ने संघ और राज्य परिधि में है। दोनों को समुचित शक्तियां प्राप्त है, जिनका प्रयोग संविधान द्वारा प्रदान किये गए क्षेत्र के अन्दर ही किया जा सकता है संघ राज्यों का ऐसा समूदाय नहीं है जिसमें वे ढीले–ढाले रूप में मिल गये हों और ना ही वे संघ की सहायक संस्थाए है, जो संघ से अपनी शक्तियां प्राप्त करती हो। संघ तथा राज्य दोनों का निर्माण संविधान द्वारा किया गया है और दोनों ही संविधान से अपनी शक्तियां प्राप्त करते हैं एक अपने क्षेत्र में दूसरे के अधीन नहीं बल्कि एक ही शक्ति दूसरे की शक्ति की सहायक है।''[25]

1980 में स्वायत्तता की मांग करते हुए अकाली दल ने आन्नदपुर साहिब प्रस्ताव पारित किया इसमें राज्यों के लिए इतनी अधिक सीमा तक स्वायत्तता की मांग की गई थी जो कि भारतीय एकता और अखण्डता के लिए घातक हो सकती है।

1991 में उड़ीसा के मुख्यमंत्री बीजू पटनायक ने स्वायत्तता की मांग करते हुए प्रधानमंत्री को लिखे पत्र में मांग की कि केन्द्र के पास केवल रक्षा, विदेश और मुद्रा का अधिकार होना चाहिए, राज्यों को यह अधिकार दे दिया जाये कि वे अपनी योजनाए स्वयं बनाये तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थाओं से सीधे समझौते करें।

1992 में उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान के मुख्यमंत्रीयों ने राज्यों के लिए अधिक वित्तीय साधनों की मांग की, उसके बाद निरन्तर यह मांग बढ़ी की जो बड़े राज्य है उनको जहाँ मांग उठ रही है उसके आधार पर विभाजित कर दिया जाये, यह मांग उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, आन्द्रप्रदेश आदि अनेक राज्यों में थी। इसलिए सन् 2000 के

बाद उतरांचल, झारखण्ड, छत्तीसगढ़ और तेलंगाना राज्य की स्थापना की गई, अभी भी यह मांग जारी है कि राज्यों की संख्या बढ़ायी जानी चाहिए और आंगल भाषा में यह कहा जाता है कि "Smaller is the best" साथ ही यह भी तर्क दिया जाता है कि जब USA में 50 राज्य हो सकते हैं तो भारत को ऐसा करने में क्या अड़चन है? अतः अभी भी यह मांग समाप्त नहीं हुई है।

दूसरी तरफ जम्मू–कश्मीर, आन्द्रप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, नागालैण्ड, असम, सिक्किम आदि के लिए धारा 370, 371, 371 A, 371 B, 371 F के अन्तर्गत जो विशेष प्रावधान किये गये हैं वे उन्हें बनाये रखना चाहते हैं तथा और अधिक स्वायत्तता की मांग करते हैं। लेकिन केन्द्र की भाजपा नीति सरकार धारा 370 को हटकार दो राज्य जम्मू और कश्मीर वह लद्दाख बना दिये है। धारा 370 को समाप्त कर कश्मीर का विशेष दर्जा समाप्त कर दिया है और उसे केन्द्र प्रशासित राज्य बना दिया है।

उक्त विवरण से यही संकेत मिलता है कि केन्द्र को मजबूत रखते हुए भी राज्यों को इतनी वित्तीय शक्ति प्रदान की जाये जिससे वे साधनो के अभाव में अपने आप को असहाय और अप्रभावशाली महसूस ना करें, वास्तव में ''राज्यों कि स्वायत्तता का अर्थ न तो राज्यों की स्वतंत्रता से है और न सम्प्रभुता से है, यह एक ऐसा वैधानिक दर्जा है जिसमें राज्यों को कतिपय निर्दिष्ट क्षेत्रों में पूर्ण स्वतंत्रता तथा कम से कम संघीय हस्तक्षेप का आशवासन प्राप्त होता है।

राज्यों को अपने एक निश्चित क्षेत्र में स्वतंत्रता पूर्वक कार्य करने का अधिकार ही स्वायत्तता है।''[26]

वास्तविकता यह है कि संविधान निर्माताओं ने संविधान का निर्माण प्रायः उन सभी समस्याओं को ध्यान में रखकर किया है जो उस समय देश के सामने विद्यमान थी जैसे[27]

पहली महत्वपूर्ण समस्या उस विशाल जनसंख्या को एक सूत्र में बांधने की थी जिसमें अनेक भाषाओं के बोलने वाले, अनेक धर्मो के मानने वाले तथा अनेक प्रकार की सामाजिक प्रथाओं पर चलने वाले लोग थे। इस समस्या को ध्यान में रखते हुए हमारे संविधान में क्षेत्रीय स्वशासन या प्रादेशिक स्वायत्तता की व्यवस्था की गई है। विविध वर्गों को सांस्कृतिक व शैक्षिणिक अधिकार प्रदान किये जाने की व्यवस्था भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए है।

दूसरी समस्या उन भारतीय रियासतों और केन्द्रशासित प्रदेशों को जिनके प्रशासनिक व राजनीतिक स्तर ब्रिटिश भारत के प्रान्तों से पिछड़े हुए थे उनको प्रान्तों के साथ एक करके एक राजनीतिक इकाई के रूप में एक करने की थी इसलिए पहले राज्यों के चार वर्ग बनाये गये, तथा बाद में केवल राज्य व केन्द्र शासित क्षेत्रों के रूप में पुर्नगठित कर दिया गया।

तीसरी समस्या साम्प्रदायिक समस्या थी जो ब्रिटिश शासनकाल में और भी विकराल बना दी गई थी और जिसके कारण इस बात का भी भय था कि एक बार विभाजित हुए भारत को पुनः विभाजित होना ना पड़े। इस समस्या का समाधान हमारे संविधान में साम्प्रदायिक अल्पसंख्यकों, परिगठित जातियों, जनजातियों और विभिन्न पिछड़े वर्गों को विशेष संरक्षण व आरक्षण प्रदान किये जाने की व्यवस्था कर के किया गया।

चौथी समस्या यह थी कि केन्द्रीय शासन ऐसा हो कि जो उन तत्वों को दबाये जो विघटनकारी है तथा एकता का संवर्धन हो सके इस समस्या का समाधान संविधान निर्माताओं ने संघीय व्यवस्था के साथ एक शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना करके किया, अतः स्पष्ट है कि हमारे यहा प्रादेशिक स्वायत्तता और केन्द्रीय एकता का समन्वय किया गया है।

इस क्रम में सरकारिया आयोग की रिपोर्ट में उल्लेख किया गया है कि केन्द्र राज्यों के विशेषाधिकार छीन रहा है, उनके कार्य क्षेत्र में दखल दे रहा है तथा विषयों की राज्य सूची को कम करने समवर्ती सूची का विस्तार कर संस्थान का उल्घन कर रहा है आयोग ने माना है कि देश की एकता व अखण्डता के लिए मजबूत केन्द्र अनिवार्य है परन्तु केन्द्र के अतिरिक्त व्यापक क्षेत्र ऐसा बचा रह जाता है जहाँ राज्यों के सहयोग से भी सफलता प्राप्त की जा सकती है। अतः राज्यों की स्थिति को सुदृढ़ करने का प्रयास भी आवश्यक है। इसलिये निरन्तर राज्य स्वायत्तता की मांग की जाती रही है और इस मांग ने क्षैत्रीय आकांक्षाओं का जागृत करने का कार्य किया है तथा नये राज्यों के गठन हेतु आंदोलनों की आंधी सी आ गई। (उल्लेखनीय है कि अभी भारतीय संघ में 28 राज्य हैं, 08 केन्द्र शासित प्रदेश है तथा दिल्ली तथा पाँडीचेरी की अपनी विधानसभा है) आर्थिक स्वायत्तता की मांग को हवा मिली है क्षेत्रीय राजनीतिक दलों तथा क्षेत्रीय नेतृत्व मुखर होने लगा है और स्थानीय जनता में लामबंदी बढ़ी है। क्षेत्रीय मांगे संसद के पहल पर गूंजने लगी है। राज्यों के मध्य अनेक तरह के विवाद उग्र रूप से उठाये जाने लगे हैं। (विशेषकर नदी, जल तथा सीमा विवाद) इसमें कोई मीन–मेख नहीं है कि अधिकतर स्वायत्तता की मांग राजनीतिक हितों को ध्यान में रखकर की जाने लगी है। यदि हम अन्य स्वायत्तताओं पर विचार नहींकरें

तो यह तो मानना होगा कि वित्तीय स्वायत्तता तो न्यायोचित ही है। हां यह अवश्य कहा जा सकता है कि इसमें राज्यों का भी दायित्व बनता है कि वे अपने द्वितीय स्त्रोतों को बढ़ाने का प्रयास करें।

जहाँ तक प्रस्तुत शोध का संबंध है यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भले ही अनेक रचनाओं, लेखों, प्रतिवेदनों में स्वायत्तता का जिक्र किया गया हो परन्तु स्वतंत्र रूप से किसी ने प्रान्तीय स्वायत्तता पर शोध करके शोध प्रबन्ध की रचना की हो यह देखने में नहीं आया।

शोधार्थी ने उपलब्ध शोध साहित्य की विवेचना में सज्जन पोसवाल, आचार्य बालचन्द्र गोस्वामी प्रखर, द्वितीप सिंह मेहरोली आदि की रचनाओं का जिक्र किया है परन्तु यह अध्ययन प्रान्तीय स्वायत्तता पर नहीं है।

इस दृष्टि से प्रस्तुत शोध व्यवहारिक राजीति के मुद्दों, प्रस्थितियों, समसायिक समस्याओं को आधार मान कर ही परिपूर्ण किया गया है और इन्हीं के आधार पर कुछ मूलभूत निष्कर्ष निकाले गये हैं इस कारण यह अध्ययन अत्यन्त दिलचस्प, उपयोगी और राजनीति शास्त्र के साहित्य में एक महत्वपूर्ण योगदान है।

यह भी उल्लेखनीय है कि प्रान्तीय स्वाययतता पर शोध प्रबन्धों की अनुपस्थिति से जो अनावश्यक संशय बढ़ता रहा है उसे दूर करने के लिए इस अध्ययन में इसके शाब्दिक अर्थ के मूल तक भी पहुंचने का प्रयास किया गया है जैसे– इसका अर्थ हैस्वशासन का अधिकार, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, वसीयत की स्वतंत्रता, स्वशासन की स्वतंत्रता।

विद्वानों का मानना है कि ये सभी कार्य ग्रीक भाषा के दो शब्दों पर आधारित है–Autos एवं Nomous जिसका अभिप्राय है self law अर्थात स्वयं का कानून था स्वयं द्वारा निर्धारित कानून से शासित हो। इसे ध्यान में रखते हुए राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था में उच्च स्तर से लेकर निम्न स्तर तक व्यक्ति को स्वतंत्रता और स्वायत्तता प्रदान की जानी चाहिए तभी व्यक्ति का वास्तविक विकास हो सकता है। इसलिए कुछ शब्द कोषों ने यह भी स्वीकार किया है कि अंग्रेजी शब्द Autonomy का वास्तविक अर्थ स्वशासन, स्वतंत्रता,स्वायत्तता या स्वाधीन राज्य के रूप में ही लिया जाना चाहिए।

कुछ रचनाकारों ने इसका अर्थ स्वायत शासन भी बताया है इसे और अधिक सरल करने के क्रम में हम ये ही कह सकते हैं कि स्वायत्तता ऐसी शासन प्रणाली की ओर संकेत करती है जिसमें व्यक्ति की भागीदारी हो। चूंकि यह शोध प्रबन्ध राज्यों की स्वयातता के

संदर्भ में केन्द्र राज्यों के संबंधों के शोध अध्ययन से सम्बन्धित है। अतः यह निर्धारित करना होता है कि भारतीय संघ की क्या स्थिति है? भारतीय संघ में अवशिष्ट विषय किसके पास है? केन्द्र और राज्यों के मध्य शक्तियों का विभाजन किस प्रकार किया गया है? कुछ राज्यों को विशेष दर्जा क्यूं दिया गया है? संघ की इकाईयों को अपना संविधान बनाने की अनुमति क्यों नहीं है? संघ द्वारा इकाईयों की सहायता करने में भेदभाव क्यूं किया जाता है? आपातकाल की व्यवस्था बाध्यकारी क्यू है? इसे (भारतीय संघ) संघ शासन की सभी विशेषताओं से सम्बन्धित क्यूं नहीं बनाया गया है?

इन सभी प्रश्नों का उत्तर तलाशने के प्रयास में यही कहा जा सकता है कि संघ का निर्माण कुछ इस तरह से किया गया है कि केन्द्र अधिक शक्तिशाली रहे इसलिये निरन्तर स्वायत्तता की मांग उठती रही है। अतः इस मांग के औचित्य–अनौचित्य का परीक्षण करने के लिए यह शोध अध्ययन किया गया है जो अपने आप में मौलिक है। क्योंकि इससे सम्बन्धित ग्रन्थ तो मिलते हैं जिनमें केवल संदर्भ भर स्वायत्तता का उल्लेख किया गया है। भारतीय शासन और राजनीति की जो भी रचनाए है उनमें किसी ना किसी रूप में प्रान्तीय स्वायत्तता का उल्लेख किया गया है परन्तु इस विषय पर कोई सम्पूर्ण शोध प्रबन्ध नहीं है। अतः सम्पूर्ण शोध प्रबन्ध की आवश्यकता महसूस करते हुए यह शोध प्रबन्ध किया गया है जो अत्यन्त स्पष्ट, मौलिक और उपयोगी साबित होगा और इस दिशा में ज्ञान की जो शून्यता है उसको दूर करेंगा ऐसा शोधार्थी का का मानना है।

यह भी उल्लेखनीय है कि यह शोध निश्चित रूप से इस विषय पर भावी शोधकर्ताओं के लिए मार्गदर्शन का काम करेगा।

प्रस्तुत शोध के लिए इस अध्याय में जिन रचनाओं का उल्लेख करते हुए संदर्भ सूची में उनको स्वीकार किया गया है वो ही साहित्य इस विषय पर सामान्य जानकारी देता है परन्तु शोधकर्ता ने इसे व्यापक, परिपूर्ण, मौलिक ग्रन्थ का रूप दिया है जो शोध की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके माध्यम से संघ व्यवस्था को ठीक से समझ पाना संभव होगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. **संजय, नरूला** रिसर्च मेथडोलोजी, मुरारी लाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 2007 प्र. 14
2. उपर्युक्त पृ.सं. 12
3. सामाजिक अनुसंधान का अभ्यास 1998 पृष्ठ –112, उधर्त राम आहुजा अनुसंधान विधियाँ, पब्लिकेशन्स, जयपुर एण्ड, नई दिल्ली 2007 पृ. 29
4. उपर्युक्त पृ.सं. 29
5. **उद्वर्त–हरिवंश राय शर्मा**, साहित्यिक सुभाषित कोष, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली पृ. सं. 666
6. उपर्युक्त
7. उपर्युक्त
8. उपर्युक्त पृ.स. 667
9. उपर्युक्त पृ.सं. 667
10. **फडिया बी.एल.** शोध पद्धतिया साहित्य भवन पब्लीकेशन्स, आगरा, 2010 पृ.स. –23
11. **वर्मा, एस.एल.** राजनीति विज्ञान में अनुसंधान, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ.सं. 18–19
12. डिकिस्सन गेगो और जॉर्ज वॉटसन, राजनीतिक और सामाजिक पूछताछ, न्यूयॉर्क, जॉन वोले एंड संस, 1976उद्वर्थ
13. **वर्माएस.एल.** पृ.सं. 19
14. **वर्मा एस.एल.** पुर्वोत्त पृ.सं. 20–21
15. **सुकरात** का कथन, उद्धर्त–वृहत सुभाषित कोष, हरिवंश राय शर्मा, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली 2015 पृ.सं. 314
16. **सुकरात** का कथन, उद्धर्त–वृहत सुभाषित कोष, हरिवंश राय शर्मा, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली 2015 पृ.सं. 314
17. **मान्टेन व**ही पृ.सं. 308
18. वही पृ.सं. 309
19. **अगस्त कॉन्टे, सकारात्मक दर्शन द्वारा अनुवादित, एचत्र मर्थनिव**–उद्धर्त **फड़िया बी.एल.** शोध पद्धतियां, साहित्य भवन आगरा पृ.स. 22
20. **जार्ज ए. लूण्डबर्ग,** शोशियल रिसर्च, पी.पी.–19–11, उद्धर्त फुडीया बी.एल. उपरोक्त पृ. स. 22
21. **उद्धर्त फड़िया बी.एल.** शोध पद्धतियां, साहित्य भवन आगरा, 2010 पृ.स. 23
22. उपर्युक्त
23. **जैन पुखराज,** भारतीय राज व्यवस्था, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2000 पृ.सं. 60
24. **यादव डी.एस.,** भारतीय शासन एवं राजनीति, आस्था प्रकाशन, जयपुर–2012, पृसं. 77
25. **इंदा, उम्मेद सिंह** भारत में राज्य एवं राजनीति, आर.बी. एस.ए. पब्लिसर्स, जयपुर2005 पृ.सं. 57
26. **विप्लव,** भारतीय शासन एवं राजनीति, संदर्भ पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली–2010 पृ.सं. 173
27. **फड़िया, बी.एल.,** भारत में केन्द्र राज्य संबंध, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2007 पृ. सं. 275
28. **नारायण, इकबाल**, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन तथा भारत का संविधान, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा प्रथम, संस्करण–1981 पृ.सं. 244–245

अध्याय– तृतीय

भारतीय संघीय व्यवस्थाः

संघ व राज्यों का सम्बन्ध एवं स्वायत्तता का प्रश्नः

(INDIAN FEDERAL SYSTEM: RELATION BETWEEN THE UNIONAND THE STATESAND QUESTION OF PROVINAILAUTONOMY)

"भारत राज्यों का एक संघ होगा।" –भारतीय संविधान

"प्रारूप समिति के द्वारा इस(संघ) शब्द का प्रयोग यह स्पष्ट करने के लिए किया गया है कि भारत यद्यपि एक संघ–राज्य है, तथापि यह संघ–राज्य राज्यों के किसी प्रकार के पारस्परिक समझौते का परिणाम नहीं है तथा संघ–राज्य समझौते का परिणाम न होने के कारण किसी भी राज्य को संघ से अलग होने का अधिकार नहीं है।[1]–डॉक्टर अम्बेडकर

भारत–राज्यों का एक अक्षुण्ण संघ (India-An Indestrictible Union of States)

भारतीय संविधान द्वारा भारत के लिए एक संघीय शासन–व्यवस्था की स्थापना की गयी है। परन्तु उसके अन्तर्गत संघीय शासन की व्यवस्था के लिए सामान्यतः प्रयोग किये जाने वाले शब्द संघ–राज्य (Federation) का प्रयोग न किया जाकर संघ (Union) शब्द का प्रयोग किया गया है तथा संविधान के पहले अनुच्छेद में यह कहा गया है कि भारत राज्यों का एक संघ होगा।" भारतीय संघीय व्यवस्था के लिए 'संघ' शब्द का प्रयोग एक सुविचारित आधार पर किया गया है तथायह विचार है कि भारतीय संघ की स्थापना किन्हीं स्वतन्त्र राज्यों के बीच हुए किसी समझौते के आधार पर नहीं हुई है, वरन् उसकी स्थापना पहले से चली आ रही एक राष्ट्रीय इकाई की उन विविध इकाइयों की एकता से हुई है, जिन्हें यद्यपि निर्धारित क्षेत्र में स्वायत्तता प्राप्त है, तथापि जो संघ की अपृथक्करणीय इकाइयाँ हैं। संघ राज्य (Federation) शब्द को छोड़कर संघ (Union) शब्द का प्रयोग क्यों किया गया? इस बात को स्पष्ट करते हुए संविधान प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉक्टर अम्बेडकर ने संविधान–सभा में कहा था कि "प्रारूप समिति के द्वारा इस (संघ) शब्द का प्रयोग यह स्पष्ट करने के लिए किया गया है कि भारत यद्यपि एक संघ–राज्य है, तथापि यह संघ–राज्य, राज्यों के किसी समझौते का परिणाम नहीं है तथा संघ–राज्य समझौते का परिणाम न होने के कारण किसी भी राज्य को संघ से अलग होने का अधिकार नहीं

है।''[2]इस प्रकार हम देखते हैं कि संविधान द्वारा राज्यों के एक अक्षुण्ण संघ की स्थापना की गयी है।

भारतीय संघवाद सम्बन्धी विवाद
(ControversyAbout Indian Federalism)

भारतीय संघ से उसकी निर्माणक इकाइयाँ अलग नहीं हो सकतीं और इसलिए वह एक राज्यों को अक्षुण्ण संघ है, इस बात को लेकर भारतीय संघवाद एक विवादग्रस्त विषय बन गया है तथा कुछ विचारक इसे संघ मानते हैं, तो कुछ विचारक इसे पूरी तरह से संघ नहीं मानते।

सामान्यतः (1) लिखित व कठोर संविधान (WrittenAnd Rigid Constutition)(2) संविधान की सर्वोच्चता (Supremacy of the Constitution), (3) शक्तियों का विभाजन (Distribution of Powers), तथा (4) न्यायपालिका की स्वतन्त्रता (Independence of Judiciary) संघीय शासन की वे विशेषताएँ होती हैं, जिनसे युक्त होने के कारण किसी शासन को संघीय शासन कहा जाता है। भारतीय संघीय व्यवस्था में ये विशेषताएँ हैं या नहीं, यह देखकर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भारतीय शासन–व्यवस्था, संघीय है अथवा नहीं।

भारतीय संविधान के संघात्मकता के लक्षण
(Federal Features of the Indian Constitution)

भारतीय संविधान में उसके माध्यम से स्थापित शासन–व्यवस्था के लिए संघ–राज्य (Federation) शब्द का प्रयोग न किया जाकर संघ (Union) शब्द का प्रयोग किया गया है। किन्तु इससे यह नहीं समझा जाना चाहिए कि उसमें संघ राज्य (Federation) के कोई लक्षण नहीं हैं। भारतीय संविधान की संघीय व्यवस्था में संघात्मक शासन के सभी लक्षण पाये जाते हैं और वे निम्न प्रकार हैः–

1. **लिखित व कठोर संविधान (WrittenAnd Rigid Constitution)–**प्रत्येक संघीय व्यवस्था में यह लेखबद्ध करने के लिए कि संघ व उसकी इकाइयों का परस्पर क्या सम्बन्ध होगा तथा दोनों का शासन संचालन की योजना में क्या कार्य व स्थान होगा, एक लिखित संविधान होता है। संघ व उसकी इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्धों व शासन संचालन की योजना में उनके कार्य व स्थान को अत्यधिक सरलता से न बदला जा सके, इसके लिए संघीय व्यवस्था का संविधान सामान्यतः कठोर होता है। भारतीय संविधान

लिखित तो है ही, वह कठोर भी है, क्योंकि उसमें संशोधन करने के विधेयक भारतीय संसद द्वारा उसी विधि से पारित नहीं किये जा सकते, जिस प्रकार उसके द्वारा अन्य विधेयक पारित किये जा सकते हैं। कुछ विषयों से सम्बन्धित संविधान के उपबन्धों में संशोधन सामान्य बहुमत द्वारा नहीं, वरन् वह सम्पूर्ण सदस्य संख्या के आधे तथा उपस्थित व मत देने वाले सदस्यों की संख्या के दो–तिहाई बहुमत से ही किये जा सकते हैं। यही नहीं, कुछ विषयों में यह भी आवश्यक है कि उक्त विधि से पारित संशोधन विधेयक तभी पारित माने जाये जब कम-से-कम आधे राज्यों के विधानमण्डल भी उसे अपनी स्वीकृति दे दें।

2. **संविधान की सर्वोच्चता (Supremacy of the Constitution)**–संघीय व्यवस्था में संघ का संविधान संघ का सर्वोच्च कानून होता है। उसे मानने के लिए और उसके अनुसार कार्य करने के लिए केन्द्र व इकाइयों के शासनों के सभी अंग बाध्य होते हैं तथा संघ अथवा इकाइयों की व्यवस्थापिकाओं द्वारा उसके विपरीत कोई कानून पारित नहीं किये जा सकते। भारतीय संघीय व्यवस्था में भी संविधान की स्थिति ऐसी ही है। केन्द्र व इकाइयों के शासनों द्वारा उसका अनुपालन आवश्यक है तथा केन्द्र अथवा राज्य किसी का भी ऐसा कोई कानून व कार्य मान्य नहीं हो सकता, जो संविधान की किसी व्यवस्था के विपरीत हो। भारत के राष्ट्रपति, राज्यपाल तथा अन्य ऊँचे से ऊँचे पदाधिकारियों द्वारा संविधान के अनुसार कार्य करने की शपथ ली जाती है। इस प्रकार संविधान सर्वोच्च है, सब उसके अधीन हैं और कोई उससे ऊपर नहीं है।

3. **शक्तियों का वितरण (Distribution of Powers)**–संघीय व्यवस्था में संघ व इकाइयों के बीच शासन सम्बन्धी शक्तियों का विभाजन किया जाता है, जिससे दोनों ही शासन अपने–अपने लिए निर्धारित क्षेत्र में कार्य कर सकें। इस दृष्टि से भारतीय संविधान संधीय है, क्योंकि उसमें संघ व राज्यों के बीच शासन की शक्तियों का वितरण किया गया है। संघीय सूची में 97 विषय हैं। इन विषयों से सम्बन्धित शासन का अधिकार केन्द्रीय शासन को प्राप्त है। संघ की संसद उन विषयों के ऊपर विधि–निर्माण कर सकती है तथा संघ की कार्यपालिका उनसे सम्बन्धित शासन कार्य कर सकती है। राज्य–सूची में 66 विषय हैं। इनसे सम्बन्धित शासन का अधिकार राज्यों के शासनों को प्राप्त है। राज्यों के विधानमण्डल इन विषयों पर विधि–निर्माण तथा राज्यों की कार्यपालिकाएँ उनसे सम्बन्धित शासन कार्य कर सकती हैं। उक्त दोनों सूचियों के अतिरिक्त संविधान में एक तीसरी सूची भी है, जिसे समवर्ती सूची कहा जाता है। इस सूची में 47 विषय हैं तथा उनसे सम्बन्धित शासन का अधिकार संघ व राज्यों की सरकारों दोनों को है, यद्यपि इस सम्बन्ध में व्यवस्था

यह है कि संघ व राज्यों के इन विषयों से सम्बन्धित कानूनों में परस्पर यदि कोई विरोध हो, तो ऐसी दशा में संघ के कानून की व्यवस्था चलेगी।

इस प्रकार हमारे संविधान में चूंकि शासन की शक्तियों का वितरण विधिवत किया गया है तथा इससे सम्बन्धित संविधान की व्यवस्था में कोई परिवर्तन संघ व राज्यों दोनों की ही सरकारों की सहमति से हो सकता है, भारतीय संविधान एक संघीय व्यवस्थाः संघ व राज्यों का सम्बन्ध भारतीय संविधान से है। संविधान–सभा में डॉक्टर अम्बेडकर ने इस बात पर ही बल देते हुए कहा था कि "संघीय सरकार का मुख्य लक्षण संविधान द्वारा विधायी व कार्यपालिका सत्ता का केन्द्र तथा एककों में वितरण करना है। इस सिद्धान्त का हमारे संविधान में अनुसरण किया गया है। अतः यह कहना गलत है कि राज्यों को केन्द्रों के अधीन रखा गया है। केन्द्र अपनी इच्छा से इस विभाजन रेखा को बदल नहीं सकता और न ही न्यायालय इसमें कोई परिवर्तन कर सकता है।[3]

4. न्यायपालिका की सर्वोच्चता (Independence of Judiciary)–हमारे संविधान में संघीय शासन का वह लक्षण भी विद्यमान है, जिसे न्यायपालिका की स्वतन्त्रता कहा जाता है। संविधान द्वारा संविधान के रक्षक के रूप में एक स्वतन्त्र उच्चतम न्यायालय तथा राज्यों में उच्च न्यायालयों की स्थापना की व्यवस्था की गयी है, जिन्हें संघीय संसद या राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा पारित विधियों का न्यायिक पुनःनिरीक्षण करने का अधिकार है और वे ऐसे कानूनों को अवैध घोषित कर सकते हैं, जो संविधान की व्यवस्था के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त केन्द्र व राज्यों अथवा राज्यों के बीच उठने वाले विवादों का निपटारा करना संघ के सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार में रखा गया है, जिसके परिणामस्वरूप सर्वोच्च न्यायालय का यह कार्य हो जाता है कि वह यह देखें कि केन्द्र व राज्यों की सरकारें अपने–अपने अधिकार क्षेत्र के भीतर रहते हुए कार्य करें।

संविधान के उक्त प्रावधानों के विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट है कि हमारे संविधान द्वारा स्थापित शासन की व्यवस्था एक संघीय शासन की व्यवस्था है।

भारतीय संविधान के एकात्मकता के लक्षण
(Unitary Features of the Indian Constitution)

एक विशाल व विविधतापूर्ण देश का संविधान होने के नाते भारतीय संविधान पूर्णतः एकात्मक नहीं हो सकता था। अतः संविधान निर्माताओं ने उसका निर्माण संघीय शासन के आधार पर किया। परन्तु संविधान निर्माता इस बात के प्रति भी सजग थे कि संघीय

व्यवस्था के कारण केन्द्र अत्यधिक कमजोर न हो जाए, क्योंकि भारतीय इतिहास के इस तथ्य को वे जानते थे कि जब–जब केन्द्र अत्यधिक कमजोर हुआ था, भारत के विविध भागों द्वारा सत्ता हथियाने की प्रवृत्ति बलवती हो उठी थी और उसके परिणामस्वरूप भारत पराधीनता तक पहुँच गया था। श्री के० एम० मुंशी ने संविधान सभा में कहा भी था कि वे भारत के गौरवपूर्ण दिन थे, जब देश में एक केन्द्रीय सत्ता थी और वे इसके सर्वाधिक दुर्भाग्यपूर्ण दिन थे, जब प्रान्तों द्वारा केन्द्रीय सत्ता को छिन्न–भिन्न कर दिया गया था।[4] संविधान के निर्माता ऐसी स्थितियों की पुनरावृत्ति नहीं होने देना चाहते थे और यही कारण है कि उन्होंने हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन तथा संविधान के रूप को संघीय रखते हुए भी उसमें कुछ ऐसी व्यवस्थाएँ की हैं, जिससे केन्द्रीय सत्ता सशक्त बनी रहे।

इन व्यवस्थाओं का विवेचन हम निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं :

1. **संघ व राज्यों के एक सम्पूर्ण संविधान का निर्माण (Framing of one Constitution as a whole for the Union and the States)**–हमारे संविधान निर्माताओं ने एक ही सम्पूर्ण संविधान का निर्माण किया है, जिसमें उन्होंने संघ व राज्यों दोनों की ही शासन–व्यवस्था का वर्णन किया है। भारत के संघ के इकाई राज्यों को अपने–अपने संविधान अलग–अलग बनाने का अधिकार प्राप्त नहीं है, जैसा अमरीका में है। संघ व राज्यों दोनों का ही संविधान एक संविधान–सभा ने बनाया है तथा उसमें निर्धारित व्यवस्था के अनुसार ही उनका शासन चलता है।

2. **संविधान के संशोधन में संघ को अधिक शक्ति (More power to Union in theAmendment of the Constitution)–** संविधान के संशोधन के सम्बन्ध में भारतीय संविधानिक व्यवस्था में राज्यों को पहल करने का कोई अधिकार नहीं है तथा संविधान के संशोधन का कोई भी प्रस्ताव केवल संघ की संसद द्वारा ही किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त संविधान के अनेक उपबन्धों का संशोधन संसद साधारण विधि निर्माण की प्रक्रिया से ही कर सकती है तथा कुछ महत्त्वपूर्ण उपबन्धों का संशोधन वह दोनों सदनों के बहुमत के द्वारा कर सकती है। संविधान के केवल कुछ उपबन्धों के संशोधन के लिए आधे राज्यों की विधान सभाओं की स्वीकृति की आवश्यकता होती है। इस प्रकार संविधान के संशोधन के सम्बन्ध में राज्यों की अपेक्षा संघ को अधिक शक्ति प्राप्त है तथा यह हमारे संविधान का एक एकात्मक लक्षण है।

3. **सम्पूर्ण भारत के लिए एकीकृत न्यायालयों की व्यवस्था (Unified Judicial Courts System)**–संघ राज्यों में साधारणतः दोहरी न्याय–प्रणाली होती है, जिसके

अन्तर्गत संघ व राज्यों के कानूनों को लागू करने के लिए संघीय न्यायालयों (Federal Courts), तथा राज्यों के न्यायालयों (State Courts) की अलग–अलग श्रृंखला होती है। अमरीका व आस्ट्रेलिया में न्यायालयों की ऐसी ही व्यवस्था है। परन्तु भारतीय संघ में न्यायालयों की व्यवस्था एकीकृत है तथा देश के न्यायालय न्यायालयों की उस एक ही श्रृंखला की कड़ियाँ हैं, जिसके शीर्ष पर उच्चतम न्यायालय (Supreme Court), मध्य में राज्यों के उच्च न्यायालय (State High Courts) तथा नीचे के स्तर पर अनेक जिलों के न्यायालय (District Courts) व अधीनस्थ न्यायालय (Subordinate Courts) हैं। इसके अतिरिक्त देश के सभी न्यायालय संघ अथवा राज्य सरकार दोनों के ही कानूनों के अन्तर्गत मुकदमों की सुनवाई कर सकते हैं। सम्पूर्ण भारत के लिए दीवानी व फौजदारी की प्रमुख विधियों के लिए भी एकरूपता की व्यवस्था की गयी है।

4. इकहरी नागरिकता की व्यवस्था (Single Citizenship System) सामान्यतः संघ राज्यों के निवासी दो – केन्द्र व राज्यों की सरकारों के नागरिक होते हैं। अमरीकी संविधान में नागरिकता की ऐसी ही दोहरी व्यवस्था है। परन्तु भारत के संविधान में नागरिकता की व्यवस्था इकहरी ही रखी गयी है तथा यहाँ के निवासी अलग–अलग राज्यों के नागरिक न होकर केवल एक संघ के ही नागरिक हैं। यह व्यवस्था एकात्मक शासनों जैसी है, यद्यपि भारत की राष्ट्रीय एकता को दृढ़ करने की दृष्टि से उसे आवश्यक समझा गया है।

5. संसद के ऊपरी सदन में राज्यों का असमान प्रतिनिधित्व (Unequal Representation of States in the Upper House of the Parliament)साधारणतः संघ राज्यों में विधायिका के ऊपरी सदन में संघ के इकाई राज्यों का प्रतिनिधित्व समान होता है। प्रतिनिधित्व में राज्यों की जनसंख्या अथवा आकार के आधार पर कोई भेद–भाव नहीं किया जाता। परन्तु भारत में ऐसा नहीं है। भारत की संसद के ऊपरी सदन में संघ के इकाई राज्यों के सदस्यों की संख्या एक–सी नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि संघ की इकाइयों की स्थिति की समानता के संघ निर्माण के सिद्धान्त का पालन नहीं किया गया है।

6. संघ के प्रमुख द्वारा राज्यों के प्रमुख की नियुक्ति (Appointment of the Heads of States by the Head of the Union)–जैसा अमेरीका में होता है, प्रायः संघ–राज्यों में राज्यों के प्रमुखों की नियुक्ति संघ के प्रमुख द्वारा नहीं होती। अमेरीका के राज्यों में राज्यपालों की नियुक्ति अमेरीका के राष्ट्रपति द्वारा नहीं की जाती, वरन् वहाँ उनका निर्वाचन होता है। परन्तु भारत के राज्यों में राज्यपालों की नियुक्ति भारत के

राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। वे अपने पद पर भी राष्ट्रपति के प्रसाद–पर्यन्त ही रहते हैं। उनकी स्थिति राष्ट्रपति के प्रतिनिधि की होती है तथा उसे राष्ट्रपति के प्रति अपने विश्वास को बनाये रखना पड़ता है। चूंकि राष्ट्रपति के विश्वास व अधीनता का अर्थ केन्द्रीय सरकार का विश्वास व उसकी अधीनता होती है, इससे संघ के इकाई–राज्यों की स्थिति भी संघ की स्वतन्त्र इकाइयों की नहीं, वरन् उसके अधीनस्थ इकाइयों की हो जाती है। यह संघात्मकता के सिद्धान्त के विपरीत है। उन स्थितियों में जब केन्द्र व किसी राज्य में दो भिन्न–भिन्न राजनीतिक दलों की सरकार होती है, यह प्रायः देखा जाता है कि राज्यपाल राज्य की सरकार के विपरीत केन्द्र की सरकार के निर्देश का पालन करते हैं।

7. भारतीय संघ में केन्द्र–शासित प्रदेशों का अस्तित्व (Existence of CentrallyAdministeredAreas in the Union)–संघ में कुछ ऐसे प्रदेशों का अस्तित्व जो उनके अपने विधानमण्डलों व अपनी सरकारों के होते हुए भी, सीधे केन्द्र की सरकार के अधीन रहकर कार्य करते हैं, संघात्मकता के सिद्धान्त के विपरीत है। भारतीय संघ में जहाँ 29 पूर्ण राज्य हैं, वहाँ 07 केन्द्र-शासित प्रदेश भी हैं। इन प्रदेशों के सम्बन्ध में केन्द्रीय शासन को पूरा अधिकार है तथा इनके शासन का नियन्त्रण राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त प्रशासकों के माध्यम से करता है।

8. केन्द्र पर राज्यों की आर्थिक निर्भरता (Economic Dependence of States on the Centre)–शासन की सब इकाइयों की वास्तविक शक्ति उनकी वित्तीय क्षमता पर निर्भर करती है। भारतीय संघ में केन्द्र की ओर से राज्यों को अनेक प्रकार के अनुदान दिये जाते हैं। योजना आयोग (Planning Commission) द्वारा निर्धारित ढाँचे के अनुसार राज्यों को अपनी आर्थिक योजनाएँ बनानी होती हैं, तथा उनका क्रियान्वय भी केन्द्र द्वारा दी गयी वित्तीय सहायता पर निर्भर रहता है। सामान्यतः भी राज्यों को वित्त का आवंटन केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त वित्त आयोग (Finance Commission) की सिफारिशों के अनुसार किया जाता है। इस प्रकार वित्तीय दृष्टि से राज्यों की स्थिति संघ के प्रति अधीनता की है और यह संघात्मकता के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

9. संघ से अलग होने के राज्यों के अधिकार का अस्तित्व(Non existence of the right of States to cecede from the Union)–संघ राज्यों में संघ के निर्माणक इकाई–राज्य स्वेच्छा से संघ का निर्माण करते हैं तथा उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार संघ से अलग होने का अधिकार होता है। अमरीका व रूस के संविधानों में संघ से अलग होने के राज्यों के अधिकार को स्वीकार किया गया है, परन्तु भारत में ऐसा नहीं है। भारतीय संविधान राज्यों के ऐसे अधिकार को स्वीकार नहीं करता है।

10. राज्यों की सीमाओं के पुनर्निर्धारण का संघीय संसद का अधिकार (Power of Union Parliament to refixthe Boundaries of States)–जैसा संयुक्त राज्य अमरीका व आस्ट्रेलिया के संविधानों में है, संघ के राज्यों की सीमाओं में कोई परिवर्तन केवल उनकी सहमति से ही हो सकता है। परन्तु भारतीय संविधान के अनुच्छेद 3 के अनुसार संघ की संसद को यह अधिकार है कि (1) किसी राज्य से उसके किसी क्षेत्र को अलग करके अथवा दो या अधिक राज्यों को मिलाकर कोई नया राज्य बना दे, (2) किसी राज्य के क्षेत्र में कमी अथवा वृद्धि कर दे, तथा (3) किसी राज्य की सीमाओं या उसके नाम को बदल दे। संविधान में यह व्यवस्था अवश्य है कि ऐसा करते समय राष्ट्रपति द्वारा सम्बन्धित राज्य अथवा राज्यों के विचार की जानकारी की जायेगी, परन्तु उन विचारों को स्वीकार करना या न स्वीकार करना राष्ट्रपति के अधिकार की बात है। जैसा उच्चतम न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश गजेन्द्र गड़कर ने कहा है, 'संविधान के अनुच्छेद 3 के द्वारा संसद को प्रदान की गयी शक्तियाँ संघीय व्यवस्था के सार को ही समाप्त करने वाली हैं।''[5]

11. अन्तरराज्यीय परिषदों की स्थापना की व्यवस्था (Provision for the Establishment of Interstate Councils)– संविधान के 263वें अनुच्छेद के अनुसार जनहित में आवश्यक होने पर राष्ट्रपति कुछ राज्यों के लिए ऐसी अन्तरराज्यीय परिषद की स्थापना कर सकता है, जो उनके पारस्परिक विवादों की जाँच करे, उन राज्यों के समान हित के विषयों से सम्बन्धित जानकारी प्राप्त करे तथा उनके सम्बन्ध में सामान्य नीति निर्धारण किये जाने के उद्देश्य से अपने सुझाव दे। यह कहना अनावश्यक होगा कि इस प्रकार की व्यवस्था से राज्यों के एकीकरण की प्रवृत्ति को समर्थन मिलता है तथा उनके स्वतन्त्र अस्तित्त्व का महत्त्व कम होता है।

12. कुछ प्रशासनिक एकरूपताओं की व्यवस्था (Provision of certainAdministrative Uniformities)–सम्पूर्ण भारत के लिए एकीकृत न्याय व्यवस्था के विषय में पहले कहा जा चुका है। कुछ प्रशासनिक बातों में भी सम्पूर्ण भारत के लिए एक ही व्यवस्था की गयी है। अखिल भारतीय लोक सेवाएँ (All IndiaAdministrative Services), संघीय संसद व राज्यों की विधानसभाओं दोनों के निर्वाचन की व्यवस्था कर वाला एक निर्वाचन आयोग (Election Commission), सम्पूर्ण भारत के लिए एक नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक (Auditor GeneralAnd Comptroller of India) आदि प्रशासन के वे अभिकरण हैं, जो इस श्रेणी में आते हैं। योजना आयोग (Planning Commission) भी एक ऐसा ही निकाय है, जिसका कार्य–क्षेत्र अखिल भारतीय है।

13. संकटकाल में शासन–व्यवस्था की एकात्मकता (Unitary System of Government in Emergency)– भारतीय संविधान का बारहवाँ भाग भारतीय शासन की उस व्यवस्था का वर्णन करता है, जो भारत में उस समय प्रचलन में होती है, जिस समय देश में संकटकाल की घोषणा कर दी जाय। जिस समय राष्ट्रपति द्वारा संकटकाल की घोषणा कर दी जाती है, उस समय देश की संघीय व्यवस्था समाप्त हो जाती है और शासन का रूप एकात्मक हो जाता है। संकट काल के दौरान संघीय संसद राज्य सूची के विषयों पर विधि–निर्माण कर सकती है। संघीय सरकार राज्यों की सरकारों को ऐसे प्रशासनिक निर्देश दे सकती है जिनका पालन किया जाना उनके लिए आवश्यक होता है, तथा वह राज्यों के वित्तीय साधनों' में भी हेर–फेर कर सकती है।[6] आपातकाल की घोषणा बाह्य आक्रमण के आधार पर ही नहीं, वरन् वह आन्तरिक सशस्त्र विद्रोह, राज्यों के संवैधानिक तन्त्र की विफलता तथा आर्थिक संकट के आधार पर भी जारी की जा सकती है तथा ऐसा होने पर शासनतन्त्र का रूप संघात्मक न रहकर एकात्मक हो जाता है। यह कहना अनावश्यक है कि यह व्यवस्था संघात्मकता के सिद्धान्त के विपरीत है।

14. सामान्य–काल में भी केन्द्र सामान्यतः राज्यों से अधिक शक्तिशाली है। (Even in Normal Times the Centre is more powerful than the States)–भारतीय संविधान में कुछ उपबन्धों के द्वारा केन्द्र को सामान्य काल में भी राज्यों की तुलना में कुछ अधिक शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं। अनुच्छेद 249 के द्वारा राज्यसभा को यह अधिकार दिया गया है कि वह अपने दो–तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित करके कुछ समय के लिए संसद को राज्य–सूची के विषयों पर विधि–निर्माण करने का अधिकार दे सके। अनुच्छेद 252 के अनुसार दो या उससे अधिक राज्यों के विधानमण्डल यदि राज्य–सूची के किन्हीं विषयों के सम्बन्ध में ऐसा प्रस्ताव पारित कर दें, तो भी संघीय संसद को उन राज्यों के लिए व उन विषयों पर विधि निर्माण करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। संविधान के अनुच्छेद 253 के अनुसार किसी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के पालन के लिए भी संसद किसी भी विषय के सम्बन्ध में सम्पूर्ण भारत या उसके किसी भाग के लिए विधि निर्माण कर सकता है। संघ की ओर से राज्यों की सरकारों को कुछ प्रशासकीय निर्देश भी दिये जा सकते हैं तथा वह अपने कुछ कार्यों को राज्यों की सरकारों के द्वारा किये जाने की व्यवस्था भी कर सकती है।

भारतीय संघवाद का वास्तविक रूप–सहयोगी संघवाद (The Real Nature of Indian Federalism—Co-operative Federalism)

भारतीय संविधानिक व्यवस्था की संघात्मकता व एकात्मकता के लक्षणों के उक्त विवेचन से जैसा स्पष्ट है, उसमें संघीय शासन के सब लक्षण पाये जाते हैं। परन्तु उसके अन्तर्गत कुछ ऐसी व्यवस्थाएँ भी हैं, जो उसे एकात्मक बनाती हैं तथा इस कारण कुछ विचारकों ने यह मत व्यक्त किया है कि भारत के संविधान द्वारा स्थापित शासन का केवल ढाँचा ही संघात्मक है और उसकी आत्मा एकात्मक है। उदाहरणार्थ, प्रोफेसर के० सी० ह्वयर ने भारतीय संविधान के विषय में कहा है कि "उसके द्वारा वस्तुतः एक ऐसी शासन–व्यवस्था को स्थापना की गयी है, जो अर्द्धसंघीय है तथा जिसका रूप प्रायः निक्षेपणात्मक है, वह एक ऐसे संघीय राज्य की स्थापना नहीं करता, जिसमें एकात्मकता के लक्षण गौण हों, वरन् वह ऐसे एकात्मक शासन की स्थापना करता है, जिसमें संघात्मकता के लक्षण गौण हैं।"[7] इसी प्रकार के० पी० मुखर्जी का मत है कि "भारतीय संविधान असंघीय अथवा एकात्मक है।"[8]

इसके विपरीत कुछ विचारक ऐसे हैं, जिनका विचार है कि भारतीय संविधान में केन्द्र को इतना शक्तिशाली नहीं बनाया गया है, जितना इसे बनाया जाना चाहिए था। उदाहरणार्थ, लोक–प्रशासन के प्रसिद्ध अमरीकी विद्वान डी० एच० पाल एपिलवी का मत है कि कोई भी अन्य राष्ट्रीय सरकार कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए राज्य–सरकारों पर उतना निर्भर नहीं रहती, जितना भारत की केन्द्रीय सरकार रहती है। भारतीय संघ के राज्यों के राजस्व के साधन अन्य संघों के राज्यों के राजस्व के साधनों से कहीं अधिक हैं। राज्यों के पक्ष में इन साधनों की दिन–प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही है, क्योंकि लोगों को प्रदेशीय स्वशासन की माँग अधिकाधिक बढ़ती जा रही है। विकास योजनाओं को पूरा करने के सम्बन्ध में भारत का संघ राज्य पर बहुत अधिक निर्भर है।"

परन्तु भारतीय संघीय व्यवस्था के विषय में उक्त दोनों ही धारणाएँ पूर्ण रूप से सत्य नहीं हैं। भारतीय संघीय व्यवस्था में राज्यों के व्यक्तित्व को उचित सम्मान प्रदान किया गया है तथा उसमें संघीय व्यवस्था के वे सभी लक्षण विद्यमान हैं, जो साधारणतः उसमें होते हैं। परन्तु इसके साथ ही साथ इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि केन्द्र इतना कमजोर न हो जाये तथा राज्य इतने अलग–अलग न हो जाये कि भारतीय संघ की एकता ही बिखर जाये तथा यही कारण है कि उसमें अनेक वे व्यवस्था भी की गयी हैं, जो संघ

को एक सूत्र में बाँधने वाली होने के कारण एकात्मक शासन जैसी हैं और उन्हीं के कारण भारत की संघीय व्यवस्था के एकात्मक होने का आरोप लगाया जाता है।

भारतीय संविधान में केन्द्र व राज्य दोनों का कार्यक्षेत्र निर्धारित है। वे अपने–अपने निर्धारित क्षेत्र में कार्य करने के लिए स्वतन्त्र हैं। परन्तु उसके साथ ही साथ उनके लिए यह आवश्यक है कि वे परस्पर असहयोग व प्रतिरोध की स्थिति उत्पन्न न होने दें तथा देश की अखण्डता की रक्षा करते हुए परस्पर सहयोग से कार्य करें। इसी कारण यह कहा जाता है कि भारतीय संघ वस्तुतः संघवाद की परम्परागत परिभाषा में आने वाला संघ नहीं है, वरना वह एक सहयोगी संघवाद (Co-ope-rative Federalism)का उदाहरण है, जिसमें न तो राज्य अपने को संघ से और न संघ अपने को राज्यों से भिन्न मानकर जन–जीवन को सामान्य बनाये रख सकते हैं। भारत की शासन की कार्यप्रणाली की व्यावहारिक स्थिति भी यही दिखाती है कि केन्द्र व राज्यों के बीच के अधिकांश कार्यों में उनमें परस्पर सहयोग हो। प्रायः प्रतिवर्ष होने वाले राज्यपालों व मुख्यमन्त्रियों के सम्मेलन, योजना आयोग द्वारा पूरे भारत व राज्यों की पंचवर्षीय योजनाओं को सामंजस्यपूर्ण बनाये जाने के प्रयत्न, राष्ट्रीय विकास परिषद (National Development Council), अन्तर राज्यीय परिषद (Inter&state Council), क्षेत्रीय परिषदें (Regional Council), विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (University Grants Commission) आदि संस्थाओं के क्रियाकलाप यही दिखाते हैं कि केन्द्र और राज्यों के द्वारा एक–दूसरे पर अपने निर्णय थोपने से नहीं, वरन् दोनों के पारस्परिक सहयोग से देश के हित के अधिकांश महत्त्वपूर्ण कार्य किये जा सकते हैं।

संघ व राज्यों के सम्बन्ध
(Relations between the UnionAnd the States)

संघ व राज्यों के बीच शासन की शक्तियों का विभाजन भारतीय संविधान की एक विशेषता है। शक्तियों के इस विभाजन के आधार पर केन्द्र व राज्यों के बीच जो सम्बन्ध हैं, उनकी व्यवस्था संविधान के भाग 11, 12 व 13 में दी गयी है। भारतीय संविधान की व्यवस्था के अनसार संघ व उसके राज्यों के सम्बन्धों का अध्ययन हम तीन शीर्षकों–विधि सम्बन्ध, प्रशासकीय सम्बन्ध और वित्तीय सम्बन्ध के अन्तर्गत कर सकते हैं:

विधायी सम्बन्ध (Legislative Relations)

संघ व राज्यों के विधायी सम्बन्धों का संचालन उन तीन सूचियों के आधार पर होता है, जिन्हें संघ सूची (Union List), राज्य सूची (State List) व समवर्ती सूची (Concurrent List) कहा जाता है।

1. **संघ–सूची (Union List)–**संघ की सूची में साधारणतः वे विषय रखे गये हैं, जिनका महत्त्व अखिल भारतीय है। इन विषयों के ऊपर केवल संघीय सरकार ही कानून बना सकती है। इस सूची के कुल 97 विषय हैं, जिनमें रक्षा, परराष्ट्र–सम्बन्ध, युद्ध व सन्धी, अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन, समुद्री अपराध, अन्तर राज्यीय व्यापार तथा वाणिज्य, मुद्रा व बैकिंग, बीमा, तेल क्षेत्र, खनिज क्षेत्र, नमक, अफीम, जनसंख्या, लोकसेवा आयोग आदि विषय मुख्य हैं।

2. **राज्य–सूची (State List)–**इस सूची में साधारणतः वे विषय रखे गये हैं, जो क्षेत्रीय महत्त्व के हैं। इस सूची के विषयों पर साधारणतः राज्यों की सरकारें ही कानून बना सकती हैं। इस सूची में 66 विषय हैं, जिनमें से पुलिस, न्याय, जेल, स्थानीय शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सड़के, सिंचाई, कृषि व मनोरंजन आदि विषय मुख्य हैं।

3. **समवर्ती सूची (Concurrent List)–**इस सूची में साधारणतः वे विषय सम्मिलित किये गये हैं, जिनका महत्त्व क्षेत्रीय व संघीय दोनों ही दृष्टियों से है। इस सूची में 47 विषय हैं, जिसमें दण्ड–विधि, फौजदारी व दीवानी की प्रक्रिया, विवाह व विच्छेद, आर्थिक व सामाजिक नियोजन, श्रम–कल्याण, कारखाने, बिजली, समाचार–पत्र, शिक्षा, धार्मिक व धर्मार्थ संस्थाएँ आदि विषय प्रमुख हैं। इस सूची के विषय में यह याद रखने की बात है कि इसमें सम्मिलित विषयों पर संघ व राज्य के कानूनों में यदि विरोध हो, तो ऐसी दशा में संघ सरकार के कानून को प्राथमिकता प्राप्त होगी। एक बात इस सम्बन्ध में और याद रखने की है और वह यह है कि उन विषयों पर जो उक्त तीनों सूचियों में न आये हों, कानून बनाने का अधिकार संघ की सरकार को ही प्राप्त है।

राज्य सूची के विषयों पर विधि–निर्माण की संसद की शक्ति–विधायी शक्तियों के वितरण के सम्बन्ध में कुछ व्यवस्थाएँ और भी की गयी हैं, जिन्हें समझ लेना आवश्यक है। इन व्यवस्थाओं का सम्बन्ध सूचियों में दिये गये विषयों के परिवर्तन से है। ये व्यवस्थाएँ निम्न प्रकार हैं :

1. **राज्य सूची का विषय राष्ट्रीय महत्व को घोषित होने पर**——संघ की संसद राज्यों की सूची के किसी विषय पर भी कानून बना सकती है, यदि राज्यसभा दो–तिहाई

बहुमत से यह प्रस्ताव पारित कर दे कि राष्ट्रीय हित के लिए उस विषय पर संघ की सरकार द्वारा कानून बनाया जाना आवश्यक है। यह व्यवस्था संविधान के 249वें अनुच्छेद के अनुसार है।

2. **राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा इच्छा प्रकट करने पर**——संघ की संसद राज्यों की सूची के किसी विषय पर उस दशा में भी कानून बना सकती है, जब दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमण्डल संघ की सरकार से उसके लिए प्रार्थना करें।

3. **अन्तरराष्ट्रीय सन्धियों के पालन हेतु**——किसी अन्य देश के साथ की हुई सन्धि को पूरा करने के लिए अथवा किसी अन्तरराष्ट्रीय समझौते में किये गये निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिए भी संघीय संसद राज्यों की सूची के किसी भी द्य विषय पर कानून बना सकती है।

4. **राज्य में संवैधानिक व्यवस्था भंग होने पर**——किसी राज्य के विषय में राष्ट्रपति जब संवैधानिक व्यवस्था भंग होने पर आपातकाल की घोषणा कर देता है, तो संघ की संसद राज्यों की सूची के विषयों पर भी उन राज्यों के लिए कानून बना सकती है। संसद के ये कानून आपातकाल के समाप्त हो जाने के 6 माह बाद तक लागू रहते हैं।

5. **संकटकालीन घोषणा लागू होने पर**——युद्ध या आन्तरिक अशान्ति के कारण राष्ट्रपति जब आपातकाल की घोषणा कर देता है, तब भी संघ की संसद हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन तथा संविधान किसी भी राज्य के लिए या सम्पूर्ण भारत के लिए राज्यों के सूची के विषयों पर, कानून बना सकती है।

6. राज्यपाल द्वारा राज्यों के विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित किये जाने पर राज्यों के विषयों के सम्बन्ध में विधि–निर्माण के विषय में केन्द्र को संविधान की उस व्यवस्था से भी महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है। जिसके अनुसार राज्यों के राज्यपाल अनेक विषयों से सम्बन्धित राज्यों के विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित कर सकते हैं तथा ऐसी स्थिति मैं राष्ट्रपति इस प्रकार सुरक्षित विधेयक को स्वीकृत या अस्वीकृत कर सकते हैं, क्योंकि राष्ट्रपति की स्वीकृति या अस्वीकृति वस्तुतः केन्द्र सरकार की ही स्वीकृति या अस्वीकृति होती है।

केन्द्र व राज्यों के विधायी सम्बन्धों के उक्त विवेचन से जैसा स्पष्ट है, केन्द्र व राज्यों के बीच विधि——निर्माण के क्षेत्रों का साधारणतः स्पष्ट निर्धारण होते हुए भी, विशेष परिस्थितियों में केन्द्र को राज्यों के विषयों के विधि–निर्माण के सम्बन्ध में भी बड़े व्यापक अधिकार प्राप्त हैं।

प्रशासनिक सम्बन्ध (Administrative Relations)

राज्यों व केन्द्र के प्रशासनिक सम्बन्धों की व्यवस्था करने में हमारे संविधान निर्माताओं ने इस तथ्य को ध्यान में रखा है कि राज्य अपने–अपने क्षेत्र में अधिकाधिक स्वतन्त्र रहें, परन्तु साथ–ही–साथ उनमें अलगाव की भावना उत्पन्न होकर राष्ट्रीय एकता व अखण्डता को कोई क्षति न पहुँचे। केन्द्र व राज्यों के प्रशासकीय सम्बन्धों की व्यवस्था की मुख्य बातें निम्न प्रकार हैं :

1. **राज्य सरकारों को निर्देश**——प्रशासन के सम्बन्ध में, राज्य अपने–अपने क्षेत्र में सामान्यतः स्वतन्त्र हैं, परन्तु राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा की दृष्टि से संघ की सरकार को राज्यों के प्रशासन के सम्बन्ध में निरीक्षण, निर्देशन व नियन्त्रण का अधिकार प्राप्त है। संविधान की धारा 256 में यह स्पष्ट कहा गया है कि प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार होगा कि संसद द्वारा बनाये हुए कानूनों का और उन वर्तमान कानूनों का पालन जो उस राज्य में लागू हों, सुनिश्चित रहे तथा संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निर्देश देने तक होगा, जो उस प्रयोजन के लिए भारत सरकार को आवश्यक दिखाई दे।' इसके अतिरिक्त राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग भी इस प्रकार किया जायेगा कि उससे संघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में कोई बाधा न पड़े। संघ के कानून अथवा राज्य के प्रचलित कानून का पालन कराने के लिए राज्य की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग को संघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में बाधक न होने देने के लिए तथा राष्ट्रीय और सैनिक महत्त्व के गमनागमन के साधनों के निर्माण व उनके संचालन की व्यवस्था करने के लिए संघीय सरकार राज्यों की सरकार को निर्देश दे सकती है।

2. **अखिल भारतीय सेवाओं की व्यवस्था**——संघ व राज्य दोनों के उच्च अधिकारी अखिल भारतीय सेवाओं (IAS, IPS आदि) के सदस्य होते हैं। इन अधिकारियों पर संघीय सरकार का विशेष नियन्त्रण रहता है और उनका स्थानान्तरण भारत में कहीं भी किया जा सकता है।

3. **राज्य सरकारों को संघीय कार्य सौंपना**——संघीय सरकार अपनी ओर से राज्य की सरकार व उसके अधिकारियों को संघ के कार्यक्षेत्र का कोई भी कार्य सौंप सकती है। इस सम्बन्ध में संविधान की व्यवस्था यह भी है कि इस सम्बन्ध में राज्य सरकार द्वारा किये गये व्यय को संघीय सरकार वहन करेगी। यदि राज्यों की सरकार या उसके अधिकारी उसे पूरा न करें, तो राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह एक विशेष विज्ञप्ति

निकालकर राज्य में संकटकालीन स्थिति की घोषणा कर दे और राज्य का शासन अपने हाथ में ले ले।

4. **अन्तरराज्यीय नदियों का नियन्त्रण**——संसद विविध राज्यों के बीच नदियों आदि के जल के प्रयोग, वितरण या नियन्त्रण से सम्बन्धित व्यवस्था कानून द्वारा कर सकती है।

5. **अन्तरराज्यीय परिषदों की स्थापना**——लोकहित की रक्षा के लिए विविध राज्यों के विवादों की जाँच करने और उनके सम्बन्ध में परामर्श देने के लिए राष्ट्रपति अन्तरराज्यीय परिषदों (Inter-state Councils) की स्थापना कर सकता है।

6. **राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति**——संघीय सरकार के प्रधानमन्त्री के परामर्श से राष्ट्रपति राज्यों में राज्यपालों की नियुक्ति करता है, जो वहाँ राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हैं तथा इसके माध्यम से केन्द्र को राज्यों के शासन के नियन्त्रण का अवसर प्राप्त होता है।

7. **सहायता अनुदानों की व्यवस्था**——राज्यों के शासन अपनी वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए केन्द्र से अनेक सहायता अनुदान प्राप्त करते हैं तथा केन्द्र द्वारा राज्यों को अनुदानों के दिये जाने की व्यवस्था द्वारा केन्द्र को राज्यों के शासनों पर नियन्त्रण करने का एक महत्त्वपूर्ण अस्त्र प्राप्त हो जाता है।

8. **संचार साधनों की रक्षा**——सम्पूर्ण संघ के क्षेत्र में संचार साधनों की रक्षा का दायित्व केन्द्र की सरकार का है। अतः विविध राज्यों में स्थित हवाई अड्डों, रेलों, डाक व तार के संचार साधनों तथा राष्ट्रीय महत्त्व के अन्य आवागमन व संचार साधनों की रक्षा की दृष्टि से केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को आवश्यक निर्देश दे सकती है और उनका पालन राज्यों की सरकारों द्वारा किया जाना आवश्यक है। इन देशों के अन्तर्गत जो भी व्यय राज्य सरकार को उठाना होगा वह उन्हें केन्द्र के द्वारा दिया जायेगा।

9. **राज्यों द्वारा संघीय सरकार को अपने कार्यक्षेत्र के कार्यों को सौंपा जाना**——भारत सरकार की अनुमति से राज्यों के राज्यपाल राज्यों के कार्यक्षेत्र के किन्हीं कार्यों को संघीय सरकार या उसके अधिकारियों को सौंप सकते हैं।

10. **राज्यों की मन्त्रिपरिषदों के सदस्यों के विरुद्ध आरोपों की जाँच**——उन आरोप पत्रों के आधार पर जो किसी राज्य के मन्त्रिपरिषद के मुख्यमन्त्री या मन्त्रियों के विरुद्ध राष्ट्रपति को दिये जाये, केन्द्रीय शासन को उनकी न्यायिक जाँच कराने या न कराने का निर्णय करने का अधिकार प्राप्त है। यदि जाँच कराई जाये और आरोप सत्य सिद्ध हों, तो केन्द्रीय सरकार सम्बन्धित मन्त्रियों को अपना पद छोड़ने के लिए बाध्य कर

सकती है। पंजाब के मुख्यमन्त्री सरदार प्रतापसिंह कैरों तथा उड़ीसा के मख्यमन्त्री श्री वीरेन मित्र को न्यायिक जाँच में दोषी सिद्ध होने पर अपना त्यागपत्र देना पड़ा था।

11. राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करना व संविधान के 356वें अनुच्छेद की व्यवस्था के अन्तर्गत यदि किसी राज्य में संवैधानिक तन्त्र भंग हो जाता है, तो राज्यपाल के प्रतिवेदन पर राष्ट्रपति द्वारा उस राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में निर्णय लेने का राष्ट्रपति का अधिकार वस्तुतः केन्द्रीय सरकार का अधिकार होता है तथा राष्ट्रपति शासन की इस व्यवस्था के दौरान केन्द्रीय शासन के हाथ में एक ऐसा अस्त्र आ जाता है, जिससे पूरी तरह से सम्बन्धित राज्य को केन्द्र अपने अधीन बना लेता है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि प्रशासन के क्षेत्र में राज्य सामान्यतः स्वतन्त्र रहते हैं, फिर भी यह स्पष्ट है कि राज्यों पर केन्द्र का नियन्त्रण भी बड़ा ही प्रभावी रहता है।[10]

वित्तीय सम्बन्ध (Financial Relations)

वित्त के क्षेत्र में भी संघ व राज्यों की सरकारों के अधिकार क्षेत्र अलग–अलग हैं तथा अपने–अपने क्षेत्रों में संविधान में दी हुई व्यवस्था के अनुसार कार्य करने के लिए दोनों ही सरकारें साधारणतः स्वतन्त्र हैं। इस सम्बन्ध में जो व्यवस्था संविधान द्वारा की गयी है, वह निम्न प्रकार है :

1. **संघीय आय के साधनों का निर्धारण——**संघ सरकार के वित्तीय क्षेत्र में आय के साधन अलग कर दिये गये हैं। उनमें कृषि की आय को छोड़कर अन्य आय–कर (Income tax), सीमा शुल्क (Custom duty), निर्यात शुल्क (Export duty), उत्पादन शुल्क (Excise duty), निगम कर (Corporation tax), कम्पनियों का विनिमय कर (Stock Exchange tax), कृषि–भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर शुल्क (Estate duty) आदि प्रमुख हैं।

2. **राज्यों की आय के साधनों का निर्धारण——**राज्यों की सरकारों के वित्तीय क्षेत्रों में भी आय के साधन अलग कर दिये गये हैं। उनमें भू–राजस्व (Land Revenue), कृषि-आय-कर (Agricultural Income-tax), कृषि भूमि का उत्तराधिकार शुल्क (Succession Duty of Agricultural Land), सम्पत्ति शुल्क (Estate duty), मादक वस्तुओं पर उत्पादन कर (Excise duty), बिक्री कर (Sales tax), यात्री कर (Passenger tax), आमोद कर (Entertainment tax), दस्तावेज कर (Stamp tax) आदि प्रमुख हैं।

3. **संघीय व्यय की मदें**——संघ की सरकार के व्यय की मुख्य मदें सेना, परराष्ट्र सम्बन्ध, डाक, तार, टेलीफोन, प्रशासन, अनुवृत्ति (Pension), राज्यों की सहायता, रेल–विकास तथा संघीय क्षेत्रों का विकास आदि हैं।

4. **राज्यों के व्यय की मदें**——राज्यों के व्यय की मुख्य मदें आरक्षी (Police) व कारावास (Jail), शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, स्थानीय शासन, समाज कल्याण आदि हैं।

5. **करों की वसूली व उनके बँटवारे की व्यवस्था**——करों की वसूली व उनके बँटवारे के विषय में व्यवस्था यह है कि कुछ कर ऐसे हैं, जो केन्द्र द्वारा लगाये जाते हैं, परन्तु जिन्हें राज्य वसूल करते व अपने प्रयोग में लाते हैं। संघ के प्रदेशों के विषय में इन करों की वसूली केन्द्रीय सरकार करती है। स्टाम्प शुल्क ऐसा ही एक कर है। दूसरे प्रकार के कर वे हैं, जो केन्द्र द्वारा ही लगाये व वसूल किये जाते हैं, परन्तु जिनकी सम्पूर्ण आय राज्यों को बाँट दी जाती है। उत्तराधिकार कर, सम्पत्ति कर, समाचार–पत्र कर आदि ऐसे ही कर हैं। तीसरे प्रकार के कर, वे कर हैं जो केन्द्र द्वारा लगाये व वसूल किये जाते हैं, परन्तु जिनकी शुद्ध आय संघ व राज्यों के बीच में बाँट दी जाती है।

6. **वित्त आयोग की व्यवस्था**——केन्द्र राज्यों के बीच आय का बँटवारा किस प्रकार किया जाय, इसके लिए साधारणतः प्रत्येक 5 वर्ष बाद एक वित्त आयोग (Financial Commission) की नियुक्ति की जाती है।

7. **केन्द्र द्वारा राज्यों को सहायता अनुदान**——संविधान के अनुच्छेद 275 की व्यवस्था के अनुसार संसद के निश्चयानुसार पिछड़े वर्गों की उन्नति तथा अन्य विकास कार्यों के लिए केन्द्र राज्यों को वित्तीय सहायता व अनुदान प्रदान कर सकता है। इन अनुदानों के लिए राज्यों को केन्द्र पर निर्भर रहना पड़ता है।

8. **सार्वजनिक ऋण प्राप्ति की व्यवस्था**——संसद के निश्चयानुसार संचित निधि की जमानत पर संघ की सरकार ऋण ले सकती है। राज्यों की सरकारें ऐसा अपने–अपने विधानमण्डलों द्वारा निर्धारित सीमा तक कर सकती है। संघ की सरकार ऋण विदेशों से भी ले सकती है, जबकि राज्य की सरकारें केवल भारत में ही ऐसे ऋण ले सकती हैं।

9. **आपातकालीन व्यवस्था**——वित्तीय आपातकाल की घोषणा जारी रहने के समय वित्त सम्बन्धी सब अधिकार केन्द्रीय सरकार को प्राप्त होते हैं। केन्द्र को यह अधिकार होता है कि वह वित्तीय मामलों में राज्यों को आदेश दे सके तथा राज्यों के अधिकारियों के वेतन तक कम कर सके।

संघ व राज्यों के सम्बन्धों के उक्त विवेचन से जैसा हमने देखा, हमारे संविधान–निर्माताओं ने भारत के संघ का निर्माण करते हुए इस बात का ध्यान रखा है कि राष्ट्रीय एकता के बन्धन दृढ़ बने रहैं। साधारणतः संघ का निर्माण इस प्रकार किया जाता है कि इकाइयों की ओर से कुछ विषयों की व्यवस्था संघ को दी जाती है, तथा अन्यथा संघ की इकाइयाँ अपने कार्य में पूर्ण स्वतन्त्र होती हैं। उन्हें अपनी इच्छानुसार संघ से अलग होने की भी स्वतन्त्रता होती है। परन्तु भारतीय संघ व इनकी इकाइयों का सम्बन्ध इस प्रकार का नहीं है। वह एक ऐसा शाश्वत संघ है। जिससे इकाइयाँ स्वेच्छा से अलग नहीं हो सकतीं। इस दृष्टि से भारत का संघ अन्य साधारण संघों से भिन्न है तथा यही कारण है कि संघ व इकाइयों के विधायी, प्रशासकीय तथा वित्तीय–सभी प्रकार के सम्बन्धों में उसकी यह विशेषता स्पष्ट दिखाई देती है।

केन्द्र तथा अन्य इकाइयों का सम्बन्ध

ऊपर हमने केन्द्र तथा राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को देखा तथा यह पायाकी केन्द्र तथा राज्यों के बीच विधायी, प्रशासनिक एवं वित्तीय व्यवस्था कैसे चलती है। केन्द्र तथा कुछ अन्य इकाइयों के सम्बन्ध उन सम्बन्धों से कुछ भिन्न हैं, जो साधारणतः केन्द्र तथा राज्यों के हैं। इस प्रसंग में यह समझ लेना भी आवश्यक है :

जम्मू–कश्मीर राज्य

उल्लेखनीय है कि भारत को स्वायत्तता मिलने के साथ ही इस देश का भारत और पाकिसतान के रूप में विभाजन हुआ भारतीय संघीय व्यवस्था को मजबूत करने की हसित से देशी रियासतो का भारतीय संघ में सम्मेलन किया गया। कुछ रियासतें भारतीय संघ में शामिल होने के पक्ष में नहीं थी परन्तु उनसे भी परिस्थिति और आवश्यकता अनुसार भारतीय संघ में शामिल होने के प्रपत्र पर हस्ताक्षर करवाये गये इसमें जुनागढ़ और हैदराबाद का नाम विशेष रूप से आता है।

जम्मू कश्मीर की स्थिति और भी भिन्न थी क्योंकि तत्कालीन महाराजा हरिसिंह पेशोपेश में थे कि भारत में सम्मेलन पर हस्ताक्षर किये गये या नहीं, उनके पेशोपेश मे रहने की स्थिति के कारण ही पाकिस्तानी कार्यालयों की तरफ से आक्रमण कर वर्तमान POK के हिस्से पर कब्जा किया गया और उनका कश्मीर पर और भी अधिकार करने का इरादा जब मजबूत दिखाई दिया तो महाराज हरिसिंह ने नेहरूजी और माउन्टबेंटन से इस स्थिति में कश्मीर की सहायता की प्रार्थना की! तथा अन्तः कश्मीर को भारत का अंग बनाया गया।

परन्तु इस संबंध में संविधान का अनुच्छेद 370 तथा 35A सदा ही विवाद के विषय बने रहे क्योंकि इस अनुच्छेदों में कश्मीर को विशेष राज्य का दर्जा दिया गया था। (1954) जिसके अन्तर्गत उसकी विधानसभा का कार्यालय, संविधान उसका अलग झण्डा आदि स्वीकार किये गये, अतः अन्य राज्यों से इसकी स्थिति भिन्न थी, परन्तु साथ ही व्यवस्था की गई थी कि यह व्यवस्था अस्थाई है एवं भारत की सरकार और भारतीय राज्य के प्रमुख राष्ट्रपति इस अनुच्छेद को कभी भी समाप्त कर सकते हैं।

अतः यह विवाद का विषय बना रहा तथा नेहरू विरोदी (कॉग्रेस) दलों ने इसे नेहरू जी की असफलता बताया जिसमें भारतीय जनसंघ और बाद में भारतीय जनता पार्टी ने विशेष भूमिका निभायी, बार–बार ये ही कहा किय यह मतभेद का विषय नहीं है पाकिस्तान के आक्रमण का विषय है। अतः इसे समाप्त किया जाना चाहिए और कश्मीर स्वायत्तता के नाम पर जो स्वायत्तता का लालच दिखा रहा है उसका अन्त किया जाना चाहिए।

वर्तमान सदी में प्रारम्भिक वर्षों में अटल बिहारी वाजपेयी और बाद में नरेन्द्र मोदी भाजपा नीत गठबंधन (NOA) के आधार पर सरकार बनाने में सफल रहे और अन्तः अमितशाह (वर्तमान ग्रहमंत्री) तथा मोदी निरन्तर इस विचार को प्रचारित करते दिखाई दिये कि यह तत्कालीन प्रधानमंत्री नेहरू जी की गलती है और हमारा बहुमत होने पर हम इसे सुधारने के पक्ष में है 2019 के आम चुनावों में जब अकेली भारतीय जनता पार्टी को 300 से ऊपर स्थान प्राप्त हुए तो उन्होनें इस मुद्दे पर पहल की, तथा अगस्त 2019 में कश्मीर का विशेष दर्जा (Article 370 and 35A) समाप्त करने का निर्णय लिया। अतः लोकसभा और राज्यसभा से यह बिल पारित हो गया और कश्मीर से संबंधित जो भी विशेष प्रावधान थे वे समाप्त हो गये।

वर्तमान में कश्मीर अन्य भारतीय (राज्यों) या केन्द्र प्रशासित प्रदेशों की तरह ही एक प्रदेश बना दिया गया है। सुरक्षा की दृष्टि से ऐसा करते हुए अनेक सावधानियाँ बरती गई। कश्मीर में अतिरिक्त सुरक्षा ऐजेन्सियाँ भेजी गई, कुछ नेताओं को नजरबन्द किया गया।

बढा परिवर्तन यह हुआ कि जम्मू कश्मीर अब एक केन्द्र प्रशासित प्रदेश रह गया है और कश्मीर में अधिक स्वायत्तता की मांग एक तरह से समाप्त हो गई है।

कश्मीर से जुड़े लद्दाख प्रदेश को भी केन्द्र प्रसाशित प्रदेश बना दिया गया है इससे ये भी स्पष्ट होता है कि हमारा संघीय ढाँचा जिसके लिए UNION शब्द प्रयुक्त किया गया है वह

मजबूत हुआ है और एक तरह से सुरक्षा संबंधी निरन्तर चलने वाली समस्या पर काबू पा लिया है।

नागालैण्ड

नागालैण्ड भारत संघ का एक ऐसा राज्य है, जिसे संविधान के अन्तर्गत एक विशेष स्थिति प्रदान की गयी है। कुल 16,488वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल में फैला हुआ यह राज्य, जनजाति प्रदेश (Tribal Area) है तथा सामरिक दृष्टि से इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। पूर्ण राज्य बनने से पूर्व नागालैण्ड असम राज्य का एक अंग था। ब्रिटिश शासन–काल से ही नागा जनजाति अपनी स्वतन्त्रता के लिए प्रयास करती रही, किन्तु स्वतन्त्रता–प्राप्ति के उपरान्त उनका आन्दोलन प्रबल होता गया। ईसाई मिशनरियों तथा विदेशी शक्तियों के कुचक्रों के परिणामस्वरूप इन लोगों ने सशस्त्र विद्रोह भी प्रारम्भ कर दिया। विद्रोह को शान्त करने के लिए सन् 1957 में इसे एक संघीय क्षेत्र बना दिया गया और 1 दिसम्बर, सन् 1962 को इसे पूर्ण राज्य का स्तर प्रदान किया गया। इस प्रकार नागालैण्ड भारत संघ का 16वाँ राज्य बना।

नागालैण्ड तथा केन्द्र का विशेष सम्बन्ध——सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण तथा आथिक दृष्टि से पिछड़े इस राज्य के लिए कुछ विशेष व्यवस्थाएँ की गयी हैं। वे व्यवस्थाएँ निम्नलिखित हैं :

1. भारतीय संघ के अन्य राज्यों में शान्ति तथा व्यवस्था (LawAnd Order) का पूर्ण उत्तरदायित्व पूर्ण रूप से राज्य के मन्त्रिमण्डल पर होता है, लेकिन नागालैण्ड में यह उत्तरदायित्व असम के राज्यपाल (वह नागालैण्ड का भी राज्यपाल है) पर हो। असम का राज्यपाल उस समय तक यह उत्तरदायित्व वहन करता रहेगा, जब तक विद्रोही नागाओं द्वारा आत्म–समर्पण न कर दिया जाय। राज्य में पूर्ण शान्ति स्थापित होने पर यह उत्तरदायित्व राज्य के मन्त्रिमण्डल को सौंप दिया जायेगा।

2. संविधान में किये गये तेरहवें संशोधन के अनुसार कुछ विषयों में संसद द्वारा निर्मित कोई विधि नागालैण्ड पर तब तक लागू नहीं होगी, जब तक नागालैण्ड की विधानसभा अपने एक प्रस्ताव द्वारा उस विधि को नागालैण्ड पर लागू किये जाने की इच्छा न प्रकट करे। ये विषय हैं——(i) नागाओं की धार्मिक तथा सामाजिक प्रथाएँ, (ii) नागाओं के परम्परागत कानून तथा नियम, (iii) दीवानी और फौजदारी न्याय का ऐसा प्रशासन, जिसमें नागाओं की प्रथागत विधि से निर्णय लिए जाते हों, तथा (iv) भूमि और उसकी जोतों का स्वामित्व एवं हस्तान्तरण।

3. **नागालैण्ड** में कबीला परिषदों और ग्राम–परिषदों की स्थापना की गयी है, जो अपने–अपने क्षेत्र में, प्रचलित रीति रिवाजों तथा परम्पराओं के आधार पर कानून का निर्माण तथा न्याय–प्रबन्ध करती हैं।

4. नागालैण्ड की वित्तीय स्थिति के सम्बन्ध में राज्यपाल के माध्यम से राज्य सरकार का केन्द्र से विशेष सम्बन्ध है।

भारत की स्वतन्त्रता की प्राप्ति के समय के बाद से ही दिल्ली क्षेत्र की प्रशासन व्यवस्था समय–समय पर बदलती रही है। प्रारम्भ में इसे 'ग' श्रेणी के राज्यों के अन्तर्गत रखा गया था, जिसके अनुसार वहाँ सीमित उत्तरदायी शासन की व्यवस्था की गयी थी तथा उसके अन्तर्गत 48 सदस्यों की एक विधानसभा का गठन तथा एक प्रशासक की नियुक्ति की गयी थी। सन् 1956 में राज्यों का पुनर्गठन हुआ, तब दिल्ली को केन्द्र–शासित क्षेत्र घोषित किया गया तथा इसके प्रबन्ध का दायित्व एक मुख्य आयुक्त (Chief Commissioner) के सुपुर्द किया गया। उपर्युक्त व्यवस्था से दिल्ली के लोग सन्तुष्ट नहीं थे। अतः सन् 1966 में दिल्ली प्रशासन विधेयक पारित किया गया और इसके अनुसार दिल्ली में 47 सदस्यों की एक अन्तरिम महानगर परिषद का गठन किया गया, जिसका निर्वाचन दिल्ली नगर निगम के सब सदस्यों, दिल्ली क्षेत्र के संसद सदस्यों तथा दिल्ली छावनी बोर्ड के सदस्यों द्वारा मिलाकर किया जाता था। इसके अतिरिक्त 4 सदस्यों की एक कार्यकारिणी परिषद भी बनाई गयी, यद्यपि उसके अधिकार भी अत्यन्त सीमित थे। सन् 1967 में अन्तरिम महानगर परिषद को समाप्त कर दिया गया और एक नवीन महानगर परिषद की स्थापना कर दी गयी।

वर्तमान समय में दिल्ली प्रशासन की रूपरेखा निम्न प्रकार है :

कार्यपालिका——कार्यपालिका का प्रमुख उपराज्यपाल कहलाता है। इसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा 5 वर्ष के लिए की जाती है तथा वह राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी रहकर अपना कार्य करता है। उसे उसके कार्य में सहायता प्रदान करने के लिए चार सदस्यों की एक कार्यकारिणी परिषद होती है, जिनके सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है तथा वे प्रायः महानगर परिषद के बहुसंख्यक दल के लोग होते हैं। इन सदस्यों के अधिकार बड़े सीमित होते हैं तथा वे सामान्यतः उप राज्यपाल के अधीन रहकर कार्य करते हैं। उपराज्यपाल महानगर परिषद की बैठकें बुलाता है, उनमें भाषण दे सकता है, उसमें भाग ले सकता है तथा उसका सभापतित्व कर सकता है।

व्यवस्थापिका——दिल्ली क्षेत्र की व्यवस्थापिका का नाम 'महानगर परिषद है। इसकी सदस्य–संख्या 64 होती है। इनमें से 59 सदस्य दिल्ली नगर के निवासियों द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर चुने जाते हैं तथा 5 की नियुक्ति उपराज्यपाल द्वारा मनोनयन के परिणामस्वरूप होती है। महानगर परिषद अपना अध्यक्ष व उपाध्यक्ष चुनती है जिनका कार्यकाल 5 वर्ष होता है। वहीं उन्हें अविश्वास के प्रस्ताव के द्वारा उनके पद से हटा सकती है। महानगर परिषद के पार्षद नियोजन, विकास, शिक्षा, स्वास्थ्य, बिक्रीकर, खाद्य नियन्त्रण, सहकारिता तथा उद्योग आदि का प्रबन्ध करते हैं तथा शान्ति व व्यवस्था, पुलिस, वित्त, न्याय, सरकारी भवनों आदि विषयों के प्रबन्ध का दायित्व सीधा उपराज्यपाल का है।

अरुणाचल प्रदेश——असम राज्य का उत्तर–पूर्वी सीमा–क्षेत्र (North-East Frontier Agency) जिसे अब अरुणाचल प्रदेश का नाम दे दिया गया है, प्रशासन की दृष्टि से संघीय क्षेत्र है। 3 हजार वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल वाला यह प्रदेश पश्चिम की ओर भूटान से लेकर ब्रह्मपुत्र, तक फैला हुआ है। इसकी उत्तरी सीमा हिमालय पर्वत श्रेणी तथा तिब्बत को, पूर्वी सीमा बर्मा को एवं पश्चिमी सीमा भूटान को स्पर्श करती है। इस प्रकार, यह क्षेत्र अन्तरराष्ट्रीय सीमाओं के मध्य में स्थित है तथा इसी स्थिति के कारण इसका भारत की सुरक्षा–व्यवस्था में विशेष सामरिक महत्त्व है। सन् 1962 में चीनी आक्रमण इसी क्षेत्र पर हुआ था।

सुरक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इस क्षेत्र की भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन की समस्याएँ भी अत्यन्त जटिल हैं। यहाँ के निवासी आदिम जनजातियों से सम्बन्धित हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से इस क्षेत्र को अनेक भागों में विभाजित करते हुए हर भाग में भाषा और जाति, उपजाति तथा कबीलों की विभिन्नता है। भौगोलिक दृष्टि से इस क्षेत्र में, कहीं सुरम्य घाटियाँ हैं, तो कहीं विकट दरें और पहाड़ियाँ हैं। यह वह वन–क्षेत्र है, जहाँ. भारतीय आकाश में प्रकाश की किरणें सर्वप्रथम दीप्तमान होती हैं, इसलिए इस क्षेत्र का उपयुक्त नाम 'अरुणाचल' (सूर्य का क्षेत्र) रखा गया है। इस क्षेत्र की विभिन्नता एवं आर्थिक पिछड़ेपन को दृष्टिगत रखते हुए ही इस क्षेत्र के लिए प्रशासन की विशेष व्यवस्था की गयी है। इस क्षेत्र के आथिक पिछड़ेपन का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि इसकी वार्षिक आय लगभग 37 लाख रुपया है तथा इसका व्यय 24 करोड़ रुपया है। इस स्थिति में केन्द्रीय सरकार को ही इस क्षेत्र का समस्त वित्तीय भार वहन करना पड़ता है।

असम का राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रतिनिधि (Agent) के रूप में इस क्षेत्र के प्रशासन–कार्य की देखभाल करता है। 37वें संवैधानिक संशोधन द्वारा इस प्रदेश में

मन्त्रिपरिषद एवं 30 सदस्यों की एक विधानसभा की व्यवस्था की गयी है। अरुणाचल को पाँच प्रशासनिक संभागों में (Administrative divisions) मे विभाजित कर दिया गया है। ये संभाग हैं–(1) कामेंग, (2) सुवानश्री, (3) सिवांग, (4) लोहित एवं (5) तिराव ये नाम इस क्षेत्र की नदियों के नाम पर हैं। इन सीमांत–संभागों के मुख्यालय क्रमशः बोमडीला, जीरो, एलोंग, तेजू एवं खोन्सा हैं। प्रत्येक संभाग का मुख्य अधिकारी राजनीतिक अधिकारी (Political Officer) कहलाता है। कबीलों की पंचायत तथा ग्राम–परिषदों को विशेष स्वायत्त शासन सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हैं।

अरुणाचल प्रदेश का कार्यपालिका अधिकारी उपराज्यपाल है। उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है तथा वह अपने कार्यों के लिए राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी रहता है।

शासन का संचालन मुख्यमन्त्री के नेतृत्व में कार्य करने वाली मन्त्रिपरिषद करनी है। मुख्यमन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा स्वयं तथा मन्त्रिपरिषद के अन्य सदस्यों की नियुक्ति मुख्यमन्त्री की सलाह से राष्ट्रपति करता है। उपराज्यपाल व मन्त्रिपरिषद में मतभेद होने की स्थिति में विवाद राष्ट्रपति के पास निर्णय के लिए भेजा जाता है और उसका निर्णय अन्तिम होता है।

पाण्डिचेरी, गोवा तथा मिजोरम

पाण्डिचेरी और गोवा सन् 1970 के पहले से ही केन्द्र शासित क्षेत्र थे तथा मिजोरम को अब केन्द्र शासित क्षेत्र बना दिया गया है, क्योंकि सामरिक दृष्टि से उसका बड़ा महत्त्व है। इनका मुख्य कार्यपालिका अधिकारी भी उपराज्यपाल कहलाता है, जिसकी नियुक्ति राज्यपाल द्वारा 5 वर्ष के लिए की जाती है। सब में तीस–तीस सदस्यों की विधानसभाएँ व मन्त्रिपरिषदें हैं।

इन क्षेत्रों में शासन का संचालन मन्त्रिपरिषद करती हैं, जिनके प्रमुख मुख्यमन्त्री होते हैं। मुख्यमन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा तथा अन्य सदस्यों की नियुक्ति मुख्यमन्त्री के परामर्श से राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। उपराज्यपाल तथा मन्त्रिपरिषद में यदि किसी बात पर मतभेद होता है, तो मामला राष्ट्रपति के पास निर्णय के लिए भेजा जाता है और उसका निर्णय अन्तिम होता है।

अण्डमान निकोबार द्वीप, लक्षद्वीप, मिनीकोय व अमन द्वीव, दादर व नगर हवेली तथा चण्डीगढ़ का शासन पूरी तरह सीधा केन्द्र द्वारा किया जाता है।

संघ व राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का मूल्यांकन—राज्यों की स्वायत्तता का प्रश्न
(Evaluation of Union-State Relation - Question of States Autonomy)

संघ व राज्यों के विधायी, प्रशासनिक व वित्तीय तीनों ही प्रकार के सम्बन्धों के उक्त विवेचन से जैसा स्पष्ट है, तीनों ही के सम्बन्ध में महत्ता केन्द्र को प्राप्त है। आपातकाल में तो संघ विधायी, प्रशासनिक व वित्तीय सभी क्षेत्रों में राज्यों से अधिक शक्तिशाली होता जाता है, सामान्यकाल में भी शक्ति का सन्तुलन केन्द्र के पक्ष में रहता है।

विधायी सम्बन्धों के विषय में हम देख चुके हैं कि संविधान के 249वें अनुच्छेद के अनुसार संघ की राज्य–सभा अपने दो–तिहाई बहुमत से पारित प्रस्ताव द्वारा निर्धारित समय के लिए संसद को राज्य–सूचो के विषयों पर विधि–निर्माण करने के लिए अधिकृत कर सकती है। अनुच्छेद 252 के अनुसार दो या दो से अधिक राज्यों द्वारा प्रस्ताव पारित किए जाने पर संसद प्रस्ताव में वणित विषयों पर सम्बन्धित राज्यों के लिए विधि–निर्माण कर सकती है। अन्तरराष्ट्रीय समझौते के पालन के लिए संसद किसी भी विषय पर विधि–निर्माण कर सकती है।

प्रशासनिक सम्बन्धों के विषय में भी संघ की सरकार की स्थिति राज्यों की सरकारों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है, क्यों कि संघ की सरकार राज्यों की सरकारों को कुछ ऐसे प्रशासकीय निर्देश दे सकती है, जिनका पालन उनके द्वारा किया जाना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रपति द्वारा राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति का प्रावधान ऐसा है, जिसके द्वारा संघ राज्यों के शासन पर पूरा नियन्त्रण रखने की स्थिति में होता है।

वित्तीय सम्बन्धों की स्थिति भी ऐसी है कि राज्यों की अपेक्षा संघ को ही अधिक महत्त्व व शक्ति प्राप्त है। यह ठीक है कि संघ व राज्यों की आय के साधन व व्यय की मदें निर्धारित हैं, फिर भी अनेक कार्य ऐसे हैं, जिनके लिए राज्यों को केन्द्र का मुंह ताकना पड़ता है। उदाहरणार्थ, पंचवर्षीय योजनाओं के लिए राज्यों द्वारा व्यय की जाने वाली धनराशियों का निर्धारण संघ के योजना आयोग द्वारा किया जाता है। इसके बाद वे धनराशियाँ भी संघ की वित्तीय सुविधा के अनुसार ही प्राप्त हो पाती हैं। केन्द्रीय कल्याण परिषद (Central Welfare Board), विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (University Grants Commission) आदि अन्य ऐसे केन्द्रीय अभिकरण हैं, जिनके कारण वित्तीय मामलों में केन्द्र को राज्यों के ऊपर वरदहस्त प्राप्त हो जाता है।

अधिक स्वायत्तता की माँग

संघ व राज्यों के सम्बन्धों में सुधार की वांछनीयताइस प्रसंग में यह प्रश्न प्रायः उठता है कि संघ व राज्यों की सम्बन्धों की जो स्थिति है, वह कहाँ तक उचित है और यदि नहीं तो उसमें क्या सुधार वाछनीय हैं ? संविधान के लागू होने से अब तक के अनुभव के आधार पर यह देखा जा सकता है कि कुछ अपवादों को छोड़कर जिन समयों में केन्द्र व राज्यों में एक राजनीतिक दल सत्तारूढ़ रहता है, उन समयों में दोनों के सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण रहते हैं तथा पारस्परिक खींचतान के यदि कोई अवसर आते हैं, तो उन पर सरलता से काबू पाया जा सकता है, परन्तु दोनों के बीच में प्रायः खींचतान तब दिखाई देती है, जब केन्द्र व राज्यों में सरकारें भिन्न राजनीतिक दलों की होती हैं।

चतुर्थ आमचुनाव से पूर्ण तथा उसके बाद की स्थिति के अवलोकन से यह बात स्पष्ट देखी जा सकती है। चौथे आमचुनावों से पहले तक भारतीय संघ के लगभग सभी राज्यों में पण्डित जवाहरलाल नेहरू के महान नेतृत्व के अधीन संचालित काँग्रेस दल का शासन रहा तथा इस काल में केन्द्र व राज्यों के सम्बन्ध एक दल के भीतर के केन्द्रीय व स्थानीय नेताओं के सम्बन्धों पर आधारित होने के कारण सामान्यतः सन्तोषजनक रहे। यदि कोई मतभेद कभी हुए भी तो वे दलीय स्तर पर तय होते रहे, क्योंकि केन्द्र व राज्यों की सरकारों में किसी प्रकार का सैद्धान्तिक मतभेद नहीं रहा।

किन्तु चतुर्थ आमचुनाव के बाद अनेक राज्यों में गैर–कांग्रेसी दलों की सरकारें बनीं। अतः केन्द्र व राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में तनाव आया, गैर कांग्रेसी दलों द्वारा शासित अनेक राज्यों की ओर से छोटी–मोटी बातों को लेकर केन्द्र की सत्ता की महत्ता पर आपत्तियाँ तो की ही गयीं, परन्तु मद्रास (तमिलनाडु) की दृविड़ मुनेत्र कड़गम सरकार के द्वारा राज्यों के लिए और अधिक स्वायत्तता की माँग पूरे जोर से उठाई गयी।

इस सम्बन्ध में मद्रास के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री अन्नादुराई ने कहा कि "हमें संविधान निर्माताओं द्वारा निर्धारित राज्यों की स्वायत्तता के सिद्धान्त व व्यवहार को अपनाना चाहिए। संघात्मक संविधान में आदर्श केन्द्र द्वारा केवल उतनी ही शक्तियों का प्रयोग किया जाना चाहिए जितनी से देश की सम्प्रभुता व एकता की रक्षा हो सके। संविधान की ओर से राज्यों को स्वायत्तता प्राप्त है और उनके साथ नगरपालिकाओं जैसा व्यवहार नहीं किया जा सकता।"

तमिलनाडु की सरकार द्वारा राजमन्नार समिति की स्थापना–सितम्बर 1969 में तमिलनाडु की सरकार ने केन्द्र व राज्यों के सम्बन्धों पर विचार करने के लिए मद्रास उच्च

न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश डा० बी० पी० राजमन्नार, डॉ० ए० लक्ष्मणस्वामी मुदालियर तथा बी० चेन्ना रेड्डी की एक समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने एक ऐसी अन्तरराज्य परिषद (Inter-state Council) की स्थापना की सिफारिश की, जिसका अध्यक्ष भारत का प्रधानमन्त्री तथा जिसके सदस्य राज्यों के मुख्यमन्त्री हों समिति ने यह भी सुझाव दिया कि राष्ट्रीय महत्त्व व एक से अधिक राज्यों के हितों से सम्बन्धित विधेयकों पर संसद में प्रस्तुत किये जाने से पहले इस परिषद में विचार हो तथा परिषद की सिफारिशें मानने के लिए संसद व संघ की सरकार बाध्य हो।

सन् 1971 के आम चुनाव के बाद से अधिकांश राज्यों में गैर–कांग्रेसी सरकारों की समाप्ति होने के बाद उन राज्यों की ओर से स्वायत्तता की माँग उठना बन्द हो गयी। परन्तु इस चुनाव में तमिलनाडु की डी० एम० के० सरकार की स्थिति और सबल होने से उसके द्वारा स्वायत्तता की माँग को और अधिक जोर से उठाया गया। इस प्रश्न पर तत्कालीन सत्ता कांग्रेस व डी० एम० के० के बीच खीचतान काफी बढ़ गयी। परन्तु केन्द्र की सरकार की ओर से तत्कालीन प्रधानमन्त्री ने तमिलनाडु सरकार की इस प्रकार की माँग को भारतीय संघ की एकता के विरुद्ध बताया तथा इस सम्बन्ध में राज्य से किसी प्रकार की वार्ता के औचित्य को स्वीकार नहीं किया।

सन् 1977 के लोकसभा चुनावों व उसके बाद 1978 में हुए कुछ राज्यों की विधानसभाओं के चुनावों के बाद पुनः वही स्थिति उत्पन्न हुई है, जो चौथे आमचुनावों के बाद उत्पन्न हुई थी। इन चुनावों में केन्द्र में जहाँ संगठन कांग्रेस (भारतीय जनसंघ, भारतीय लोकदल तथा सोशलिस्ट पार्टी से मिलकर बनी जनता पार्टी सत्तारूढ़ हुई तथा उत्तर भारत के कुछ राज्यों में जनता दल या जनता दल समर्थक शासन सत्तारूढ़ हुए, वहाँ दक्षिण भारत के आध्रप्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु तथा केरल राज्यों में गैर–जनता दलों की सरकारें सत्तारूढ़ हुई है। अतः संघ के कुछ राज्यों में व केन्द्र में जब से अलग–अलग राजनीतिक दलों की सरकारें सत्तारूढ़ हुई है, तो संघ व राज्यों के सम्बन्धों का प्रश्न पुनः उठने लगा है।

दक्षिण के कुछ राज्यों ने व्यापारिक संघ बनाने की बात कही गई है। कई अन्य राज्यों, जिनमें कश्मीर व पश्चिम बंगाल सम्मिलित है) के द्वारा केन्द्र व राज्यों के सम्बन्धों पर विचार किये जाने के लिए सम्मेलन किये जाने की भी पेशकश की गयी है। जिन राज्यों के राजनेताओं के द्वारा इस सम्बन्ध में जोर डाला गया है, वे सभी यह कहते हैं कि इस प्रकार के विचार–विनिमय से भारतीय संघ की एकता को कोई हानि होने की सम्भावना नहीं है और न यह विचार केन्द्र को शक्तिशाली बनाने के विचार के विरुद्ध है।

परन्तु देश का जनमत जिसके समक्ष द्रविड़ मुनेत्र कड़गम दल द्वारा एक समय अलग द्रविड़िस्तान बनाये जाने तक की माँग तक का इतिहास विद्यमान है, राज्यों को इस हद तक स्वायत्तता देने के पक्ष में नहीं है कि उससे पृथकतावादी प्रवृत्तियाँ पनपे तथा देश की राष्ट्रीय एकता ही खतरे में पड़ जाय। यही कारण है कि केन्द्रीय शासन ने भी इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना उचित नहीं समझा तथा भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने ऐसे किसी विचार–विनिमय की आवश्यकता को स्वीकार नहीं किया।

वस्तुस्थिति इस सम्बन्ध में यह है कि देश के सम्मुख उपस्थित समस्याओं के समाधान की दृष्टि से राज्यों के लिए और अधिक स्वायत्तता दिये जाने की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी आवश्यकता आर्थिक व राजनीतिक समस्याओं का समाधान केन्द्र व राज्यों के पारस्परिक सहयोग से किये जाने की है। यह ठीक है कि विकास कार्यों में राज्यों को अधिकाधिक स्वायत्तता दी जानी चाहिए, तथापि यह भी आवश्यक है कि सब राज्यों का विकास एक ऐसे सन्तुलित ढंग से हो कि देश के विविध भागों में प्रतिस्पर्धा के वातावरण के स्थान पर सहयोग का वातावरण बने और उससे राष्ट्रीय एकता का संवर्द्धन हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि केन्द्र विविध राज्यों के विकास कार्यक्रमों के बीच तालमेल बैठाने की अधिकार पूर्ण स्थिति में रहे।

इस बात को दृष्टि में रखते हुए यदि संघ व राज्यों के सम्बन्धों की वर्तमान संविधानिक व्यवस्था को देखें, तो उसमें किसी परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, तथा आवश्यकता इस बात की है कि वर्तमान संविधानिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही पारस्परिक सहयोग व विश्वास से कार्य किया जाय। यह पारस्परिक सहयोग व विश्वास बना रह सके, इसके लिए प्रशासनिक सुधार आयोग (Administrative Reforms Commission) ने यह सुझाव अवश्य दिया है कि प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में केन्द्रीय गृहमन्त्री, केन्द्रीय वित्तमन्त्री, लोकसभा के विपक्ष के नेता तथा पाँच क्षेत्रीय परिषदों के प्रतिनिधियों की एक 'अन्तरराज्य परिषद (Inter-state Council) केन्द्र को परामर्श देने के लिए हो, तथापि उसने भारत की संघात्मक व्यवस्था में किसी परिवर्तन पर सुझाव नहीं दिया है। जैसा गजेन्द्र गड़कर ने कहा है, **"संविधान के प्रावधानों में किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है, वरना आवश्यकता इस बात की है कि कुछ ऐसी स्वस्थ संघीय परम्परा की स्थापना हो, जिनसे संघ व राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का संचालन सुचारु रूप से हो सके।'**[11]

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
References

1. Constituent Assembly Debates, Vol. VIII, p- 927
2. Constituent Assembly Debates, Vol. VIII, p- 33
3. Constituent Assembly Debates, Vol. VIII, p- 927
4. Gajendra- Gadkar, The Constitution of India, Its Philosophy And Basic Postulat- p- 65
5. संविधान के 44वें संशोधन अधिनियम के लागू होने से पहले की संविधानिक व्यवस्था के अनुसार केवल आन्तरिक उपद्रवों (International Disturbances) के आधार पर ही आपातकाल लगाया जा सकता था, पर 30–4–79 को राष्ट्रपति की स्वीकृति पाकर इस अधिनियम के लागू होने पर अब आन्तरिकविद्रोह (Internal disturbances) के स्थान पर आन्तरिक सशस्त्र–विदोह (InternalArmed Rebellian) के आधार पर ही अपातकाल की घोषणा किये जाने का प्रावधान कर दिया गया है।
6. "It (The Indian Constitution) establishes indeed a system of Government which is at most quasi-federal, almost devolutionary in character; a unitary state with subsidiary federal features rather than a federal state with subsidiary unitary features."—K. C. Wheare, The Indian Journal of Political Science, July-Sept- 54, Vol, XII, p. 172
7. Indian Constitution is non&federal or unitary." —K. P. Mukherjee, The Indian Journal of Political Science, July-Sept- 54, Vol. XII, p. 172
8. संविधान के 42वें संशोधन द्वारा राज्यों के क्षेत्रों में कानून व व्यवस्था की गम्भीर स्थिति से निपटने के लिए संघ सरकार को सैनिक अथवा अन्य किसी प्रकार की शक्ति के प्रयोग का भी अधिकार दे दिया गया था। परन्तु संविधान के 44वें संशोधन द्वारा इस व्यवस्था को रद्द कर दिया गया है।
9. What was necessary was not any radical change in the provisions of the constitution, but establishment of healthy federa, conventions to regulate the relations between the Union and state Governments."—P. B. Gajendra Gadkar in his third Jawaharla Nehru Memorial Lecture—"Philosophy of National Integration Its Broad Imperatives" (Quoted from Indian Express, Noc., 28, 1972)

अध्याय–चतुर्थ

भारत में संविधान की प्रकृति और उसमें राज्यों की स्थिति

संविधान में संघ प्रणाली का स्वरूप प्राकृतिक–विवाद व सहमति

भारत के संविधान निर्माताओं के सामने मुख्य प्रश्न था कि संविधान का स्वरूप एकात्मक हो अथवा संघात्मक और इस प्रश्न पर अन्त में मध्यम मार्ग अपनाया गया। भारतीय संविधान का बहिरंग संघात्मक है और अन्तरंग एकात्मक। संविधान में भारत को 'राज्यों का संघ' (Union of states) कहा गया है और संविधान में कहीं पर भी 'संघ' (Federation) शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। 'संघ' के स्थान पर राज्यों का संघ' शब्द के प्रयोग का स्पष्टीकरण देते हुए डॉ. अम्बेडकर ने दो कारण स्पष्ट किए : एक तो भारतीय संघ एककों (राज्यों) में हुए समझौते का परिणाम नहीं है और दूसरे, एककों को संघ से पृथक होने का अधिकार नहीं हैं।

प्रकृति पर विवाद और स्वायत्तता का प्रश्नः

भारतीय संघ का स्वरूप : विवादास्पद विषय

भारतीय संविधान के किसी अन्य विषय पर शायद ही इतना अधिक वाद विवाद रहा हो और इतने अधिक विरोधी मत व्यक्त किए गए हों जितने मत भारत के संघीय स्वरूप के संघर्ष में प्रतिपादित किए गए हैं। स्वयं संविधान निर्मात्री सभा में इस बात पर मतभेद था कि भारतीय संविधान को संघात्मक संविधान की श्रेणी में रखा जाए या उसे एकात्मक संविधान की संज्ञा दी जाए। संविधान निर्मात्री सभा के कुछ सदस्यों ने जोरदार शब्दों में संविधान के एकात्मक होने का दावा किया था। सभा के एक सदस्य पी. टी. चाको ने कहा था कि 'संविधान निर्मात्री सभा ने जिस संविधान की रचना की है वह देखने में तो संघात्मक है लेकिन यथार्थ में वह एकात्मक है।[1] एक अन्य सदस्य ने भारत को एक 'विकेन्द्रित एकात्मक राज्य' की संज्ञा दी थी।[2] संविधान निर्मात्री सभा के एक और सदस्य का कहना था कि संविधान ने एक प्रकार के केडो यूनिटरी सिस्टम को जन्म दिया है जिसका अत्यधिक झुकाव एकात्मक शासन व्यवस्था की ओर है और जिसमें घटक इकाइयाँ सदैव केन्द्र पर आश्रित रहेंगी।[3] इसके विपरीत, संविधान सभा के काफी सदस्यों का यह मत था कि भारत का संविधान संघात्मक है। डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि 'यह एक संघीय संविधान है क्योंकि यह दोहरे शासन तन्त्र की स्थापना करता है, जिसमें केन्द्र में

संघीय सरकार तथा उसके चारों ओर परिधि में राज्य सरकारें हैं जो संविधान द्वारा निर्धारित निश्चित क्षेत्रों में सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग करती है।[4] संविधान निर्मात्री सभा के एक अन्य सदस्य के. संथानाम ने भी कहा था कि 'हमारा संविधान संघात्मक है और इसकी संघीयता न्यायपालिका द्वारा इतनी अच्छी तरह सुरक्षित है कि इसे संविधानिक संशोधन के अतिरिक्त भंग नहीं किया जा सकता।[5]

संविधान के अंगीकृत होने के बाद भी यह वाद–विवाद समाप्त नहीं हुआ और विभिन्न संविधानविद् तथा राजनीति शास्त्री उपरोक्त दोनों दृष्टिकोणों के पक्ष और विपक्ष में अपने–अपने मत व्यक्त करते रहे हैं। के. सी. व्हीयर के शब्दों में, भारत' मुख्यतः एकात्मक राज्य है, जिसमें संघीय विशेषताएँ नाम मात्र की हैं। भारत का संविधान संघीय कम है और एकात्मक अधिक।''[6] डी. एन. बनर्जी का विचार है कि भारतीय संविधान का ढाँचा संघीय है किन्तु उसका झुकाव एकात्मकता की ओर है। डी. डी. बसु का विचार है कि भारत का संविधान न तो पूर्ण रूप से एकात्मक है और न ही पूर्ण रूप से संघात्मक, बल्कि दोनों का सम्मिश्रण है।' जी. एन. जोशी के अनुसार भारत संघ राज्य नहीं है अपितु अर्द्ध–संघ है और उसमें कतिपय एकात्मकता के भी लक्षण हैं।[7] प्रो. एलेक्जेण्डरोविच के अनुसार, भारत सच्चा संघ है, तथापि अन्य संघों की भाँति इसकी अपनी कुछ निराली विशेषताएँ हैं। भारत को अर्द्ध–संघात्मक कहना' मिथ्या है।[8] जेनिंग्स ने लिखा है कि भारत एक ऐसा संघ है जिसमें केन्द्रीकरण की तीव्र प्रवृत्ति पाई जाती है।''[9] नारमन डी. पामर के अनुसार, भारतीय गणतन्त्र एक संघ है तथापि उसकी अपनी विशेषताएँ हैं जिन्होंने संघीय स्वरूप को अपने ढंग से ढाला है।'[10] पाल एच. एपिलबी ने भारतीय संविधान को 'अत्यधिक संघात्मक माना है।[11] डॉ. सुभाष कश्यप का विचार है कि, "संविधान दोहरे राज्यतन्त्र की स्थापना करता है। सरकारों की दो श्रेणियाँ हैं–संघ की सरकार और अवयवी राज्यों की सरकारे। संविधान में संघ सरकार और राज्य सरकारों के बीच शक्तियों का वितरण किया गया है।''संघवाद के इन बहिरंग लक्षणों के बावजूद भारतीय संविधान का प्रधान स्वर एकात्मकता का है।''[12]

वस्तुतः संविधान विशेषज्ञों के मध्य भारतीय संविधान का स्वरूप विवाद का विषय बना हुआ है। डॉ. सुभाष कश्यप लिखते हैं कि प्रश्न जो प्रायः उठाया जाता है वह है, केन्द्र और राज्यों के बिगड़ते हुए सम्बन्ध का, तेलंगाना आदि राज्यों की माँग का तथा संघात्मक व्यवस्था के भविष्य का। यहाँ भी हम एक भारी भ्रान्ति के शिकार हैं और वह यह कि भारतीय संविधान संघात्मक अथा फेडरल है। क्या हम ऐसी संविधानिक व्यवस्था को 'फेडरल' कह सकते हैं जिस व्यवस्था के अन्तर्गत केन्द्रीय संसद् जब चाहे राज्यों के नाम,

सीमाएँ, आकार, क्षेत्र आदि बदल सकती हो, उनका विभाजन कर सकती हो, उनके क्षेत्र के टुकड़े कर पड़ोसी राज्यों में बाँट सकती हो और मानचित्र से किसी राज्य विशेष को पूर्णतया मिटा सकती हो, जब चाहे राज्यों की प्रतिनिधि सरकार को समाप्त कर सकती हो और किसी भी राज्य या राज्यों का शासन सीधे अपने हाथ में ले सकती हो।[13]

भारतीय विधिवेत्ता और संसदीय मामलों के विशेषज्ञ डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी ने यूनेस्को के तत्वावधान में आयोजित बेलग्रेड की अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठी (1973) में कहा था, भारतीय संघवाद राष्ट्रीय लक्ष्य की खोज और क्षेत्रीय दावों के निर्वाह का एक सक्षम आधार प्रस्तुत करता है। आधुनिक भारतीय संघवाद अनुबन्धात्मक नहीं, समर्पणात्मक है। इसका आधार राज्यों और केन्द्र को जोड़कर तैयार नहीं किया गया। इसका मूल उद्देश्य केन्द्र से राज्यों को सत्ता का अधिकार दिलाना था। केन्द्रीयकरण की अपनी सशक्त प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप, भारतीय संधवाद राजनीतिक सामंजस्य और आर्थिक विकास के दोहरे उद्देश्य की पूर्ति का साधन. बना। उन्होंने कहा कि यह विवाद कि भारत में संघीय व्यवस्था है या नहीं, सारहीन है। यह विवाद इसलिए उठा है कि विद्वान अमरीकी उदाहरणों से उधार ली गई संघवाद की शास्त्रीय अवधारणा और पारिभाषिक आधारनिष्ठा पर आस्था रखते हैं। उनका दृष्टिकोण पूर्वाग्रह से युक्त है। भारतीय संघवाद का स्वरूप भिन्न है और वह केन्द्रीकृत संघवाद का नया नमूना पेश करता है, जो खासकर तीसरी दुनिया के नवस्वतन्त्र राष्ट्रों के लिए प्रासंगिक है।

औपनिवेशिक अतीत से जुड़ा हुआ भारतीय संघ

औपनिवेशिक अतीत से भारत को कई बातें विरासत में मिली हैं। भारत का केन्द्रीकृत संघ भी औपनिवेशिक विरासत का ही परिणाम है। डॉ. सी. पी. भाम्मरी ने लिखा है कि देश को लूटने तथा आर्थिक अधिशेष को भारत से इंग्लैण्ड स्थानान्तरित करने के लिए ब्रिटेन ने औपनिवेशिक राज्यतन्त्र को विकसित उपकरणों के साथ स्थापित किया। अपने साथ सहयोग करने वाले वर्गों (By identifying the classes) को पहचान कर भारतीय उपनिवेश के शासन एवं शोषण के लिए एक अत्यधिक केन्द्रीकृत औपनिवेशिक राज्यतन्त्र की स्थापना के द्वारा उन्होंने भारत में इस नग्न शोषण में सफलता प्राप्त की।'' संघवाद की दृष्टि से विरासत' में क्षेत्रीय असन्तुलन भी मिला है। उपनिवेशवादियों द्वारा अपनाई गई आर्थिक विकास नीति, जो अत्यधिक रूप से केन्द्र द्वारा संचारित तथा प्रणालित थी, जिसने गम्भीर क्षेत्रीय असन्तुलन पैदा किये। जहाँ बर्तानवी शासन की कोई दिलचस्पी

नहीं थी वे क्षेत्र पिछड़े रह गए। वे ही क्षेत्र विकसित किए गए जिनसे उसके आर्थिक स्वार्थ जुड़े हुए थे।[14]

इसके अतिरिक्त डॉ. भाम्मरी का यह भी मानना है कि भारत में विकृत संघात्मक व्यवस्था (डिस्टोरेड फेडेरल सिस्टम) स्थापित की गई है जिसके लिए विरासत में मिली तीन सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं : प्रथम, देश के विभाजन तथा उसके बाद की घटनाओं ने नेतृत्व को एक गहरा धक्का पहुँचाया। उस समय देश की एकता कायम रखना सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य हो गया। राष्ट्रीय एकता की रक्षा करने तथा विखण्डनात्मक प्रवृत्तियों और विभाजक शक्तियों के विरुद्ध देश को बचाने के लिए एक शक्तिशाली एवं प्रभावशाली केन्द्रीय सरकार आवश्यक मानी गई। द्वितीय, स्वतन्त्रता के बाद नेतृत्व द्वारा उच्चारित (आर्टीकुलेटेड) आर्थिक विकास का दर्शन औद्योगिक विकास के लिए विकसित आधार संरचना पर निर्भर करता था, जिसकी पहल एक शक्तिशाली केन्द्रीकृत राज्य ही कर सकता था। वस्तुतः भारत में एक आधुनिक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की नींव तैयार करने के लिए सरकार का स्तर निर्णायक माना गया। तृतीय, भारतीय बुर्जुआओं के एकाधिकारी वर्ग ने हालांकि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था तथा राष्ट्रीय बाजार का पूर्ण विकास चाहा। इस कारण उसने महसूस किया कि राज्य सरकार के बजाय राष्ट्रीय (केन्द्रीय सरकार को निर्णायक भूमिका अदा करनी चाहिए। उसे मालूम था कि एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार के जरिए विदेशी एकाधिकारी पूंजीवाद से लेन–देन करना अत्यधिक आसान और सुविधाजनक होगा।[15]

भारतीय संविधान के संघात्मक लक्षण

भारतीय संविधान में 'संघ' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, लेकिन वास्तव में यह एक संघ राज्य है। भारतीय संविधान में संघात्मक व्यवस्था के सभी प्रमुख लक्षण विद्यमान हैं, जो इस प्रकार हैं :

1. लिखित तथा अनम्य संविधान–संघात्मक शासन केन्द्र और राज्यों के बीच एक समझौता–सा है। इसलिए यह आवश्यक है कि इस समझौते की सारी शर्ते लेखबद्धहों जिससे केन्द्र और राज्यों को स्पष्ट रूप से यह मालूम हो जाए कि उसके पृथक–पृथक क्या अधिकार हैं तथा उसके क्या कर्तव्य हैं। भारतीय संविधान न केवल लिखित है बल्कि संसार के सभी संविधानों से कहीं ज्यादा लम्बा है।

संघ संविधान न केवल लिखित होता है वरन् कठोर भी होता है। उसमें संशोधन करने का अधिकार न तो केन्द्र को ही दिया जाता है और न केवल राज्यों को ही, बल्कि

केन्द्र और राज्य दोनों की सम्मति से ही उसमें संशोधन हो सकता है। भारत का संशोधन अमेरिका और स्विट्जरलैण्ड के संविधानों जितना तो कठोर नहीं है, क्योंकि संविधान की कई ऐसी धाराएँ हैं जिसमें संसद राज्यों की इच्छा के विरुद्ध भी संशोधन कर सकती है। फिर भी अनेक महत्वपूर्ण प्रावधान ऐसे हैं जिन्हें संशोधित करने के लिए संसद् की स्वीकृति के साथ–साथ कम–से–कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों की अनुमति भी अनिवार्य है।

2. **संविधान की सर्वोच्चता**——अमरीकी संविधान की भाँति भारतीय संविधान में यह घोषित नहीं किया गया है कि संविधान सर्वोच्च होगा, लेकिन फिर भी भारतीय संविधान इस देश का सर्वोच्च कानून है। भारत में वस्तुतः न तो केन्द्रीय सरकार ही सर्वोच्च है और न राज्यों की सरकारें। संविधान ही सर्वोच्च है क्योंकि केन्द्र और राज्य दोनों को संविधान द्वारा ही शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। दोनों सरकारों के वे कानून अवैध घोषित किए जाते हैं जो संविधान के उपबन्धों के प्रतिकूल हैं।

3. **शक्तियों का विभाजन**——अन्य संघों की भाँति भारतीय संविधान द्वारा भी संघ और राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन किया गया है। विधायी शक्तियों को तीन सूचियों में विभक्त किया गया है––संघ सूची, राज्य सूची तथा समवर्ती सूची। संघ सूची में 97 विषय हैं। ये वे विषय हैं जो अखिल भारतीय महत्व के हैं तथा सम्पूर्ण देश को एकसूत्रता प्रदान करने के लिए आवश्यक हैं। ये विषय हैं–प्रतिरक्षा, युद्ध और सन्धि, रेल्वे, विदेशी व्यापार, बैंक, बीमा कम्पनी, मुद्रा, डाक–तार, टेलीफोन आदि। इन पर केन्द्रीय संसद ही कानून बना सकती है। राज्य सूची में 66 विषय हैं जिनमें महत्वपूर्ण ये हैं–पुलिस, जेल, न्याय व्यवस्था, शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, स्थानीय सरकारें आदि। इनका चयन स्थानीय रुचि और महत्व के आधार पर किया गया है। इनके सम्बन्ध में राज्यों के विधानमण्डल कानून बनाते हैं। समवर्ती सूची में 47 विषय हैं जिनमें महत्वपूर्ण ये हैं–फौजदारी कानून, निवारक नजरबन्दी, विवाह, तलाक, ट्रेड यूनियन, श्रम कल्याण, खाद्य पदार्थों में मिलावट, आदि। इस सूची में सम्मिलित विषयों पर संसद और राज्य विधानमण्डल दोनों ही कानून बना सकते हैं।

केन्द्र और राज्यों के बीच न केवल विधायी बल्कि प्रशासनिक व वित्तीय शक्तियों का भी बँटवारा किया गया है। कनाडा की भाँति भारत में भी अवशिष्टाधिकार केन्द्र को ही प्रदान किये गये हैं। संविधान के अनुच्छेद 249 के अनुसार राज्य सभा के प्रस्ताव से संसद राज्य सूची के किसी भी विषय पर कानून बना सकती है। अनुच्छेद 250 के अनुसार

संकटकाल की घोषणा के प्रवर्तन काल में भी संसद राज्य सूची के विषयों पर कानून बना सकती है।

4. **स्वतन्त्र सर्वोच्च न्यायालय**—संघ शासन की स्थिरता के लिए यह जरूरी है कि केन्द्र और राज्य दोनों ही संविधान के अनुसार कार्य करें और एक–दूसरे के अधिकारों का आदर करें। किन्तु यदि ऐसा न हो और केन्द्र एवं राज्यों में अथवा परस्पर राज्यों में कोई संघर्ष, मतभेद हो जाय तो उसका निपटारा कैसे हो ? इसके लिए एक सर्वोच्च न्यायालय होता है। सर्वोच्च न्यायालय को संविधान की व्याख्या एवं उसकी रक्षा करने वाला कहा गया है। संविधान के संरक्षक के नाते भारत का सर्वोच्च न्यायालय केन्द्र और राज्यों के उन कानूनों को अवैध या गैर–कानूनी घोषित कर सकता है जो संविधान के प्रावधानों के अनुकूल न हों।

5. **उच्च सदन का राज्य सदन होना**—भारतीय संसद का उच्च सदन अर्थात् 50 भारत में केन्द्र–राज्य सम्बन्ध 'राज्यसभा' राज्यों का सदन है। यह राज्यों का प्रतिनिधित्व करता है। यद्यपि यह सच है कि यह प्रतिनिधित्व समता के आधार पर न होकर, जनसंख्या के आधार पर है।

6. **कतिपय संवैधानिक संशोधन में राज्यों की सहमति**—उपरोक्त लक्षणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान एक पूर्ण संघात्मक प्रणाली की स्थापना करता है। एम. बी. पायली ने लिखा है कि भारतीय संविधान के संघीय होने न होने पर विवाद उठाने का कोई कारण दृष्टिगत नहीं होता। संविधान संघवाद की कसौटी पर खरा उतरता है।"

भारतीय संविधान के एकात्मक लक्षण

भारत का संविधान भारत की विशिष्ट राजनीतिक परिस्थितियों की उपज है। इसीलिए कभी–कभी कहा जाता है कि यह शरीर से संघात्मक है और आत्मा से एकात्मक।' यदि भारतीय संविधान और राजनीतिक व्यवस्था का विश्लेषण किया जाए तो दो प्रकार के एकात्मक तत्व दृष्टिगोचर होते हैं :

(क) भारतीय संविधान के अन्तरंग में उपस्थित एकात्मक तत्व।

(ख) भारतीय संविधान के बहिरंग में उपस्थित एकात्मक तत्व।

(क) भारतीय संविधान के अन्तरंग में उपस्थित एकात्मक तत्व–सविधान निर्माता भारतीय इतिहास के इस तथ्य से परिचित थे कि भारत में जब–जब केन्द्रीय सत्ता दुर्बल हो गई, तब–तब भारत की एकता भंग हो गई और उसे पराधीन होना पड़ा। संविधान निर्माता भारत में इतिहास की पुनरावृत्ति नहीं चाहते थे। अतः संविधान निर्माताओं ने केन्द्रीय सत्ता को अधिक शक्तिशाली बनाने का कार्य न्यायिक व्याख्या द्वारा सर्वोच्च न्यायालय पर छोड़ने की अपेक्षा स्वयं ही कर लेना उचित समझा। भारतीय संविधान के एकात्मक तत्व निम्नलिखित हैं :

1. **इकहरी नागरिकता——**भारतीय संविधान दोहरी नागरिकता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। अमेरिका में हर नागरिक एक ओर तो संयुक्त राज्य अमेरिका का नागरिक है और दूसरी ओर अलास्का या हवाई या वरजीनिया या अन्य किसी राज्य का नागरिक है जहाँ वह निवास करता हो। केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार दोनों ही उसे पृथक्–पृथक् अधिकार प्रदान करती हैं और दोनों के नियम तथा कानून उसे मानने पड़ते हैं (परन्तु भारत में सभी देशवासियों के लिए एक ही नागरिकता है। यद्यपि हमें नियम और कानून तो दोनों ही सरकारों के मानने पड़ते हैं, परन्तु हम केवल भारत के नागरिक हैं, न कि बिहार, उत्तर प्रदेश अथवा पंजाब के।

2. **शक्तियों का बंटवारा केन्द्र के पक्ष में——**संविधान में शक्तियों का बँटवारा इस प्रकार किया गया है कि केन्द्र को राज्यों की अपेक्षा अधिक शक्तियाँ दी गई हैं। उदाहरणार्थ, संविधान द्वारा महत्वपूर्ण विषय संघ सूची में रखे गए हैं। संघ सूची मे 97 विषय रखे गए हैं और इन पर केवल केन्द्रीय संसद ही कानून बना सकती है। समवर्ती सूची में 47 विषय हैं। इन पर केन्द्रीय संसद तथा राज्यों के विधानमण्डल दोनों ही कानून बना सकते हैं। परन्तु यदि दोनों के बनाए हुए कानूनों में कोई विरोध उत्पन्न हो जाए, तो केन्द्रीय संसद का कानूनों मान्य होता है और राज्यों द्वारा निर्मित कानून निरस्त हो जाते हैं। जहाँ तक राज्य सूची का सम्बन्ध है, इस पर राज्य विधानमण्डल कानून बना सकता है, परन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में संसद् भी इस पर कानून बना सकती है। अवशिष्ट शक्तियाँ भी केन्द्र को प्राप्त हैं, न कि राज्यों को। संविधानसभा में अनेक सदस्यों ने यह मत व्यक्त किया कि डॉ. अम्बेडकर ने सब कुछ केन्द्र को प्रदान कर दिया है। संविधान निर्माताओं ने देश की सामयिक आर्थिक राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की अनिवार्यता अनुभव की। के. एम. मुंशी ने स्पष्ट कहा था कि, "तथ्य यह है कि भारत के महान् दिन वे थे जबकि देश में शक्तिशाली केन्द्रीय शक्ति थी और सबसे

बुरे दिन वे थे जबकि केन्द्र की शक्ति को प्रान्तों की शक्ति द्वारा कमजोर किया जा रहा था और उसकी अवज्ञा हो रही थी।"

इस प्रकार भारतीय संविधान ने एक अत्यन्त शक्तिशाली केन्द्र का निर्माण किया है। डॉ. सुभाष कश्यप लिखते हैं, "संघ सूची में 97 विषय है और वह तीनों सूचियों में सबसे लम्बी है। समवर्ती सूची में 47 विषय हैं जिन पर केन्द्रीय सरकार जब चाहे तब कानून बना सकती है। इसके अतिरिक्त अवशिष्ट शक्तियाँ भी केन्द्रीय सरकार में ही निहित हैं।"

3. **संघ और राज्यों के लिए एक ही संविधान**—प्रायः संघ प्रणाली में राज्यों के संविधान संघ से पृथक होते हैं, लेकिन भारत में भारत के संविधान के अन्तर्गत संघ के संविधान के साथ–साथ राज्यों के संविधान भी सम्मिलित हैं। भारतीय संघ की इकाइयों को अमेरिका के राज्यों तथा स्विस कैण्टनों की भाँति पृथक् संविधान के निर्माण का अधिकार नहीं है।

4. **केन्द्रीय सरकार राज्यों की सीमाओं के परिवर्तन में समर्थ**—अमेरिका या आस्ट्रेलिया के संघ में इकाई राज्यों की सीमाओं में उनकी सहमति के बिना परिवर्तन नहीं किया जा सकता। किन्तु हमारे संविधान के अनुच्छेद 3 के अनुसार संसद् को यह अधिकार है कि, वह (क) किसी राज्य से उनका कोई प्रदेश पृथक करके या दो या अधिक राज्यों को मिलाकर कोई नया राज्य बना दे, (ख) किसी राज्य के क्षेत्रफल में कमी या वृद्धि कर दे, (ग) राज्य की सीमाओं तथा उनके नाम बदल दे।

5. **एकीकृत न्याय व्यवस्था**—संघ प्रणाली में संघ और राज्यों के कानूनों को लागू करने के लिए दोहरी न्याय व्यवस्था आवश्यक है। भारतीय संघ अमेरिका की तरह दोहरी न्याय व्यवस्था का प्रबन्ध करने के स्थान पर न्याय व्यवस्था को एकीकृत कर दिया गया है। सर्वोच्च न्यायालय के बाद न्यायालयों का गठन एक पिरामिड के रूप में होता है। राज्यों के उच्च न्यायालयों का निर्माण और गठन संघीय सत्ता के द्वारा ही किया जाता है।

6. **आपातकाल में एकात्मक शासन**—संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया व स्विट्जरलैण्ड सरीखे संघराज्यों में केन्द्र को यह शक्ति प्राप्त नहीं है कि वह राज्यों की स्वायत्तता या स्वाधीनता को समाप्त कर सके। परन्तु भारत में आपातकाल की घोषणा किए जाने पर संविधान एकात्मक रूप धारण कर लेता है। आपात काल में संसद उन विषयों पर भी कानून बना सकती है जो राज्यों की सूची में सम्मिलित हैं। जब राष्ट्रपति यह घोषणा कर देता है कि किसी राज्य विशेष की सरकार संविधान की धाराओं के अनुसार नहीं चलाई

जा सकती तो राज्य का विधानमण्डल भंग कर दिया जाता है। उस स्थिति में राष्ट्रपति राज्य के सभी अधिकारियों की शक्ति अपने हाथ में ले लेता है।

7. **महत्वपूर्ण विषयों को एकीकृत व्यवस्था अखिल भारतीय सेवायें आदि**—अधिकांश संघात्मक राज्यों में दोहरा कानून, दोहरी न्याय व्यवस्था, दोहरी उच्च नागरिक सेवाएँ, दोहरा लेखा परीक्षण इत्यादि व्यवस्थाएँ होती हैं। किन्तु भारतीय संविधान द्वारा उन समस्त महत्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में, जो राष्ट्र की एकता बनाए रखने के लिए आवश्यक हैं, एकरूपता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवा (आई. ए. एस.) तथा पुलिस सेवाओं (आई. पी. एस.) की व्यवस्था की गयी है और इन सेवाओं के सदस्य राज्यों में मुख्य प्रशासनिक पदों पर नियुक्त किए जाते हैं। भारत के नियन्त्रक महालेखा–परीक्षक के अधीन भारत की लेखा परीक्षा तथा लेखा सेवा का आयोजन है, जो एक केन्द्रीय सेवा है। किन्तु यह संघ के साथ–साथ राज्यों के व्यय का लेखा तथा परीक्षा कार्य को भी सम्पन्न करती है। निर्वाचन आयोग की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और आयोग संसद के साथ साथ राज्य विधानमण्डलों के निर्वाचनों को भी सम्पन्न कराता है।

8. **राज्यों में राज्यपालों की नियुक्ति**—भारतीय संघ के इकाई राज्यों में राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर रहते हैं। राज्यपाल केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हैं। राज्यपाल के माध्यम से केन्द्रीय सरकार का राज्यों पर प्रत्येक स्थिति में पूर्ण नियन्त्रण रहता है।

9. **आर्थिक दृष्टि से राज्यों की दुर्बल स्थिति केन्द्र पर निर्भरता**—संविधान द्वारा वित्तीय दृष्टि से राज्य केन्द्रीय सरकार पर निर्भर बना दिए हैं। केन्द्र द्वारा राज्यों को विभिन्न प्रकार के अनुदान आदि दिए जाते हैं और इस आर्थिक सहायता के कारण केन्द्र राज्यों पर छाया रहता है।

10. राज्यों का राज्यसभा में असमान प्रतिनिधित्व–विश्व के अन्य संघों में प्रायः उच्च सदन में छोटे–बड़े सभी राज्यों को बराबर का प्रतिनिधित्व दिया गया है। परन्तु भारत में राज्यों को राज्यसभा में आबादी के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया गया है।

11. **राज्य विधानमण्डलों द्वारा पारित विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए**—यद्यपि राज्य विधान सभा द्वारा पारित प्रत्येक विधेयक राज्यपाल की स्वी कृति से कानून बन जाता है, किन्तु कुछ विधेयक ऐसे भी होते हैं, जिन्हें राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखना पड़ता है और उनकी स्वीकृति प्राप्त होने पर ही कानून बनता है।

12. **केन्द्र द्वारा राज्यों के मतभेदों का निवारण प्राय संघ द्वारा**—संघ तथा राज्यों के बीच अथवा दो या दो से अधिक राज्यों के बीच विवादों का निर्णय करने के लिए संघ की स्थिति महत्वपूर्ण है। केन्द्रीय सरकार के पास समन्वयकारी शक्तियाँ हैं। केन्द्रीय सरकार ही वित्त आयोग, अन्तर्राज्यीय तथा क्षेत्रीय परिषदों का गठन करती है। क्षेत्रीय परिषदों के माध्यम से केन्द्र राज्य सरकारों की शक्तियों पर नियन्त्रण रखता है। प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद के अध्यक्ष के रूप में राष्ट्रपति, एक केन्द्रीय मन्त्री की नियुक्ति करता है।

13. संसदीय कानून व्यापक है।

14. राज्य के कुछ विधेयकों पर राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति आवश्यक है।

15. राज्य वि.म. द्वारा पारित कुछ विधेयकों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है।

(ख) भारतीय संविधान के बहिरंग में उपस्थित एकात्मक तत्व—संविधानिक प्रावधानों के अतिरिक्त कतिपय ऐसे राजनीतिक तत्वों का उदय और विकास भारत की राजनीतिक व्यवस्था में दिखलाई देता है जिनसे एकात्मकता में वृद्धि हुई और केन्द्रीकृत संघवाद का चलन हुआ। ऐसे तत्व कुछ इस प्रकार हैं :

1. **चमत्कारी व्यक्तित्व**—भारत के प्रधानमन्त्री का व्यक्तित्व चमत्कारी और प्रभावशाली रहा है। नेहरू जैसे व्यक्तित्व वाले प्रधानमन्त्री ने भारत को राजनीतिक स्थिरता और राष्ट्रीय दृष्टिकोण प्रदान किया। नेहरू के बाद प्रधानमन्त्री पद पर मुख्य रूप से श्रीमती इंदिरा गाँधी ने ही कार्य किया। इन दोनों प्रधानमन्त्रियों के आगे राज्यों के नेताओं का व्यक्तित्व फीका लगता था और कोई मुख्यमन्त्री उनका विरोध करने की सोच ही नहीं सकता था। कई बार मुख्यमन्त्रियों की नियुक्ति प्रधानमन्त्रियों की इच्छा से हुई और उन नेताओं को राज्य राजनीति से विरक्त होना पड़ा जिन्हें कि प्रधानमन्त्री का विश्वास प्राप्त नहीं था।

2. **एकदलीय प्रभुत्व**—स्वाधीनता के बाद से मार्च 1977 तक यानी लगभग तीस वर्षों तक भारत की राजनीति कांग्रेस दल के इर्द–गिर्द घूमती रही है। सन् 1947 से 1967 ई. तक केन्द्र और राज्यों में कांग्रेस दल की ही सरकारें रही हैं। सन् 1971 के पश्चात् पुनः लगभग सम्पूर्ण देश में कांग्रेस दल का एकछत्र शासन स्थापित हो गया। एकदलीय प्रभुत्व के कारण केन्द्र–राज्य मतभेदों की गुंजाइश कम रह गई और सम्पूर्ण विवादों का समाधान दलीय स्तर पर हो जाता था। जनवरी 1980 के बाद पुनः एकदलीय व्यवस्था के उभरने के संकेत दिखलायी दिये।

3. **योजना आयोग/नीति आयोग**—सन् 1950 में योजना आयोग का गठन किया गया। योजना आयोग ने संविधान और शासन दोनों को ही प्रभावित किया। अशोक चन्दा ने आयोग के महत्व के कारण उसे देश का 'आर्थिक मन्त्रिमण्डल कहा है। राज्य सरकारें तो वित्तीय सहायता और आर्थिक परामर्श के लिए आयोग पर अधिकांशतः निर्भर हैं। के. संथानाम ने लिखा है कि समूची नियोजन व्यवस्था ने नीति और वित्त सम्बन्धी सभी मामलों में राज्यों की स्वायत्तता को एक छाया का रूप प्रदान कर दिया है। योजना आयोग अपने कार्यों का सतत् विस्तार करता गया और आज रक्षा को छोड़कर प्रशासन के सभी क्षेत्रों में भावी विकास का प्रमुख निर्णायक बन गया है।

4. **राष्ट्रीय विकास परिषद**—योजना आयोग की भाँति ही राष्ट्रीय विकास परिषद' भी देश की आर्थिक नीतियों के निर्धारण में अत्यन्त प्रभावशाली निकाय है। इसका लक्ष्य योजना आयोग, केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों के मध्य सामंजस्य बनाए रखना है। वस्तुतः राष्ट्रीय विकास परिषद योजना व्यवस्था की शीर्षस्थ संस्था है। इसी कारण के. संथानाम ने इसे 'भारतीय संघ का सर्वोच्च मन्त्रिमण्डल' (सुपर केबिनेट) कहा है। अब व्यवहार में, राज्यों के योजना सम्बन्धी निर्णय राष्ट्रीय विकास परिषद में लिए जाते हैं जिससे राज्यों की स्थिति केन्द्रीय सरकार के एजेण्ट के समतुल्य हो गई है। राष्ट्रीय विकास परिषद के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इसका उपयोग मुख्यमन्त्रियों पर दबाव डालने के लिए किया जाता है। इसने भी एकात्मकता को बढ़ावा दिया है।

संविधान में केन्द्रीयकरण के कारण

यह एक सच्चाई है कि भारत में इकाइयों की अपेक्षा केन्द्र को अधिक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। यह एक विचारणीय प्रश्न है कि ऐसे क्या कारण हैं। जिनकी वजह से संविधान द्वारा ही केन्द्र को शक्तिशाली बना दिया गया। कतिपय प्रमुख कारण इस प्रकार हैं:

(i) स्वाधीनता प्राप्ति के समय देश में सर्वत्र राजनीतिक अस्थिरता विद्यमान थी। इसे समाप्त करने के लिए एक शक्तिशाली केन्द्र की आवश्यकता महसूस की गयी।

(ii) स्वाधीनता प्राप्ति के समय विकट आर्थिक समस्याएँ विद्यमान थीं जिनके निराकरण के लिए सुदढ़ केन्द्रीय शासन का होना अपरिहार्य था। देश के लाखों गाँवों की उन्नति का प्रश्न था, औद्योगिक विकास की समस्या थी तथा कृषि की उन्नति के लिए सिंचाई योजनाओं के प्रसार की आवश्यकता थी। इन संविधान में संघ प्रणाली 55 सब

योजनाओं की सफलता के लिए यह जरूरी समझा गया कि सारे भारत को एक 'इकाई' मानकर चला जाये।

(iii)धार्मिक अल्पसंख्यकों तथा अन्य छोटे–छोटे वर्गों को सुरक्षा देने के उद्देश्य से भी केन्द्र की शक्तियों में वृद्धि की गई।

(iv)केन्द्र को शक्तिशाली बनाना इसलिए भी आवश्यक समझा गया जिससे वह राज्य सरकारों से केन्द्रीय कानूनों का समुचित पालन करवा सके।

(v) संविधान के रचयिताओं ने, जिनमें से अनेक महानुभाव विख्यात इतिहासकार और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ थे, इस तथ्य से परिचित थे कि भारतीय इतिहास का अध्ययन हमें यह सबक सिखाता है कि जब–जब केन्द्रीय सत्ता कमजोर हुई तब–तब देश की एकता का विघटन हुआ और स्वाधीनता का ह्रास हुआ है (अतः संविधान द्वारा एक ऐसी शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता की स्थापना की जाये जो हर संकट का सामना कर सके एवं देश की प्रभुसत्ता और अखण्ड़ता की रक्षा कर सके।

(vi)संविधान निर्माता सन् 1935 के भारत सरकार अधिनियम से भी प्रभावित थे, जिसका उद्देश्य प्रान्तों की तुलना में केन्द्र को अधिक शक्ति–सम्पन्न करना था।

(vii) शक्तिशाली केन्द्र न केवल यह दर्शाता है कि सारा भारत एक है। अपितु वह इस एकता की रक्षा भी करता है। जिन दिनों संविधान का निर्माण हो रहा था देश के कुछ भागों में साम्प्रदायिक दंगा–फसाद चल रहा था। इसके अतिरिक्त हैदराबाद व तेलंगाना में सशस्त्र बगावत की आशंका थी। संविधान सभा के सदस्य यह जानते थे कि साम्प्रदायिक, धार्मिक, जातीय और प्रादेशिक झगड़ों को समाप्त करने तथा देश की स्वतन्त्रता को स्थिर रखने के लिए केन्द्र का शक्तिशाली होना बहुत जरूरी है।

व्यवहार में भारतीय संघवाद

भारत की राजनीतिक परिस्थितियों के साथ संघवाद के स्वरूप में भी परिवर्तन आता रहा है। भारत की संघव्यवस्था को राजनीतिक तत्वों के बदलते परिप्रेक्ष्य में चार प्रकार से चित्रित किया जा सकता है––

1. केन्द्रीकृत संघवाद का युग
2. सहकारी संघवाद का युग
3. एकात्मक संघवाद का युग

4. सौदेबाजी वाली सहकारी संघवाद का युग

1. **केन्द्रीकृत संघवाद का युग**—सन् 1950 से 1967 तक का युग केन्द्रीकृत संघवाद का युग कहा जा सकता है। सन् 1950 से 1964 तक का भारतीय राजनीतिक युग नेहरूयुग' कहलाता है। इस युग में केन्द्र तथा राज्यों के मधुर सम्बन्ध रहे और उनमें उग्र मतभेद उभरकर सामने नहीं आए। इस युग में व्यवहारतः कतिपय ऐसे राजनीतिक तथ्य उभरे जिन्होंने भारत में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को पनपने में मदद दी। केन्द्र में नेहरू–पटेल जैसे नेता मौजूद थे। केन्द्र तथा अधिकांश राज्यों में कांग्रेस पार्टी को एकछत्र शासन था, अतः मतभेदों को दल के संगठन स्तर पर ही हल कर लिया जाता था। नेहरू के करिश्माती व्यक्तित्व तथा नेतृत्व शक्ति का कोई राज्य विरोध करने तथा कोई नेता मतभेद उत्पन्न करने का साहस नहीं करता था। योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद संघ तथा राज्य सरकारों के बीच तालमेल हेतु 'सुपर केबिनेट' के रूप में कार्य कर रही थी और एक दल की प्रधानता के कारण इसके कार्यों को चुनौती नहीं दी जा सकती थी। इस काल में केन्द्रीयकरण की सशक्त प्रवृत्ति के कारण भारतीय संघवाद राजनीतिक समन्वय और आर्थिक विकास के दोहरे उद्देश्यों की पूर्ति का साधन बना।

2. **सहकारी संघवाद का युग**—एम. सी. सीतलवाड के अनुसार 1967 के चतुर्थ आम चुनाव के पश्चात् शक्ति का सन्तुलन राज्यों की ओर झुका। कांग्रेस का एकछत्र शासन समाप्त हुआ, केन्द्र में नेहरू जैसा व्यक्तित्व नहीं रहा और राष्ट्रीय विकास परिषद में अनेक गैर–कांग्रेसी दलों के मुख्यमन्त्री अपनी केन्द्र विरोधी आवाज बुलन्द करने लगे। नेहरू के बाद राज्यों के मुख्यमन्त्री शक्ति के केन्द्र बन गए और वे केन्द्र की राजनीति को प्रभावित करने लगे। कांग्रेस दल के विभाजन (1969) के पश्चात् लोक सभा में सत्ताधारी दल अल्पमत में आ गया। जिससे केन्द्रीय नेतृत्व को राज्यों की माँगों के आगे झुकना पड़ा।

1967 के आम चुनावों के पश्चात् केन्द्र व राज्यों के पारस्परिक सांविधा निक सम्बन्धों के विषय में मतभेद काफी उग्र रूप में उत्पन्न हुए। अधिकतर राज्यों में गैर–कांग्रेसी दलों की सरकारें बनीं। ये सरकारें संघ सरकार के नियन्त्रण में उस सीमा तक नहीं रहना चाहती थीं जिस सीमा तक कांग्रेस दल की प्रादेशिक सरकारें पहले रहती थीं। प्रत्येक राज्य चाहता था कि केन्द्र द्वारा प्रस्तावित सार्वजनिक औद्योगिक इकाइयों को उसी के क्षेत्र में स्थापित किया जाये। भाषा के प्रश्न को लेकर उग्र विवाद उत्पन्न हुए। केन्द्रीय रिजर्व पुलिस को लेकर मतभेद पैदा हुए और राज्यपालों की नियुक्ति का प्रश्न भी विवाद का कारण बन गया।

केन्द्र और राज्यों के बीच विवादों के उपरान्त भी आपसी सहयोग बना रहा और 'सहकारी संघवाद' (Co-operative federalism) के युग का सूत्रपात हुआ। 'सहकारी संघवाद' का प्रमुख लक्षण केन्द्र और राज्यों की सरकारों की एक दूसरे पर निर्भरता है। उस व्यवस्था में केन्द्रीय सरकार शक्तिशाली तो होती है किन्तु राज्य सरकारें भी अपने क्षेत्र में कमजोर नहीं होतीं। चतुर्थ आम चुनाव के बाद प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी को मद्रास के अन्ना दुराई, उड़ीसा के आर. एन. सिंहदेव, उत्तर–प्रदेश के चरण सिंह तथा पंजाब के गुरुनामसिंह जैसे गैर कांग्रेसी मुख्य मन्त्रियों का विश्वास प्राप्त करने में सफलता मिली। यहाँ तक कि अक्सर ये मुख्यमन्त्री अपनी कठिनाइयों में और अपने साझीदारों में मतभेद पैदा होने पर उनसे सलाह लेते थे। रजनी कोठारी लिखते हैं कि जो लोग यह समझते थे कि राज्यों में भिन्न दलों की सरकारों के बनने से दल या पार्टी प्रणाली टूट जायेगी, उन्होंने एक तो कांग्रेस और प्रतिपक्षी दलों के नेताओं के पुराने सम्बन्धों को भुला दिया और इस बात की उपेक्षा कर दी कि भारत में इस प्रणाली में इतना लोच है कि वह नये नेताओं और नये दलों को भी अपने अन्दर स्थान दे सके।"

3. **एकात्मक संघवाद का युग**–सन् 1971 से मार्च 1977 तथा 1980 से 1989 की अवधि में भारतीय राजनीति में श्रीमती इन्दिरा गांधी और राजीव गांधी सर्वमान्य नेता के रूप में उभरे और संसदीय चुनावों में कांग्रेस (इ) को प्रचण्ड बहुमत प्राप्त हुआ। इससे शक्ति का सन्तुलन केन्द्र की ओर झुक गया। जून 1975 से मार्च 1977 तक तो भारतीय राज्य एकात्मक तन्त्र में परिवर्तित कर दिया गया। 42वें संविधान संशोधन द्वारा राज्यों पर केन्द्रीय वर्चस्व स्थापित करने का प्रयास किया गया। राज्यों के मुख्यमन्त्रियों की स्थिति केन्द्रीय सरकार के सूबेदार जैसी हो गयी। आन्तरिक स्थिति से उत्पन्न आपातकाल की घोषणा के प्रवृतन काल में मुख्यमन्त्रियों को एक पैर अपने राज्य में रहता था तो दूसरा पैर नई दिल्ली मैं। श्री बहुगुणा और नन्दिनी सत्पथी जैसे मुख्यमन्त्रियों को प्रधान मन्त्री के इशारे पर हटना पड़ा। जनवरी 1976 में तमिलनाडु की डी. एम. के. सरकार को बहुमत होने के बावजूद बर्खास्त कर राष्ट्रपति शासन थोप दिया गया। पश्चिम बंगाल के मुख्यमन्त्री सिद्धार्थ शंकर राय को अपने पद से हटाने के लिए सभी सम्भव प्रयत्न किये गये। आपातकाल के दौरान यह प्रक्रिया और तीव्र हुई, उन बीस महीनों के दौरान उठाये गये कदमों ने बिना किसी सन्देह के यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि राज्य मन्त्रिमण्डलों और विधान सभाओं को निरन्तर किसी न किसी प्रकार अपनी बर्खास्तगी की आशंका रहती थी, यदि वे केन्द्र के पक्ष का अनुसरण नहीं करते। श्री संजय गांधी (इन्दिरा के छोटे पुत्र)ने

देश की शासन व्यवस्था में एक अतिरिक्त सत्ता केन्द्र का स्थान ग्रहण कर लिया था और वे मुख्यमन्त्रियों को ऐसे निर्देश देते थे जैसे सेठजी अपने मुनीमों को देते हैं।

जनवरी 1980 में सम्पन्न 7वीं लोकसभा चुनावों में केन्द्र में पुनः कांग्रेस (इ) का वर्चस्व स्थापित हो गया। 17 फरवरी, 1980 को गैर–कांग्रेस शासित नौ राज्यों–पंजाब, राजस्थान, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, उत्तर–प्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार, तमिलनाडु तथा गुजरात—की विधानसभाओं को भंग कर राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। मुख्यमन्त्रियों को दिल्ली द्वारा मनोनीत किया जाने लगा। प्रधानमन्त्री द्वारा मनोनीत मुख्यमन्त्री छोटे–छोटे निर्णयों के लिए कांग्रेस नेतृत्व से विचार विनिमय के लिए निरन्तर दिल्ली की तीर्थयात्रा करने लगे। इस प्रकार के भी उदाहरण हैं कि मुख्यमन्त्रियों के कार्य काल का अधिक समय स्वयं के राज्य की राजधानी के बजाय नई दिल्ली में प्रधानमन्त्री के दर्शन की प्रतीक्षा में बीतने लगा। राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमन्त्री जगन्नाथ पहाड़िया राजस्थान का प्रशासन सामान्यतः दिल्ली से संचालित करते थे। राज्यपालों की बर्खास्तगी की परम्परा शुरू की गई। राज्यपाल प्रभुदास पटवारी और रघुकुल तिलक की बर्खास्तगी एवं टी. एन. सिंह को पद त्यागने के लिए बाध्य करना एकात्मक संघवाद की ओर उन्मुखता के कतिपय उदाहरण हैं। इसी प्रकार 1984 में जम्मू–कश्मीर और आन्ध्र प्रदेश में केन्द्र की भूमिका एकात्मकता के विस्मयकारी उदाहरण हैं।

राजीव गांधी के प्रधानमन्त्रित्व काल में (1984-1989) 17 मुख्यमन्त्रियों को अपने पद से हटना पड़ा और 14 राज्यपालों को अपना सामान्य कार्यकाल समाप्त करने से पूर्व ही बदल दिया गया। राजीव गांधी द्वारा राज्यों की देखभाल के दौरे, जिला मजिस्ट्रेटों को सीधे निर्देश देना, ग्राम पंचायतों के सरपंचों को सीधे पत्र लिखना आदि निर्वाचित राज्य सरकारों की उपेक्षा कर क्या संघ प्रणाली को एकात्मकता की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न नहीं थे?

4. **सौदेबाजी वाली संघ व्यवस्था—**मार्च 1977 के लोक सभा चुनावों के बाद (1977-1979) तथा नवम्बर के नवम् लोक सभा चुनावों के परिणामों से भारतीय राजनीति में आमूलचूल परिवर्तन आया।

मार्च 1977 के बाद केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार स्थापित हुई और राज्यों में विविध दलों की सरकारों की स्थापना हुई। उत्तर–प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, दिल्ली, राजस्थान, हरियाणा व हिमाचल–प्रदेश में जनता पार्टी सत्ता में आयी। पंजाब में जनता–अकाली, पश्चिमी बंगाल में मार्क्सवादी दल, तमिलनाडु व पांडिचेरी में अन्नाद्रमुक,

जम्मू–काश्मीर में नेशनल कॉन्फ्रेंस, केरल में साम्यवादी दल के नेतृत्व वाला मोर्चा, कर्नाटक और आन्ध्र प्रदेश में कांग्रेसी सरकारें पदासीन थीं। केन्द्र की जनता सरकार एक दुर्बल सरकार थी क्योंकि यह विभिन्न घटकों से बनी साझा सरकार (Coalition) के समतुल्य थी। अतः राज्यों की सरकारों ने सौदेबाजी करने का अनवरत प्रयत्न किया। यहाँ तक कि कतिपय गैर जनता राज्य सरकारों ने राज्य स्वायत्तता' का नारा बुलन्द किया। वित्तीय स्रोतों के वितरण को लेकर पश्चिम बंगाल की मार्क्सवादी सरकार ने सदैव केन्द्रीय सरकार से दबाव एवं सौदेबाजी की भाषा में बातचीत करने का प्रयत्न किया।

नवम्बर 1989 के नवम् लोकसभा चुनावों के बाद देश के राजनीतिक मानचित्र में अभूतपूर्व बदलाव आया। देश के तीन–चौथाई हिस्से पर एक पार्टी का एकाधिकार खत्म हो गया, बहुदलीय सरकारों को फिर से मान्यता मिली और संविधान में संघ प्रणाली 59 लोकमत ने उस व्यक्तिवादी राजनीति को धता बता दिया जिसके प्रतीक राजीव गांधी और इंका बन गए थे। लोगों ने केन्द्र और राज्यों में बहुदलीय सामूहिक नेतृत्व के पक्ष में मतदान किया। जिन 1613 विधान समाई क्षेत्रों में इस बार (फरवरी 1990) चुनाव हुए उनमें इंका सिर्फ पाल पर ही जीत सकी। बाकी 1196 सीटें उन आधा दर्जन राजनीतिक दलों की झोली में गईं जिन्होंने हाल ही में चुनावी अहमियत हासिल की है। इनमें भाजपा 497 सीटें पाकर अगुआ रही। जनता दल को 448, भाजपा को 36 और माकपा को 12 सीटें मिलीं। महत्व पूर्ण बात यह है कि द्रमुक, शिवसेना और झारखण्ड मुक्ति मोर्चा जैसे क्षेत्रीय संगठन 100 से ज्यादा सीटें पाने में सफल हुए। इन आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि राज्यों और केन्द्र में पहली बार शासन न सिर्फ किसी पार्टी अथवा गठबन्धन का बल्कि अनेक ऐसे गुटों का भी होगा जो डाले गए वोटों का बहुमत हासिल करने में काम याब रहे। व्यापक सन्दर्भ में इसका मतलब यह है कि देश सम्भवतः किसी प्रकार की संघीय व्यवस्था की ओर बढ़ रहा है। ऐसे में राज्यों में सत्तारूढ़ पार्टियों को काफी हद तक स्वायत्तता मिल सकती है जो कि किसी स्वस्थ लोकतन्त्र के लिए बहुत जरूरी है।[16]

अब केन्द्र राज्यों पर सवार नहीं हो सकेगा और यहाँ तक कि नई दिल्ली के मामलों में भी दखल नहीं दे पाएगा। कोई भी नीतिगत घोषणा करने से पहले राष्ट्रीय मोर्चा सरकार को भाजपा और कम्युनिस्टों, दोनों के विचारों को ध्यान में रखना होगा। पंजाब और जम्मू–कश्मीर जैसे मामलों पर तो वह इंका को भी नजरअंदाज नहीं कर सकेगी।

राज्य स्तर पर बीजू पटनायक, मुलायमसिंह यादव और चिमन भाई पटेल सरीखे मुख्यमन्त्रियों का अपना अलग ही रुतबा है। न तो विश्वनाथ प्रताप सिंह और न ही

देवीलाल दिल्ली से उन पर लगाम कस पायेंगे। इसी तरह, 10, जनपथ के अपने आवास से राज्यों में इंका को निर्देश देने की राजीव गांधी की क्षमता भी काफी हद तक चुक गई है। शरद पवार, चेन्ना रेड्डी और वीरेन्द्र पाटिल जैसे मुख्यमन्त्री तो ऐसे तेवर दिखा ही चुके हैं जो राजीव के प्रधानमन्त्री रहते वक्त नदारद थे।

भारतीय संघवादः ऐतिहासिक, दैनिक, राजनीतिक और व्यावहारिक पहलू

ऐतिहासिक पहलू

यद्यपि ब्रिटिश शासन ने भारत में एक उच्चकोटि की केन्द्रीय एवं एकात्मक शासन प्रणाली स्थापित कर दी थी, फिर भी बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही यह अनुभव किया जाने लगा था कि भारत जैसे विशाल देश के लिए जहाँ जातियों, धर्मों और भाषाओं की विविधता विद्यमान है, केन्द्रीयकरण किसी भी स्थिति में उपयुक्त नहीं होगा। मान्टेग्यू–चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में भारत को राज्यों के एक संघ के रूप में संगठित करने की चर्चा की गयी थी। साइमन कमीशन की रिपोर्ट में भारत को एक संघ के रूप में संगठित करने की बात को फिर से दोहराया गया। सन् 1935 के भारत सरकार अधिनियम ने एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना का प्रस्ताव किया, लेकिन देशी राज्यों के असहयोग के फलस्वरूप इस संघ का प्रादुर्भाव नहीं हो सका। सन् 1935 के अधिनियम में जिस संघीय व्यवस्था की कल्पना की गयी थी उसमें केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति प्रबल थी क्योंकि अंग्रेजों को यह भय था कि भारत में साम्राज्यवादी हित उसी समय तक सुरक्षित रह पायेंगे जब तक कि केन्द्रीय व्यवस्था मजबूत होगी। इस प्रकार एक शक्तिशाली केन्द्र–प्रधान संघ की परम्परा 1935 के अधिनियम के माध्यम से संविधान निर्मात्री सभा तक पहुँची जिसने उसे स्वीकार कर लिया। उसके इस विचार को देश के विभाजन ने और भी अधिक सप्रासंगिक बना दिया। संविधान निर्मात्री सभा पर नेहरू रिपोर्ट (1928) का भी प्रभाव पड़ा था जिसमें भारत के बहुल समाज के पक्ष को उभारा गया था और यह कहा गया था कि भारत जैसे विशाल देश में जहाँ विभिन्न भाषाएँ, संस्कृतियाँ, धर्म और जातियाँ हैं और जिसकी विशाल जनसंख्या है, उसमें केवल संघ प्रणाली ही सफल हो सकती है—एक ऐसी संघ प्रणाली जिसका उद्देश्य विभिन्नता में एकता स्थापित करना हो। संविधान निर्मात्री सभा ने भी इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया और राजनीतिक संघ के साथ–साथ सांस्कृतिक संघ के निर्माण की मंशा प्रकट की। भारतीय संघ का सांस्कृतिक पक्ष आगे चलकर उस समय और भी प्रबल हुआ जब 1956 में पं. जवाहर लाल नेहरू को भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन करना पड़ा।

वैधानिक अथवा संस्थागत पहलू

के. सी. ह्वीयर, एलेक्जेण्डरोविच एवं डीन पाल एपलबी इस दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने वाले प्रमुख विदेशी विद्वान हैं। के. सी. ह्वीयर ने कहा है कि भारतीय संघ अधिक से अधिक अर्द्ध–संघ है। उनकी यह विचारधारा हमारे संवि धान के सैद्धान्तिक अध्ययन पर आधारित है। इसके विपरीत एलेक्जेण्डरोविच का कहना है कि अर्द्धसंघ का विचार ही दोषपूर्ण है, या तो कोई राजनीतिक व्यवस्था संघीय होती है अथवा असंघीय। वे भारतीय संघ को कानूनी दृष्टि से पूर्ण संघीय मानते हैं क्योंकि जो तत्व या लक्षण संघीय प्रणाली में पाये जाते हैं, वे सभी लक्षण भारतीय व्यवस्था में स्पष्टता से पाये जाते हैं। इन दोनों धारणाओं के विपरीत एपलबी ने संविधानिक ढाँचे पर दृष्टिपात करते हुए कहा है कि भारत में ऊपरी तौर से तो केन्द्र अधिक शक्तिशाली दिखायी देता है, परन्तु वास्तव में राज्यों की शक्तियाँ भी कम नहीं हैं। उनकी मान्यता है कि यदि राज्य यह निश्चित कर लें कि उन्हें केन्द्र की नीतियों का क्रियान्वयन नहीं होने देना है तो केन्द्र को

क्या भारत को सच्चा संघ कहना ठीक होगा?

भारतीय संविधान में संघीय शासन के सभी लक्षण मिलते हैं, फिर भी अनेक दृष्टियों से यह एकीकृत व्यवस्था की स्थापना करता है। डॉ. कृष्ण मुखर्जी. ने तो भारतीय संविधान को असंघीय अथवा एकात्मक ही कह डाला है। डॉ. सुभाष काश्यप का मत है कि वस्तुतः भारतीय संविधान ने एक अत्यन्त शक्ति शाली केन्द्र का निर्माण किया है।'

इन आलोचनाओं के बावजूद भी भारतीय संविधान को एकात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना करने वाला संविधान नहीं कहा जा सकता। वस्तुस्थिति यह है कि भारतीय संविधान में कुछ एकात्मक लक्षणों का समावेश कर संघात्मक प्रणाली की कुछ कमियों को ही दूर करने का प्रयास किया गया है। भारतीय संविधान के निर्माण के समय जो बिघटनकारी प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं, उन्होंने संविधान निर्माताओं को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे संविधान के अन्तर्गत ही भारत की एकता का प्रबन्ध कर ले। एम. वी. पायली ने ठीक ही लिखा है। कि, "मूल तथ्य यह कि भारत का शासन एक सरकार द्वारा नहीं, अयितु छब्बीस सरकारों अर्थात् पच्चीस राज्य सरकारों एवं एक संघीय सरकार द्वारा होता है।'' शासन में इस प्रकार की हिस्सेदारी तो एक संघीय व्यवस्था में ही सम्भव है।'' परन्तु विशेषकर वित्तीय क्षेत्र में स्वायत्तता की मांग मुखर है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
References

29. सी. ए. डी. (कान्स्टीट्यूशन् असेम्बली डिबेट्स), XI, पृ. 745.
30. उपर्युक्त, पृ. 844.
31. उपर्युक्त, पृ. 788.
32. उपर्युक्त, VII, पृ. 31.
33. उपर्युक्त, XI, पृ. 718.
34. के. सी. ह्वीयर, फेडरल गवर्नमेण्ट (लन्दन, ऑक्सफोड, 1963), पृ. 28.
35. 7. जी. एन. जोशी, दि कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया (नई दिल्ली, मेकमिलन, 1975), पृ. 12–27.
36. सी.एच. एलेक्जेण्ड्रोविच, कान्स्टीट्यूशनल डवलपमेण्ट इन इण्डिया (लन्दन ऑक्सफोर्ड] 1953), पृ. 169.
37. सर आइवर जेनिंग्स, सम कैरेक्टरिस्टिक्स ऑफ इण्डियन कान्स्टीट्यूशन (लन्दन, ऑक्सफोर्ड, 1953), पृ. 1.
38. नारमन डी. पामर, दि इण्डियन पॉलिटिकल सिस्टम (बोस्टन, 1971), पृ. 100–104.
39. पाल ऐपिलबी, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया रिपोर्ट ऑफ ए सर्वे (गवर्नमेण्ट' ऑफ इण्डिया)।
40. डॉ. सुभाष काश्यप, संविधान की आत्मा (दिल्ली, नेशनल, 1971), पृ. 76–77.
41. डॉ. सुभाष काश्यम, दल–बदल और राज्यों की राजनीति (मेरठ, मीनाक्षी प्रकाशन, 1970), पृ. 409–10.
42. सी. पी. भाम्मरी, समिनार पेपर प्रजेण्टेड एट इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइन्सेज, कलकत्ता, जनवरी 1978, पृ. 4.
43. उपर्युक्त, पृ. 14–15.
44. इण्डिया टुडे, 31 मार्च, 1990, पृ. 29.
45. भारतीय संघवाद के राजनीतिक पक्ष को स्पष्ट करने का श्रेय मारकस फ्राण्डा को है। उन्होंने केन्द्र और पश्चिमी बंगाल के सम्बन्धों का व्यापक अध्ययन कर निष्कर्ष रूप में, वे राजनीतिक तत्व हमारे सामने रखे, जिनसे भारत की संघ–व्यवस्था गम्भीर रूप से प्रभावित होती हैं। उन्होंने बतलाया है कि श्री बी. सी. राय पं. नेहरू के साथ अपने राज्य के पक्ष में आसानी से सौदा किया करते थे जबकि बिहार के मुख्य मन्त्री राजनीतिक दष्टि से प्रभावशाली न होने के कारण ऐसा नहीं कर सके।

अध्याय–पंचम

भारत में संघ व्यवस्था एवं राज्य स्वायत्तता के नवीन पहलू:

जैसे नये राज्यों की मांग, पुर्नगठन की मांग, स्वायत्तता की मांग आदि

आधुनिक युग में कई देशों में संघवाद का पतन हो चुका है। नाइजीरिया, कैरेबियन संघ, मफीलिन्दो तथा पाकिस्तान में संघ व्यवस्था ध्वस्त हो चुकी है। कनाडा और अमरीका जैसे परिपक्व संघों में गम्भीर दरारे दृष्टिगोचर होने लगी हैं। यूगोस्लाविया जैसे सर्वाधिकारवादी देश में संघात्मकता को खण्डित करने वाले नूतन तत्वों का अभ्युदय हुआ है।[1] सोवियत संघवाद बिखराव की ओर उन्मुख हो रहा है और एक के बाद एक गणराज्य स्वतन्त्रता की घोषणा करने जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में भारत जैसे विकासशील देश में संघवाद के भविष्य पर चिन्तित होना आवश्यक है। भारत में एक ओर केन्द्रीय सरकार की शक्तियाँ बढ़ती जा रही हैं और दूसरी ओर संघ के घटक राज्य स्वायत्तता की माँग कर रहे हैं। जब तक केन्द्र एवं राज्यों के मध्य 'सन्तुलन स्थापित नहीं होता और संघीय संस्कृति का विकास नहीं होता तब तक संघ व्यवस्था की नींव सुदृढ़ नहीं हो सकती। भारत में संघ व्यवस्था की दुर्बलताओं को देखते हुए एकात्मक व्यवस्था का विकल्प प्रस्तुत करना आसान है। किन्तु क्या भारत जैसे विशाल देश में एकात्मक शासन प्रणाली सम्भव है? विकेन्द्रीकरण की घोषित नीति के उपरान्त भी एकात्मक शासन की चर्चा करना क्या बुद्धिसंगत होगा?

भारत में उभरती संघीय संस्कृति

भारतीय संघ व्यवस्था में 'संघीय संस्कृति' (Federal Culture) की भावना के विकास की आवश्यकता है।[2] यद्यपि अभी तक ऐसी कोई अनुभवपरक गम्भीर शोध के माध्यम से संघीय अथवा एकात्मक संस्कृति की अवधारणा विकसित नहीं हुई है तथापि यह माना जाने लगा है कि उभरती प्रतियोगी दल प्रणाली में संघात्मकता की कसौटी 'संस्कृति की अवधारणा ही है।

मॉरिस जान्स ने लिखा है कि "यद्यपि भारत के संविधान में केन्द्र–राज्य शक्ति विभाजन पर जोर दिया गया है तथापि व्यवहार में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों का आधार सहयोगात्मक सौदेबाजी रही है।" मारकस फ्रान्डी के अभिमत में संघ व्यवस्था में संघात्मक सम्बन्धों का आधार केन्द्र तथा राज्य स्तरीय नेताओं के मध्य पायी जाने वाली सौदेबाजी की

प्रक्रिया है। इस सौदेबाज़ी में सहयोग, शंका निवृत्ति, सान्त्वना आदि तरीके अपनाये जाते हैं।[4]

भारत में संघीय संस्कृति से अभिप्राय है कि संघ व्यवस्था के प्रति लोगों की आम धारणा क्या है? अर्थात् कहाँ तक नागरिक, राज्यों का नेतृत्व वर्ग एवं राजनीतिक दल यह महसूस करते हैं कि वे निर्णयकारी प्रक्रिया में भाग लेकर उसे प्रभावित कर सकते हैं, संघीय संस्कृति ऐसे भावों से सम्बधित अभिवृत्ति है। संघीय संस्कृति व्यवस्था के सदस्यों में संघ प्रणाली के प्रति वैयक्तिक अभिवृत्तियों और अभिमुखीकरणों का प्रतिमान है। अर्थात् संघ प्रणाली तथा संघात्मक मुद्दों से सम्बन्धित सामाजिक दृष्टिकोणों, विश्वासों और मूल्यों से संघीय संस्कृति का निर्माण होता है। संघीय संस्कृति संघ प्रणाली को उसी प्रकार संरचना और अर्थ प्रदान करती है जिस प्रकार राजनीतिक संस्कृति राजनीतिक क्षेत्र को संरचना और एकीकरण प्रदान करती है। संक्षेप में, संघीय संस्कृति व्यवस्था के सदस्यों में संघात्मकता के प्रति वैयक्तिक अभिवृत्तियों और अभिमुखीकरणों का प्रतिमान है अर्थात् संघ व्यवस्था तथा उससे सम्बन्धित मुद्दों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोणों, विश्वासों तथा मूल्यों से संघीय संस्कृति का निर्माण होता है।

भारत का शासन एक केन्द्रीय सरकार द्वारा नहीं चलाया जाता अपितु 25 राज्य सरकारें भी शासन संचालन में भागीदार हैं। राज्य सूची के विषयों पर राज्य सरकारों का नियन्त्रण है। योजना आयोग, राष्ट्रीय विकास परिषद जैसी संस्थाओं ने केन्द्र और राज्यों के बीच सहयोग के सम्बन्ध को बढ़ाया है। राज्य सूची के कई विषयों में राज्यों ने केन्द्र के हस्तक्षेप का स्वागत ही नहीं बल्कि आह्वान किया है। जब कभी राज्यों में सूखे, अकाल या बाढ़ जैसी प्राकृतिक विपदाएँ आयीं तो केन्द्र ने राज्यों को विशेष सहायता अनुदान दिया है। केन्द्र ने राज्यों से परामर्श करने में विशेष रुचि ली है। प्रतिवर्ष मुख्यमन्त्री सम्मेलन, मुख्य सचिव सम्मेलन, राज्यपाल सम्मेलन आदि के माध्यम से केन्द्र एवं राज्यों के बीच विचारों का आदान–प्रदान होता है। एम. वी. पायली ने कहा है कि योजना के कार्यों में राज्यों के क्षेत्र में केन्द्र का हस्तक्षेप उनकी पूर्ण सहमति से हुआ है। डॉ. एपिलबी का कहना है कि अपनी नीतियों एवं निर्णयों के क्रियान्वयन में केन्द्र राज्यों पर बहुत अधिक आश्रित है। इतने विशाल दायित्वों वाली केन्द्रीय सरकार विश्व के किसी भी संविधान में इतनी अधिक राज्यों पर आश्रित नहीं है। डॉ. रजनी कोठारी के अनुसार अक्सर राज्य सरकारें केन्द्र पर दबाव डालने में और उससे अपनी बात मनवाने में सफल रही हैं। केन्द्र के लिए सुरक्षित क्षेत्रों में भी राज्यों ने घुसपैठ की है और दूसरे देशों से व्यापार सम्बन्ध भी स्थापित किए हैं।

उदाहरणार्थ पश्चिम बंगाल के शक्तिशाली मुख्यमन्त्री डा. बिधानचन्द्र राय ने एक विदेशी फर्म के साथ अपने राज्य की ओर से समझौता किया था। वस्तुतः भारत में योजना की कार्यान्विति के लिए केन्द्र को राज्यों पर निर्भर रहना पड़ता है। केन्द्रीय सरकार में सब अफसर हैं कोई सिपाही नहीं। इसका अर्थ यह है कि क्षेत्र में काम करने वाले सब अधिकारी राज्य सरकारों के अधीन हैं। इस प्रकार भारत में केन्द्र एवं राज्यों के मध्य विधायी, प्रशासनिक एवं वित्तीय विभाजन से स्वतन्त्र एक नई शक्ति का राजनीतिक व्यवस्था में निर्माण हो रहा है, जिसने संघ व्यवस्था को बड़ा प्रभावित किया है। इस नई शक्ति को 'सहकारी संघवाद' (Co-operative Fede ralism) अथवा 'संघीय संस्कृति' (Federal Culture) कहना समीचीन होगा।

वस्तुतः भारत में 'संघीय संस्कृति निर्माण की प्रक्रिया में है। आज भी राज्यों की क्षेत्रीय दलों वाली सरकारें केन्द्रीय सरकार को अविश्वास की दृष्टि से देखती हैं। जिस प्रकार चतुर्थ आम चुनाव के बाद गैर–कांग्रेसी राज्य सरकारें केन्द्र की कांग्रेसी सरकार को शंका की दृष्टि से देखती थी, उस भाँति तो छठे चुनावों के बाद गैर–जनता राज्यों वाली सरकारे शंकालु तो नहीं रह गई थीं, फिर भी दृष्टिकोणों का अन्तर अवश्य पाया जाता था। उदाहरणार्थ, 'राज्य स्वायत्तता' की अवधारणा पर केन्द्र एवं राज्य सरकारों में बुनियादी अन्तर हैं। केन्द्र एवं राज्यों में किसी भी दल की सरकारें क्यों न हों; यदि संघ व्यवस्था से सम्बन्धित मुद्दों पर उनमें आम सहमति का विकास होता है तो भारत में संघात्मक संस्कृति के निर्माण का मार्ग प्रशस्त होगा।

जब भारतीय संविधान का निर्माण हुआ था तो उस पर कांग्रेस दल की विचारधारा का ही प्रभाव रहा। आज भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में अनेक राष्ट्रीय एवं राज्यस्तरीय राजनीतिक दल कार्यरत हैं। संघ व्यवस्था से सम्बन्धित कतिपय मुद्दों जैसे–योजना आयोग की कार्यप्रणाली, नियोजन की प्रक्रिया, आर्थिक एवं वित्तीय सम्बन्धों के पुनवितरण, राज्यपालों की स्वविवेकी शक्तियों, केन्द्रीय रिजर्व पुलिस आदि पर विभिन्न राजनीतिक दलों के दृष्टिकोणों में अन्तर पाया जाता है। जब तक इस अन्तर को दूर कर आम सहमति वाली व्यवस्था का निर्माण नहीं होता तब तक संघीय संस्कृति के निर्माण का मार्ग अवरुद्ध रहेगी। यदि राष्ट्रीय स्तर पर केन्द्र–राज्य सम्बन्धों पर विचार–विमर्श हो और तद्‌नुसार बदलते राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में संविधान का पुनः निरीक्षण किया जाए तो निश्चित ही लाभदायक सिद्ध होगा।

भारतीय संघ व्यवस्था में उभरती प्रवृत्तियाँ

'संघ सुहावने मौसम का संविधान है और संविधान निर्माताओं ने भारत के लिए एक लचीली संघ व्यवस्था का खाका तैयार किया। संविधान सभा की संघीय शक्ति समिति ने कहा, "यदि हम दुर्बल केन्द्रीय सत्ता की व्यवस्था करें, जो शान्ति रखने में असमर्थ हों, जो सामान्य हित के लिए महत्वपूर्ण मामलों को सुलझा न सके और जो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सम्पूर्ण देश के लिए प्रभावशाली ढंग से बोल न सके, तो यह देश के हितों के लिए हानिकारक होगा।' विभाजन से उत्पन्न समस्याओ के हल के लिए भी सुदृढ़ केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता थी। साम्प्रदायिक दंगे, शरणार्थियों के पुनर्वास की समस्या और राष्ट्रव्यापी खाद्य संकट को हल करने के लिए शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता का निर्माण जरूरी था। पं. नेहरू ने कहा था, "हम ऐसी स्थिति का सामना कर रहे हैं जिसमें अगर हम पूरा प्रयत्न न करें तो सारा भारत अगले छः महीनों में दहकती भट्टी बन जाएगा।"

लगभग 40 वर्षों से भारत में संघ व्यवस्था का क्रियान्वयन हुआ है। वर्तमान में हमारी संघ प्रणाली में उभरती प्रवृत्तियों पर विचार–विमर्श करना समीचीन होगा। संक्षेप में, निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ आजकल दिखलायी देती हैं:

1. **राज्य पुनर्गठन की माँग**–देश के कई भागों में यह माँग की जा रही है। कि संघ के घटक राज्यों का फिर से पुनर्गठन किया जाए। बड़े–बड़े राज्यों को छोटे राज्यों में विभाजित किया जाए। छोटे राज्यों के निर्माण से शासन का विकेन्द्रीकरण होगा तथा जनता की आवाज शासकों तक पहुंच जाएगी। उत्तर प्रदेश में पर्वतीय राज्य की माँग, मध्यप्रदेश में छत्तीसगढ़ राज्य की माँग, बिहार में झारखण्ड राज्य की माँग कुछ ऐसी ही माँगे हैं। कुछ समय पूर्व तैंतीस सांसदों की एक बैठक ने माँग की थी कि उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और बिहार का पुनर्गठन किया जाये और और इनकी एवज में सात राज्य बनाये जाएँ। इसमें पन्द्रह जिलों से बुन्देलखण्ड, आठ जिलों के उत्तराखण्ड; पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बिहार को मिलाकर भोजपुर, पश्चिमी उत्तरप्रदेश के सत्रह जिलों के रुहेलखण्ड और बचे हुए क्षेत्रों के तीन अन्य राज्य बनाने की माँग की गयी।

2. **राज्यों की स्वायत्तता की माँग**–अकाली दल, डी. एम. के., अन्ना डी. एम. के. आदि राजनीतिक दल राज्यों को और अधिक अधिकार और वित्तीय स्वायत्तता देने की माँग कर रहे हैं। पश्चिम बंगाल सरकार ने तो एक मसौदे में यह प्रस्तावित किया कि केन्द्र के राजनीतिक और आर्थिक अधिकारों में कमी करके राज्यों को अधिक से अधिक स्वायत्तता प्रदान की जाए। यह भी सुझाव दिया जाता है कि केन्द्र के पास केवल प्रतिरक्षा, विदेशी

मामले, विदेश व्यापार, मुद्रा, संचार और समन्वय विभाग रहें और शेष अन्य सब मामले राज्य सरकारों के अन्तर्गत कर दिए जाएँ। राज्यों में जो राजस्व पाप्त हो उसका 75 प्रतिशत राज्य सरकारों को और 25 प्रतिशत केन्द्र सरकार को मिलना चाहिए।

3. **राजनीतिक बिखराव**—संघ प्रणाली का दलीय प्रणाली से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अब तक संघ प्रणाली की सफलता का मूल कारण भारत की एक दल प्रधान व्यवस्था' कही जाती है। चूंकि कांग्रेस दल की ही सरकार केन्द्र तथा राज्यों में रही, इसलिए केन्द्रवाद को बहुत अधिक बढ़ावा मिला और राज्य सरकारों को केन्द्र की बात माननी पड़ी। मार्च 1977 तथा नवम्बर 1989 के बाद केन्द्र में जनता पार्टी और राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार बनी और राज्यों में विविध प्रादेशिक दलों की सरकारें, जिससे एकदलीय प्रभुत्व को आघात पहुँचा। प्रतियोगी दलीय व्यवस्था का उदय हुआ। दलीय व्यवस्था के इस स्वरूप के कारण विकेन्द्रित संघीय राज्य व्यवस्था का उदय हुआ।

4. **केन्द्र में दुर्बल सरकार**—संविधान निर्माताओं ने संविधान में ही कतिपय ऐसे प्रावधानों की व्यवस्था कर दी जिससे केन्द्रीय सरकार शक्तिशाली बन गयी। बाद में जवाहर लाल नेहरू और इंदिरा गांधी जैसे प्रधानमन्त्रियों ने अपनी राजनीतिक शक्ति से आधार पर केन्द्र की स्थिति और अधिक सुदढ़ कर दी। नेहरू और श्रीमती गांधी की शक्ति का आधार कांग्रेस दल पर उसका एकाधिकार था। मार्च 1977 के बाद और नवम्बर 1989 के बाद बनने वाली केन्द्रीय सरकार उतनी शक्तिशाली नहीं कही जा सकती। जनता पार्टी और राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार विभिन्न घटकों से बनी एक मिली—जुली सरकार थी। घटकवादी अनुपात के आधार पर बनने वाली सरकार और उसका नेता (प्रधानमन्त्री) राजनीतिक दृष्टि से अशक्त ही होता है। केन्द्रीय नेतृत्व की अशक्तता से अन्ततोगत्वा शक्ति का सन्तुलन राज्यों की तरफ झुकने लग जाता है।

5. **केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति**—अन्य संघों की भाँति भारत में भी केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति दिखलायी देती है। चीन और पाकिस्तान के साथ युद्ध के भय ने भारत में केन्द्रीय सरकार को शक्तिशाली बना दिया। अर्थव्यवस्था और समाज व्यवस्था का केन्द्रीकृत रूप विकसित होने के कारण सभी तरफ केन्द्रीयकरण हो रहा है। भारत में योजना आयोग की कार्यप्रणाली ने तो संघवाद को निरस्त कर एकात्मकता का ही मार्ग प्रशस्त किया है। भारत में केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यों की सरकारों को सशर्त सहायता अनुदान दिए जाते हैं और इस प्रकार के अनुदानों का स्वाभाविक परिणाम केन्द्रीय सरकार की शक्ति में वृद्धि होना है। केन्द्रीय सरकार इन अनुदानों पर ये शर्ते लगाती है—राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार के निर्देशों का पालन करें, अपना प्रशासन सुदढ़ रखें, कर्मचारियों की नियुक्ति निश्चित नियमों

के अनुसार करें, केन्द्र को प्रतिवेदन भेजती रहें, आदि। इन शर्तों के कारण केन्द्रीय सरकार की शक्तियाँ बहुत अधिक बढ़ जाती हैं। इसी प्रकार केन्द्रीय सरकार लोक कल्याणकारी कार्य अधिक करती है क्योंकि उसकी आय के स्रोत राज्यों की तुलना में अधिक होते हैं। हम सभी जानते हैं कि भारत में अकाल एवं सूखे की स्थिति में केन्द्र राज्यों को अनेक प्रकार से सहायता करता है। फलतः केन्द्रीय सरकार की शक्तियाँ निरन्तर बढ़ रही हैं।

6. **केन्द्र–राज्य मतभेद**–पिछले एक दशक से भारतीय संघ व्यवस्था में केन्द्र और राज्यों के मध्य मतभेद और तनाव के तत्व दृष्टिगोचर होते हैं। केन्द्र–राज्य मतभेदों के प्रमुख मुद्दे हैं–राज्यपाल की नियुक्ति का प्रश्न, योजना के प्रारूप पर मतभेद, भारी उद्योगों की स्थापना के लिए स्थानों के चुनाव, राज्य सरकारों द्वारा ओवर ड्राफ्ट लेने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति, कानून–व्यवस्था के प्रश्न पर भी मतभेद रहा है। द्रमुक ने तो केन्द्र सरकार के त्रिभाषा फार्मूले को रद्द करने, राज्य में एन. सी. सी. को विघटित करने, राज्य के लिए पृथक ध्वज की माँग करने, केन्द्रीय मन्त्रालयों के हिन्दी नाम के विरोध करने और कावेरी जल–विवाद में केन्द्र को सर्वोच्च न्यायलय में प्रतिवादी बनाने तक की हरकतें कीं। भारतीय संघ का पिछला इतिहास यह दर्शाता है कि जब–जब केन्द्र और राज्यों में भिन्न–भिन्न दलों की सरकारें रहीं तब–तब केन्द्र–राज्य सम्बन्ध तनावपूर्ण रहे।

7. **अन्तर्राज्यीय विवाद**–अन्तर्राज्यीय विवादों में चंडीगढ़ पर पंजाब और हरियाणा के बीच विवाद, बेलगांव के प्रश्न पर महाराष्ट्र और कर्नाटक का विवाद, आसाम–नागालैण्ड सीमा विवाद, नर्मदा नदी के पानी के उपयोग पर मध्यप्रदेश, गुजरात और राजस्थान का विवाद, कावेरी जल के उपयोग पर तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश और कर्नाटक का विवाद प्रमुख हैं।

8. **सहकारी संघवाद से सौदेबाजी की संघ व्यवस्था की ओर प्रवाह**–भारत के संविधान द्वारा सहकारी संघवाद' (Co-operative Federalism) की स्थापना की गयी है। सहकारी संघवाद का भारतीय मॉडल के. सी. व्हीयर के 'संघवाद' के मॉडल से थोडी भिन्नता रखता है। व्हीयर के अनुसार संघवाद का अर्थ है। 'राष्ट्रीय और क्षेत्रीय सरकारों का एक–दूसरे से अपने क्षेत्राधिकारों में स्वतन्त्र रहना।' इसके विपरीत सहकारी संघवाद के मॉडल में केन्द्रीय सरकार काफी शक्तिशाली होती है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्रान्तीय सरकारें केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्मित नीतियों के क्रियान्वयन की प्रशासकीय एजेन्सियाँ मात्र होती हैं। जैसा कि बर्च ने लिखा है कि राष्ट्रीय और प्रान्तीय सरकारों में प्रशासकीय सहयोग, प्रान्तीय सरकारों की आंशिक रूप से राष्ट्रीय सरकार पर निर्भरता और राष्ट्रीय सरकार द्वारा प्रदत्त अनुदानों से प्रान्तीय क्षेत्राधिकार में आने वाले (संविधानिक दृष्टि

से) विषयों का विकास सहकारी संघवाद के आवश्यक तत्व हैं।'[9] आस्टिन भारत की संघ व्यवस्था को सहकारी संघवाद कह कर पुकारता है। वस्तुतः भारत में केन्द्र और राज्यों में न केवल प्रशासकीय सहयोग विद्यमान है अपितु राजनीतिक क्षेत्रों में भी सहयोग पाया जाता है।

व्यवहार में भारत का सहकारी संघवाद मॉडल सौदेबाजी को संघात्मकता के मॉडल में परिवर्तित होता जा रहा है। प्रो. मारिस जोन्स के अनुसार भारत में प्रतिस्पर्धी सौदेबाजी वाली संघात्मकता का अभ्युदय हो रहा है।''[10] संविधान में शक्तियों का विभाजन किया गया है जबकि व्यवहार में केन्द्र–राज्य सम्बन्ध सौदेबाजी पर निर्भर करने लग गये हैं। उदाहरणार्थ, संविधान में यह प्रावधान है कि राज्य विधानसभा द्वारा पारित विधेयकों पर राज्यपाल के हस्ताक्षर आवश्यक हैं। राज्यपाल चाहें तो उन विधेयकों को स्वीकृति के लिए राष्ट्रपति के पास भेज सकता है। सम्पत्ति का अधिग्रहण करने वाले समस्त विधेयकों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है। ऐसी परम्परा–सी पड़ गयी है कि राज्य ऐसे विधेयकों को केन्द्र के पास भेज देते हैं ताकि पूर्व में ही केन्द्र द्वारा उसकी जाँच कर ली जाती है और बाद में औपचारिक रूप में विधेयक राष्ट्रपति के पास भेजे जाते हैं तो वह मात्र संविधानिक औपचारिकता ही रह जाती है और राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति दे देते हैं। कतिपय राज्य तो समवर्ती सूची में आने वाले विषयों से सम्बन्धित सभी विधेयकों पर ऐसी ही प्रक्रिया अपनाते हैं और केन्द्र की पूर्व से ही स्वीकृति हासिल कर लेते हैं।

हम सभी जानते हैं कि सन् 1967–71 के बीच राज्यों ने सौदेबाजी की तकनीक का खुलकर प्रयोग किया। इस काल में कांग्रेस में फूट पड़ गयी थी और केन्द्र कमजोर पड़ गया। श्रीमती इंदिरा गाँधी की सरकार डी. एम. के., अकाली दल और साम्यवादियों पर आश्रित हो गयी थी। इससे राज्यों की सौदेबाजी की क्षमता में वृद्धि हुई। इस प्रकार की सौदेबाजी की शक्ति उन राज्यों में विशेष रूप से बढ़ी जिन राज्यों में उन दलों की सरकारें थीं जिनके सहारे इंदिरा गाँधी केन्द्र में अपना शासन चला रही थीं। उदाहरण के लिए तमिलनाडु में डी. एम. के. तथा केरल में सी. पी. आई.। तमिलनाडु में तो श्रीमती गाँधी ने डी. एम. के. से यह वायदा किया कि वह तमिलनाडु की विधानसभा के लिए, डी. एम. के. के विरोध में (1971) किसी भी निर्वाचन क्षेत्र में अपना प्रतिनिधि खड़ा नहीं करेगी।

इसी प्रकार सौदेबाजी की प्रवृत्ति को केन्द्र–राज्य वित्तीय सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में भी देखा जा सकता है। संविधान के अनुच्छेद 282 में केन्द्र द्वारा राज्यों को आपूर्ति अनुदान (Matching grants) देने की व्यवस्था है। आपूत अनुदान संघीय वित्त नियोजन की रीढ़ की

हड्डी के समतुल्य है और राज्यों में केन्द्र से अधिकतम आपूर्ति अनुदान प्राप्त करने की होड़–सी दिखलायी देती है। इसके लिए केन्द्र तथा राज्यों में प्रतिस्पर्धी सौदेबाजी अनवरत रूप से विद्यमान है।[11]

मारकस फ्रान्डी के अभिमत में भारतीय संघ में राज्य पहले सौदा करते हैं और बाद में सहयोग देते हैं। सौदेबाजी के माध्यम से राज्य केन्द्र से अधिकतम लाभ अर्जित करना चाहते हैं। विभिन्न राज्यों की सौदेबाजी की क्षमता भिन्न–भिन्न होती है। कतिपय राज्य केन्द्र को जल्दी और अधिक प्रभावित करते हैं और अन्य राज्य जल्दी प्रभावित नहीं कर पाते। यह एक गम्भीर शोध का विषय होगा जिसमें अनुसंधानकर्ता उन तत्वों और कारणों को खोजें और देखें कि वे कौन–से तत्व हैं जिनसे राज्यों की सौदेबाजी की क्षमता बढ़ती है या राज्यों का केन्द्र पर दबाव बढ़ता है।

कई ऐसे कारण हो सकते हैं जिन पर राज्यों की सौदेबाजी निर्भर करती है, जैसे **प्रथम** भाषा——भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन हुआ। भाषा के आधार पर दबाव में आकार केन्द्र को बम्बई, मद्रास और पंजाब राज्यों का विभाजन करना पड़ा। वे राज्य जिनकी अधिकांश जनता एक भाषा बोलती है वे अपने आपको भावनात्मक दृष्टि से ज्यादा संगठित पाते हैं। जब कभी केन्द्र और राज्य के बीच विवाद उठता है तो वहाँ की जनता बहुभाषी राज्यों की जनता के बनिस्पत जल्दी संगठित हो जाती है और केन्द्र से उनकी सौदा करने की क्षमता बढ़ जाती है। उदाहरणार्थ, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान की तुलना में पंजाब, प. बंगाल, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक केन्द्र को ज्यादा प्रभावित करते हैं।

द्वितीय, क्षेत्रवाद–उत्तर के बनिस्पत दक्षिण के राज्य या भौगोलिक दृष्टि से सीमाओं पर स्थित राज्य केन्द्र को ज्यादा प्रभावित कर पाते हैं।

तृतीय, आर्थिक वैषम्य–भारत एक विशाल देश है। प्राकृतिक और भौतिक साधन यहाँ विषम रूप से बँटे हैं। आंतरिक दृष्टि से विभिन्न क्षेत्रों (राज्यों) की तुलना की जाए तो उनके विकास स्तर और विकास दरों में भी विभिन्नता पायी जाती है। कुछ राज्य आर्थिक तौर पर अच्छे विकसित कहे जा सकते हैं, जबकि कुछ राज्य इस दृष्टि से बहुत पिछड़े कहे जाएँगे। आर्थिक वैमनस्य को लेकर कतिपय राज्यों में केन्द्र से अधिक लाभ प्राप्त करने की माँग उठ खड़ी होती है और आन्दोलन का रूप धारण कर लेती है। आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा, बिहार तथा असम में औद्योगिक इकाइयों को लगवाने की माँग इसी विषमता से पैदा हुई।

चतुर्थ, जाति–भारतीय संघ में कतिपय ऐसे राज्य हैं जिनमें एक जाति की प्रधानता है और ऐसे भी राज्य हैं जहाँ बहुत सारी जातियाँ निवास करती हैं। जातिगत प्रधानता वाले राज्य में भाषायी क्षेत्रवाद का तत्व भी यदि मौजूद हो तो राज्य की सौदेबाजी की क्षमता बढ़ जाती है। महाराष्ट्र ऐसा ही राज्य है। जिन राज्यों में एक से अधिक जातियाँ होती हैं, उनमें सत्ता के लिए होड़ होती है और राज्य की प्रभाव क्षमता कमजोर पड़ जाती है। उदाहरणार्थ, राजस्थान की जाट राजपूत प्रतिस्पर्धा के कारण या बिहार की भूमिहार, राजपूत, ब्राह्मण, कायस्थ एवं पिछड़ी जातियों की प्रतिस्पर्धा के कारण केन्द्र को प्रभावित करने की क्षमता कम ही मानी जाती है।

पंचम, धर्म–धर्म के आधार पर राज्य संगठित हो सकते हैं व उस संगठन से उन्हें जो बल मिलता है उससे वे केन्द्र से सौदा कर सकते हैं। पंजाब और जम्मू–काश्मीर राज्य की प्रभावशीलता का यही राज हो सकता है। पंजाब की राजनीति में अकाली दल की भूमिका और केन्द्रीय सरकार के निर्माण में अकाली दल के सहयोग की अनिवार्यता (जुलाई–अगस्त 1979 की राजनीतिक घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में) के परिप्रेक्ष्य में धर्म की प्रभावकारी शक्ति का आकलन किया जा सकता है)।

षष्ठम, नेतृत्वदृयदि केन्द्र में कमजोर नेतृत्व है और राज्यों के मुख्यमन्त्री 'किंग मेकर्स' की भूमिका अदा करते हैं तो राज्य केन्द्र के साथ सौदेबाजी करने की स्थिति में आ जाते हैं। यदि केन्द्र में स्थिर सरकार है, प्रधानमन्त्री अत्यन्त शक्तिशाली है तथा राज्यों में कमजोर मुख्यमन्त्री हैं तो वे सौदेबाजी की स्थिति में नहीं होते। उदाहर णार्थ, 1969 के राष्ट्रपति चुनाव के बाद केन्द्र में श्रीमती गाँधी की सरकार जिन विरोधी पार्टियों पर निर्भर हो गयी थी उनमें द्रविड़ मुनेत्र कड़गम अग्रणी थी। द्रमुक के मुख्यमन्त्री ने श्रीमती गाँधी की सरकार के प्रति द्रविड़ मुनेत्र कड़गम के सम र्थन की शर्ते रख दीं। राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठक में मुख्यमन्त्री करुणानिधि ने केन्द्र को चुनौती दी कि या तो वह सलेम इस्पात योजना को अभी और इसी जगह मंजूरी दे अन्यथा वह चौथी योजना का विरोध करेंगे।[12]

सप्तम, क्षेत्रीय दलों वाले राज्य अखिल भारतीय–स्तर के दलों से शासित राज्यों की तुलना में सौदेबाजी की स्थिति में होते हैं। यह एक तथ्य है कि डी. एम. के., अन्ना डी. एम. के., अकाली दल, मार्क्सवादी दल, नेशनल कान्फ्रेन्स आदि क्षेत्रीय दलों से शासित राज्यों ने केन्द्रीय सरकार के साथ सदैव दबाव की भाषा में ही बातचीत की है। जब श्री चरणसिंह को (अगस्त 1979) प्रधानमन्त्री पद पर बने रहने के लिए अन्ना डी. एम. के. के समर्थन की आवश्यकता थी तो इस क्षेत्रीय दल ने अपनी शर्तों पर ही उन्हें समर्थन दिया।

पंजाब का अकाली दल भी अन्तिम क्षण तक जनता पार्टी और जनता (सेक्यूलर) के नेताओं से सौदेबाजी करने में रत रहा और अन्त में जनता पार्टी का पल्ला छोड़कर जनता सेक्यूलर के साथ हो गया।

फिर भी भारत में उभरते संघीय प्रतिमान (मॉडल) को 'सौदेबाजी वाली सहकारी संघ व्यवस्था' (Bargaining-cum Co-operative Federalism) कहना ही अधिक संगत प्रतीत होता है। चूंकि राज्य सौदेबाजी के बाद किसी–न–किसी रूप में अन्ततोगत्वा सहयोग तो करते ही हैं। मॉरिस जॉन्स के शब्दों में, "संविधान में तो शक्तियों के विभाजन पर जोर दिया गया है जबकि व्यावहारिक रूप से तो केन्द्र राज्य सम्बन्ध सहकारी सौदेबाजी (Co-operative bargaining) पर ही निर्भर करते हैं।''

भारतीय संघ व्यवस्था : तुलनात्मक दृष्टि

राजनीतिक व्यवस्थाओं को तुलनात्मक अध्ययन उनके बाह्य ढाँचे और अंतरंग को समझने में हमारी सहायता करता है। तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से हम अन्य देशों की राजनैतिक संस्थाओं की कार्यप्रणाली के आधार पर अपनी राजनैतिक संस्थाओं का अध्ययन कर सकते हैं। यह सर्वविदित है कि एक देश की राजनैतिक व्यवस्था दूसरे देश की राजनैतिक व्यवस्था की ऊपरी परिस्थितियों के समान होने के उपरान्त भी समान नहीं होती। ऐसी स्थिति में तुलनात्मक अध्ययन से ही राजनैतिक व्यवस्थाओं में सक्रिय रहने वाले गतिशील तत्वों का आभास होता है।

हम इस तथ्य से परिचित हैं कि भारतीय संघ व्यवस्था भारत के संविधान निर्माताओं की कोई मौलिक खोज नहीं थी। इस सम्बन्ध में वे अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, स्विट्जरलैण्ड आदि प्रचलित संघीय शासनों के प्रतिमानों से प्रभावित हुए थे। अतः यहाँ हम तुलनात्मक दृष्टि से भारतीय संघ व्यवस्था का अध्ययन करेंगे।

1. **लिखित तथा कठोर संविधान की दृष्टि से**–अमरीकी संघ का संविधान लिखित तथा कठोर है, स्विस संविधान भी लिखित तथा कठोर है। इसके प्रतिकूल सोवियत संघ का नया संविधान लिखित होते हुए भी समस्त कठोर संविधानों में लचीला है। भारतीय संघ का संविधान लिखित है किन्तु अमरीकी संविधान की तरह कठोर नहीं है। कुछ अंशों में लचीला है।

2. **शक्तियों के बँटवारे की दृष्टि से**–अमेरिका के संविधान में संघीय सरकार की शक्तियाँ गिन दी गयी हैं और अवशिष्ट शक्तियाँ राज्यों को दी गई हैं। स्विट्जरलैण्ड में

केन्द्रीय सरकार तथा कैण्टनों के बीच शक्तियों का बँटवारा किया गया है। संविधान के प्रथम अध्याय में संघ सरकार की शक्तियाँ दी गयी हैं और शेष अधिकार कैण्टनों की सरकारों के पास हैं, किन्तु व्यवहार में स्थिति इसके विपरीत है। शेष शक्तियों में से बहुत–सी ऐसी शक्तियाँ हैं जिन पर संघ सरकार तथा कैण्टन दोनों का हक है। उद्योगों, बैंकों तथा सड़कों का विषय ऐसा है जिस पर दोनों का क्षेत्राधिकार है। इसके अतिरिक्त, कुछ कार्य अवश्य ऐसे हैं जो पूरी तरह से कैण्टनों की सरकारों के अधीन हैं, जैसे कैण्टन में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखना, स्वास्थ्य व सफाई की व्यवस्था करना, सार्वजनिक निर्माण कार्य और शिक्षा। सोवियत संघ के नये संविधान में केन्द्रीय शक्तियाँ गिनी गई हैं तथा अवशिष्ट शक्तियाँ प्रदेशों को प्राप्त हैं। भारत के संविधान में शक्ति विभाजन तीन सूचियों में संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची द्वारा किया गया है तथा अब शिष्ट शक्तियाँ केन्द्र को दी गई हैं।

3. **सर्वोच्च न्यायालय की स्थिति**–अमेरिका में सर्वोच्च न्यायालय संविधान की व्याख्या करता है तथा संघात्मकता की रक्षा करता है। स्विस संघीय ट्रिब्यूनल संविधान की व्याख्या नहीं करता। सोवियत संघीय न्यायालय भी न तो संविधान की व्याख्या करता है और न संघात्मकता की ही रक्षा करता है। इसके विपरीत, भारत में सर्वोच्च न्यायालय संविधान की व्याख्या करता है तथा संघात्मकता की रक्षा भी करता है।

4. **इकाइयों की स्थिति की दृष्टि से**–अमेरिका में राज्यों को सम्प्रभुता प्राप्त है, उनके पृथक संविधान हैं और राज्यों की पृथक् नागरिकता है। संविधान के अनुसार यदि राज्य चाहें तो संघ को नष्ट कर सकते हैं। सम्बन्धित राज्य की स्वीकृति के बिना उनका कुछ क्षेत्र लेकर किसी नए राज्य का निर्माण नहीं किया जा सकता। उपद्रवों, विद्रोहों तथा अन्य आन्तरिक हिंसा को रोकने के लिए संघ सरकार राज्यों में तभी हस्तक्षेप कर सकती है, जबकि उससे ऐसा करने की प्रार्थना की जाती है। स्विस कैण्टन अमेरिका के राज्यों की भाँति संघ निर्माण से पूर्व के हैं। और उन्होंने संघ में शामिल होते समय इस बात का ध्यान रखा है कि वे अपने प्रभुत्व का पर्याप्त अंश अपने पास रखें। संघीय संविधान के अतिरिक्त कैण्टनों के अलग–अलग संविधान एवं नागरिकता है। सोवियत संघ में प्रदेशों के पृथक संविधान हैं, किन्तु नागरिकता पृथक नहीं है। वहाँ प्रदेशों को सेना रखने का अधिकार है। भारत में राज्यों के न तो पृथक् संविधान हैं और न पृथक् नागरिकता।

5. **उच्च सदन में प्रतिनिधित्व की दृष्टि से**–अमरीकी सीनेट में सभी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व दिया गया है। संघीय सभा के उच्च सदन 'राज्य परिषद्' में कैण्टनों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त है। बड़े कैण्टनों को दो एवं छोटे कैण्टनों को एक प्रतिनिधि भेजने

का अधिकार है। सर्वोच्च सोवियत के उच्च सदन–राष्ट्रीयताओं की सोवियत के लिए संघ के प्रत्येक गणतन्त्र से 32, प्रत्येक स्वशासित गणतन्त्र से 11, प्रत्येक स्वशासित प्रदेश से 5 तथा प्रत्येक राष्ट्रीय क्षेत्र से 1 सदस्य का निर्वाचन होता है। भारत में राज्यसभा के सदस्यों का निर्वाचन स्थानीय राज्यों की विधानसभाओं द्वारा राज्य की जनसंख्या के अनुपात में किया जाता है। इस प्रकार भारत की राज्यसभा में छोटे–बड़े सभी राज्यों का समान प्रतिनिधित्व नहीं है।

6. **संघ से पृथक् होने का अधिकार**–भारत, अमेरिका और स्विट्जरलैण्ड में उनकी इकाइयाँ संघ से पृथक् नहीं हो सकतीं जबकि सोवियत गणराज्यों को संघ से पृथक् होने का अधिकार दिया गया है।

7. **संविधान संशोधन में इकाइयों का हिस्सा**–अमेरिका में राज्यों को संविधान में संशोधन प्रस्तावित करने और स्वीकार करने सम्बन्धी शक्तियाँ प्राप्त हैं। स्विस संविधान में कोई संशोधन तब तक नहीं हो सकता जब तक कि कैण्टनों का बहुमत उसे स्वीकार न कर ले। सोवियत संविधान में प्रदेशों को संशोधन के सम्बन्ध में कोई शक्तियाँ प्राप्त नहीं हैं। समस्त संशोधन सर्वोच्च सोवियत द्वारा ही किये जाते हैं। भारतीय संविधान के उन भागों का, जिनका प्रभाव राज्यों पर पड़ता है, संशोधन करने के लिए राज्यों की सहमति अनिवार्य है।

8. **सभी संघों में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति**–वर्तमान समय में प्रायः विश्व के सभी संघ राज्यों में इकाइयों की सरकारों की तुलना में केन्द्रीय सरकार की शक्तियों को बढ़ाने की प्रवृत्ति पायी जाती है। कनाडा और भारत आदि जिन संघों का निर्माण अभी हाल ही के वर्षों में हुआ है, वहाँ पर तो संविधान द्वारा ही इकाइयों की सरकारों की तुलना में केन्द्रीय सरकार को बहुत अधिक शक्तियाँ दी गयी हैं। अमेरिका, आस्ट्रेलिया और स्विट्जरलैण्ड आदि पुराने संघ राज्यों के अन्तर्गत भी वर्तमान समय की प्रवृत्ति केन्द्रीय सरकार की शक्तियों में वृद्धि करने की है। अमरीकी संघ व्यवस्था पर टिप्पणी करते हुए लंकास्टर ने कहा है "यद्यपि राज्य की शक्तियों को बहुत उछाला जाता है परन्तु कुल मिलाकर धाराओं का प्रवाह निश्चित रूप से दूसरी ओर है।" स्विस संघ में पाई जाने वाली केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति के आधार पर डुपरीज ने कहा है, "स्विट्जरलैण्ड के संविधान ने संवर्ग को वस्तुतः ऐसा रूप प्रदान कर दिया है, मानो वह कैण्टनों का शिक्षक व निरीक्षक हो।'

साम्यवादी दल की कार्यप्रणाली के कारण सोवियत संघ में अत्यधिक केन्द्रीय करण है ही। संविधानिक प्रावधानों के बावजूद कतिपय ऐसे राजनीतिक तत्वों का उदय और विकास भारत की राजनीतिक व्यवस्था में दिखलाई देता है जिनसे एकात्मकता में वृद्धि हुई

है और केन्द्रीयकृत संघवाद का चलन हुआ। ऐसे तत्व हैं एकदलीय प्रभुत्व, योजना आयोग, राष्ट्रीय विकास परिषद्, नेहरू और इन्दिरा गांधी जैसे प्रधानमन्त्रियों का करिश्माती व्यक्तित्व। लिप्सन का विचार है कि बीसवीं शताब्दी में राजनीति, अर्थशास्त्र और विज्ञान के दबाव में विकेन्द्रीयकरण की व्यवस्थाएँ समाप्त हो रही हैं, चाहे वह व्यवस्था एकात्मक सरकार में स्थानीय स्वराज के रूप में थी अथवा संघीय यूनियन राज्यों के अधिकारों के रूप में थी, आधुनिक समाज में लगभग सभी प्रवृत्तियाँ केन्द्रीयकरण की दिशा में संगठित हो रही हैं।"

निष्कर्ष—तुलनात्मक विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि अधिकांश देशों की संघीय ढाँचा लगभग समान है, केवल विस्तार की सूक्ष्म बातों में अन्तर पाया जाता है। आज सभी संघों में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

भारत में संघवाद का विकल्प : विकेन्द्रित लोकतान्त्रिक एकात्मक व्वस्था

भारतीय संविधान संघीय ढाँचे के लोकतन्त्र की स्थापना करता है। सच्चा लोकतन्त्र संघीय लोकतन्त्र ही हो सकता है जिसमें शासन सत्ता विकेन्द्रित होती है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि विगत कुछ वर्षों से देश में संघीय लोकतन्त्र की जड़े हिल रही हैं। क्षेत्रीयतावाद, भाषावाद, जातिवाद और सम्प्रदायवाद के कारण विगत वर्षों में अनेक स्थानों पर कानून और व्यवस्था की स्थिति बेकाबू हुई; हिंसा, उपद्रव, लूटमार सामान्य बात हो गई। हमारे संविधान का उद्देश्य संघवाद के साथ साथ राष्ट्रीय एकता स्वीकार किया गया लेकिन यह उद्देश्य अभी प्राप्त नहीं हुआ है। भारतीय संविधान में इकहरी नागरिकता की व्यवस्था की गयी परन्तु भारत के निवासी अपने को भारतीय न कहकर राजस्थानी, पंजाबी, बंगाली, गुजराती आदि कहते हैं।

भारत में प्रादेशिकता राजनीतिक प्रभाव और शक्ति प्राप्त कर लेने अथवा प्रशासनिक और सरकारी संगठन बनाने का अधिकार पा लेने तक ही सीमित नहीं है। यहाँ भौगोलिक स्थिति, ऐतिहासिक परम्परा, जातीय, धार्मिक, भाषायी और नस्ल सम्बन्धी कारणों तथा आर्थिक और वर्गीय हितों ने न्यूनाधिक मात्रा में मिलकर राष्ट्रीयता और एकता की भावना के विरुद्ध प्रादेशिकता और अलगाव की भावना को तथा प्रादेशिक माँगों को जन्म दिया है। राजनीतिक दृष्टि से प्रादेशिकता का मुख्य विरोध शक्तिशाली संघ से है। प्रादेशिकता के समर्थक व्यापक विकेन्द्रीकरण तथा पूर्णतः स्वशासन की माँग करते हैं। कभी कुछ उग्रवादी संघ से अलग हो जाने की इच्छा सँजो रहे हैं। प्रादेशिक भावना बलवती होने का न केवल

संघ और राज्यों के सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ता है अपितु राज्यों के आपसी सम्बन्ध भी बिगड़ते हैं। पड़ोसी राज्यों में भाषा, सीमा, नदी–पानी विवाद आदि प्रश्नों को लेकर विवाद उठ खड़े होते हैं तथा विभिन्न राज्यों के बीच खाई बढ़ने लगती है।

भारतीय संघ से पृथक् होने की प्रवृत्ति

(1) द्रविड़ मुनेत्र कड़गम की माँग–प्रादेशिकता के आन्दोलन को प्रबल बनाने में तमिलनाडु के डी. एम. के. दल की प्रमुख भूमिका रही। जून 1960 में द्रमुक ने मद्रास राज्य में पृथकतावादी आन्दोलन संगठित किया और मद्रास राज्य को भारतीय संघ से विलग करने की इच्छा प्रकट की। जगह–जगह भारत के मानचित्रों को जलाया गया। द्रमुक ने यहाँ तक कहा कि मद्रास, आन्ध्रप्रदेश, केरल और मैसूर को भारतीय संघ से अलग करके एक पृथक् सम्प्रभु द्रविड़स्थान राज्य बनाया जाना चाहिए।

मई 1962 में राज्यसभा में द्रमुक नेता अन्नादुरे ने कहा कि दक्षिण के लोग उत्तर वालों से कई दृष्टि से भिन्न हैं और दक्षिण वालों की सदैव उपेक्षाकी गई है। इस प्रकार की विघटनकारी माँगों के फलस्वरूप अक्टूबर 1963 में संविधान का 17वाँ संशोधन अधिनियम पारित किया। इसमें यह प्रावधान रखा गया कि देश की अखण्डता के विरुद्ध कोई भी व्यक्ति कार्य नहीं कर सकेगा। इसके फलस्वरूप द्रमुक ने भारतीय संघ से अलग होने की माँग को छोड़ दिया और भारतीय संघ में ही स्वायत्त राज्य की माँग प्रस्तुत की। सन् 1970 में द्रमुक के तत्वावधान में राज्य स्वायत्तता सम्मेलन आयोजित किया गया और राज्य स्वायत्तता की माँग की गई। राज्य के तात्कालिक मुख्यमन्त्री करुणानिधि ने चुनौती दी कि यदि उनकी माँग स्वीकार नहीं की जाती तो वे जन आन्दोलन का सहारा भी लगे। एक बार तो उन्होंने पृथक् झण्डे की भी माँग की।

(2) अकाली दल की माँग–मास्टर तारासिंह के नेतृत्व में पंजाब के सिक्ख सम्प्रदाय ने स्वाधीनता से पूर्व ही खालिस्तान' की माँग की थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद मास्टर तारासिंह ने पृथक् 'सिक्ख राज्य की माँग की। सन् 1950–60 के मध्य सिक्खों ने हिंसात्मक आन्दोलनों के माध्यम से पंजाबी सूबे की माँग की। नवम्बर 1966 में पंजाब का विभाजन हुआ इससे भी सिक्ख सम्प्रदाय सन्तुष्ट नहीं हुआ और सिक्खों के लिए सिक्ख राज्य की माँग उठने लगी। अकाली दल के महासचिव डॉ. जगजीतसिंह ने सिक्ख जनमत को जाग्रत करने के लिए 'सिखिस्तान' की माँग हेतु विभिन्न देशों की यात्रा की। अकाली दल के कई नेता यह धमकी देने लगे कि भारतीय संघ के अन्तर्गत सिक्ख राज्य को

स्वायत्तता प्रदान नहीं की गयी तो वे जन आन्दोलन का सहारा लेंगे। आज भी अकाली दल राज्यों के लिए अधिक स्वायत्तता की माँग प्रस्तुत करता रहा है।

(3) आसाम में मिजो माँग–आसाम राज्य के मिजो पहाड़ी जिलों के नेता भारतीय संघ से पृथक् होने की लगातार माँग करते रहे हैं। वे एक स्वाधीन मिजो राज्य की स्थापना करना चाहते हैं। इस ध्येय की पूर्ति हेतु 'मिजो राष्ट्रीय फ्रण्ट' की स्थापना की गई। मिजो लोगों ने सशस्त्र आन्दोलन का मार्ग अपनाया। सन् 1962 के चीनी आक्रमण के समय फ्रण्ट पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया किन्तु कछार और त्रिपुरा क्षेत्रों में इनकी गतिविधियाँ चलती रहीं। सन् 1971 में मिजो नेता मिजो राज्य की माँग के प्रश्न पर जनमत संग्रह कराने की माँग करने लगे। मिजो लोगों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को देखते हुए केन्द्रीय सरकार ने 'मिजोरम' नामक संघीय क्षेत्र की स्थापना की बाद में इसे राज्य का दर्जा दे दिया गया।

(4) आसाम में नागा आन्दोलन–आसाम की नागा जाति ने भी भारतीय संघ से पृथक होने का आन्दोलन छेड़ा। फीजो के नेतृत्व में 'नागा राष्ट्रीय परिषद' की स्थापना की गई और हिंसात्मक संघर्ष की सक्रिय गतिविधियाँ आरम्भ कर दी गयीं। सन् 1952 के प्रथम आम चुनावों का नागा लोगों ने बहिष्कार किया। फीजों ने यहाँ तक कहा कि वे नागा लोगों को संयुक्त राष्ट्र संघ (U.N.O.) में ले जाएँगे। सन् 1960 में नागाओं और केन्द्रीय सरकार के मध्य एक समझौता हुआ जिसके फलस्वरूप नागा राज्य की स्थापना का मार्ग प्रस्तुत हुआ। नागालैण्ड राज्य की स्थापना के बाद भी नागा विद्रोही तोड़–फोड़ की कार्रवाइयाँ करने लगे।

1973 के पूर्वार्द्ध में नागा विद्रोहियों की छापामार गतिविधियाँ चरम सीमा पर थीं। 2 सितम्बर, 1974 को अवैध गतिविधि (प्रतिरोध) अधिनियम की अवधि दो वर्ष के लिए बढ़ा दी गई तथा भूमिगत नागा राष्ट्रीय परिषद् एवं उसकी अन्य सहयोगी संस्थाओं पर देश की सुरक्षा एवं प्रादेशिक अखण्डता बनाए रखने के हित में प्रतिबन्ध लगा दिया गया। भारतीय समाचार–पत्रों में बराबर ऐसे समाचार छपते रहते हैं कि नागा भारतीय संघ से पृथक् होकर अपना स्वतन्त्र प्रभुसत्ता–सम्पन्न राज्य बनाने के उद्देश्य से हथियार एवं प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए भाग कर चीन व बर्मा चले गये हैं।

भारतीय संघ के अन्तर्गत पृथक राज्यों की माँग–सन् 1956 में राज्यों का पुनर्गठन किया गया। राज्यों के पुनर्गठन का मुख्य कारण भाषाई राज्यों की माँग ही थी। भाषागत राज्यों की माँगों ने राष्ट्रव्यापी असन्तोष को जन्म दिया। इसके द्वारा क्षेत्रीय भावनाओं को

प्रोत्साहन मिला और राष्ट्रवादी लोगों में यह आशंका हुई कि इससे देश छोटे–छोटे टुकड़ों में विभाजित हो जाएगा और राष्ट्रीय एकता का अन्त हो जायेगा।

भाषावार राज्यों के निर्माण की माँग जोर पकड़ती गयी। मद्रास प्रान्त से तेलुगु भाषी जिलों को अलग करके आन्ध्रप्रदेश की स्थापना के आन्दोलन ने उग्र रूप पकड़ा। आन्ध्र प्रदेश की माँग के समर्थन में पोती श्रीमती रामुलु ने अनशन करके प्राण दे दिये, फलस्वरूप अक्टूबर 1953 में तेलुगु भाषी आन्ध्र प्रान्त का निर्माण हुआ। सन् 1960 में द्विभाषी बम्बई राज्य को तोड़कर महाराष्ट्र और गुजरात राज्यों की स्थापना की गई। सन् 1960 के आसपास पृथक् विदर्भ राज्य की माँग की जाने लगी।

नागपुर के लोगों का कहना था कि महाराष्ट्र की स्थापना से नागपुर का महत्व कम हो गया है क्योंकि उससे पूर्व नागपुर मध्य भारत की राजधानी था। 1966 में पंजाब राज्य का पुनर्गठन किया गया जिससे पंजाब, हरियाणा एवं चण्डीगढ़ का संघीय प्रदेश बनाया गया। कुछ मिजो, नागाओं और असम के कबायली लोगों ने भी पृथक् राज्य के लिए आन्दोलन चलाया, इसीलिए 1971 में संविधान में 27वाँ संशोधन किया गया और अरुणाचल और मिजोरम नाम से दो संघीय क्षेत्रों का सृजन किया गया और मणिपुर, त्रिपुरा और मेघालय को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया।

पिछले वर्षों में 'आन्ध्र राज्य से पृथक् होकर तेलंगाना राज्य के निर्माण की माँग ने जोर पकड़ा। भूतपूर्व मैसूर रियासत के लोगों ने कर्नाटक से अलग होने की माँग प्रस्तुत की है। मध्यप्रदेश में पृथक् छत्तीसगढ़ राज्य की माँग की जाती रही है। बिहार, प.बंगाल, उड़ीसा तथा मध्यप्रदेश के पन्द्रह आदिवासी जिलों को मिलाकर पृथक् झारखण्ड राज्य की स्थापना की माँग प्रस्तुत की गयी है। पश्चिम बंगाल के गोरखा पृथक 'गोरखा लैण्ड' तथा असम के आदिवासी पृथक 'बोडो लैण्ड' की माँग कर रहे हैं। संघीय क्षेत्र दिल्ली के राजनीतिज्ञों ने दिल्ली को पृथक् राज्य का दर्जा देने की अनवरत माँग की है। भारतीय संघ के राज्यों के बीच क्षेत्रीयता की संकीर्ण मनोवृत्ति अन्तर्राज्यीय सीमा विवादों तथा नदी–पानी विवादों के सन्दर्भ में भी देखी जा सकती है।

क्या प्रादेशिकता की संकुचित भावना राष्ट्रीय एकता को खण्डित तो नहीं कर देगी? सेलिंग एस. हेरीसन ने इस सम्बन्ध में कहा है, "यदि क्षेत्रीयतावाद की भावना या किसी विशेष क्षेत्र के लिए अधिकार या स्वायत्तता की माँग बढ़ती चली गई तो इससे या तो देश अनेक छोटे–छोटे स्वतन्त्र राज्यों में बँट जाएगा या तानाशाही कायम हो जाएगी।"[13]

संघ व्यवस्था के कारण ही भारत में दोहरी प्रशासनिक व्यवस्था विद्यमान है। राष्ट्र के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक जीवन में केन्द्रीय क्षेत्र और प्रान्तीय क्षेत्र का दुहरापन दिखलायी देता है। एक देश होते हुए भी ऐसा लगता है मानो हम कई देशों में निवास कर रहे हों। केन्द्रीय और राज्यीय कर्मचारियों के वेतन, भत्तों आदि में ऐसा अन्तर दिखलाई देता है मानों वे एक ही नगर में रहने वाले विभिन्न राज्यों के नागरिक हों। केन्द्रीय कर्मचारियों के ऊँचे वेतन भत्तों को देखते हुए राज्यों में नई अखिल भारतीय सेवाओं के गठन की माँग की जाने लगी है। वस्तुतः संघात्मक शासन प्रणाली के कारण ही हमारे राजनीतिक, आर्थिक और प्रशासनिक जीवन में यह दोहरापन आया है जिससे केन्द्र–राज्यों में तनाव बढ़े हैं।

क्या केन्द्र एवं राज्यों के बढ़ते हुए तनाव राष्ट्रीय एकता के लिए खतरा नहीं है? क्या केन्द्र–राज्य विवादों को देखते हुए हमारी राजनीतिक व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन की आवश्यकता महसूस नहीं होती? वैज्ञानिक और तकनीकी क्रान्ति के फलस्वरूप अब यह सम्भव हो गया है कि भारत में विकेन्द्रित लोकतांत्रित किन्तु सुगठित एकात्मक राजनीतिक, प्रशासनिक और आर्थिक व्यवस्था की स्थापना की जाए।[14]

भारत में संघात्मक ढाँचे के स्थान पर एकात्मक ढाँचे की स्थापना की जानी चाहिए। सभी राज्यों को समाप्त कर दिया जाना चाहिए तथा जिले को राजनीतिक एवं प्रशासनिक दृष्टि से आधारभूत इकाई बना देना चाहिए। आधुनिक आवा गमन एवं संचार के द्रुतगामी साधनों के माध्यम से जिला मुख्यालयों का सम्पर्क राष्ट्रीय राजधानी से आसानी से जोड़ा जा सकता है। जिला मुख्यालयों को आर्थिक विकास और नियोजन की केन्द्रीय धुरी बनाना होगा।

केन्द्रीय संसद में जिले को प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए। राजनीतिक व्यवस्था में इस परिवर्तन के साथ–साथ देश की प्रशासनिक व्यवस्था में भी परिवर्तन करना होगा। जिला प्रशासन का लोकतान्त्रिकरण करना होगा तथा संविधान के माध्यम से जिले को वित्तीय और प्रशासनिक स्वायत्तता प्रदान करनी होगी। क्षेत्रीय भाषा और क्षेत्रीय संस्कृति के विकास पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा और जिला स्तर पर त्रिभाषा फार्मूले को आसानी से क्रियान्वित किया जा सकेगा। इस नई व्यवस्था में राष्ट्रीय राजधानी की भूमिका भी कम महत्वपूर्ण नहीं होगी वह राष्ट्रीय इच्छा और आकांक्षा का प्रतिनिधित्व करते हुए राष्ट्र को जोड़ने वाली कड़ी का कार्य करेगी।

ऐसा कहा जाता है कि संघात्मक ढाँचे को विकेन्द्रित–लोकतान्त्रिक एकात्मक ढाँचे (Democratised and Decentralised Unitary System) में बदलने से जहाँ एक ओर पृथकतावादी प्रवृत्तियों का अन्त होगा वहाँ दूसरी ओर अधिकतम आर्थिक विकास होगा एवं सामाजिक–आर्थिक विषमताओं का अन्त होगा।

जिला मुख्यालय राज्यों की राजधानियों के स्थान पर सामाजिक–आर्थिक प्रगति की धुरी हो जायगा जिससे छोटे–छोटे गाँवों तक पहुँचना सहज होगा। इससे नौकरशाही राष्ट्रीय सरकार के प्रति उत्तरदायी होगी और अपनी समस्याओं के निदान हेतु जनता राष्ट्रीय सरकार की तरफ देखने लगेगी। किसी प्रकार की राज्य और सम वर्ती सूची नहीं होगी, न केन्द्रीय और राज्यों के कर्मचारियों में अन्तर होगा और न केन्द्रीय और राज्यीय क्षेत्र ही होंगे। केवल एक राष्ट्रीय सूची होगी, राष्ट्रीय नौकरशाही होगी और राष्ट्रीय क्षेत्र होगा। इससे शिक्षा, प्रशासन, औद्योगिक और कृषि विकास के क्षेत्रों में राष्ट्रीय नीतियों का सूत्रपात होगा और भारत भर में राजनीतिक एकात्मकता की प्रक्रिया का जन्म होगा।

भारत में संघवाद का भविष्यः निष्कर्ष

किसी ने कहा है कि भारत में संघवाद असफल हुआ है। वह हर जगह असफल रहेगा।' क्या भारत में संघ व्यवस्था असफल हुई है? क्या केन्द्रीयकरण की बढ़ती हुई सामान्य प्रवृत्ति से यह निष्कर्ष निकालना समीचीन होगा कि भारत में 'संघवाद के युग का अन्त समीप है ?' प्रो. विलोबी ने कितनी यथार्थ टिप्पणी की है कि 'संघ' की स्थापना के साथ ही राष्ट्रीय भावनाएँ हिलोरें लेने लगती हैं और आवश्यकताओं के अनुरूप केन्द्रीय सरकार की शक्तियाँ बढ़ने लगती हैं जबकि राज्य सरकारों की शक्ति में ह्रास आने लगता है। संघ की स्थापना के बाद से ही कुछ ऐसा परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है, मानो संघ शर्तों को तोड़ कर एकात्मक सरकार की ओर बढ़े जा रहे हों।'

वस्तुतः भारत में संघ प्रणाली असफल नहीं हुई है, यद्यपि विघटनकारी प्रवृत्तियाँ व प्रादेशिकता की संकीर्ण भावनाओं के कारण अनेक क्षेत्रों में एकात्मक शासन की माँग अवश्य की जाने लगी है। भारत में संघवाद की सफलता का भविष्य दल प्रणाली पर निर्भर करता है। जब तक भारत में एकदल प्रधान व्यवस्था रही, संघ प्रणाली सुचारु रूप से कार्य करती रही। किन्तु ज्यों हि राज्यों में मिली–जुली सरकारें बनीं, केन्द्र–राज्य सम्बन्ध उग्र मतभेद का रूप ग्रहण करने लगे। नवम् लोकसभा चुनावों के परिणामों से दल प्रणाली में बिखराव आया है। कांग्रेस दल का एकाधिकार टूटा है। केन्द्र में राष्ट्रीय मोर्चे की अल्पमतीय सरकार स्थापित हुई है और राज्यों में अन्य क्षेत्रीय दलों की सरकारों का निर्माण हुआ है। क्या

इससे केन्द्र और राज्यों के मध्य संघर्ष की स्थिति आयेगी? भारतीय संघ का पिछला इतिहास (उदाहरणार्थ 1967 से 1971 के बीच का समय) इस बात का साक्ष्य है कि जब–जब केन्द्र और राज्यों में भिन्न–भिन्न दलों की सरकारें रही हैं तब तब केन्द्र–राज्य सम्बन्ध तनावपूर्ण रहे हैं। ऐसी स्थिति में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों के समायोजन हेतु नये सिरे से विचार–विमर्श करना उपयोगी होगा।

संघवाद के सन्दर्भ में स्वायत्तता का अर्थ सीमित है और उसमें संघ के एककों की प्रभुसत्ता का स्थान नहीं है। भारत में राज्यों के हाथ में देश के शासन का बहुत बड़ा भाग है। यद्यपि उन्हें आर्थिक साधनों के लिए केन्द्र पर निर्भर रहना पड़ता है और विकास कार्यों का संयोजन भी केन्द्र करता है, फिर भी राज्यों में अपने अधिकारों पर जोर देने की प्रवृत्ति है और देश के शासन में वे ज्यादा हाथ चाहते हैं।

निष्कर्षतः हमारी संघ व्यवस्था में राजनीतिक और आर्थिक शक्ति का निम्नतर इकाइयों के बीच अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण होना चाहिए, इसके साथ ही केन्द्र को उसके अपने विशिष्ट और संकुचित क्षेत्र में अधिक शक्तिशाली बनाया जाना चाहिए। केन्द्र और राज्यों के स्वस्थ भावी सम्बन्धों के लिए यह अपरिहार्य है कि केन्द्रीयकरण और विकेन्द्रीयकरण की सत्ता में समन्वय स्थापित हो। राष्ट्रीय एकता और विकास के लिए शक्तिशाली केन्द्र और समृद्ध राज्यों के संघीय ढाँचे का होना लाभकारी है।

राज्यों को महसूस करना चाहिए कि दुर्बल केन्द्र का सिद्धान्त राजनीतिक दृष्टि से 'आत्महत्या के समतुल्य होगा। आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों का सर्वप्रथम कार्यात्मक केन्द्रीयकरण होना चाहिए और उसके पश्चात् ही विकेन्द्रीयकरण की बात सोचना चाहिए। हमारे राज्य तभी शक्तिशाली हो सकते हैं जबकि केन्द्र भी शक्तिशाली हो। यदि शक्ति का संतुलन राज्यों की तरफ झुकता जाता है तो केन्द्र के साथ–साथ सम्पूर्ण राष्ट्रीय शक्ति का ही ह्रास होगा और उससे निश्चित ही 'शक्ति शून्य' की स्थिति उत्पन्न होगी।[15] ऐसा 'शक्ति शून्य' हमारी राष्ट्रीय एकता के लिए एक गम्भीर चुनौती होगा, अतः हमारी संघ प्रणाली में समायोजन के संस्थानात्मक विकल्प की खोज करना ही समीचीन प्रतीत होता है।

देश में आर्थिक रूप से सभी राज्य समान रूप से विकास नहीं कर रहे हैं। कई राज्य आर्थिक दृष्टि से अब भी पिछड़े हुए हैं। इन क्षेत्रीय विषमताओं को दूर करने के लिए एक सुसम्बद्ध आर्थिक नीति को अपनाना बहुत जरूरी है, जिससे कि संघ के घटक राज्यों में असन्तुलित विकास दूर किया जा सके। विश्व के अनेक देशों के इतिहास में ऐसी घड़ियाँ आयी हैं जबकि क्षेत्रीय विषमता का तत्व उभरा है। और देश को उसकी बहुत बड़ी

कीमत चुकानी पड़ी है। संयुक्त राज्य अमेरिका में जब ये तत्व उभरे तो वहाँ भयंकर गृहयुद्ध हुआ और अन्त में सभी पक्ष इस निर्णय पर पहुँचे कि सभी शक्तियाँ मिलकर ही देश को समृद्धिशाली बना सकती हैं।

इसी प्रकार के विवाद कनाडा में भी उठे हैं। संक्षेप में, भारतीय संघ का भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि कितना जल्दी हम क्षेत्रीय आर्थिक विषमताओं को पाटने में सफल हो पाते हैं? हमारी संघ व्यवस्था संक्रमणकालीन संकटों के कठिन दौर से गुजर रही है जिनसे निराश और हताश होने का कोई कारण नहीं है। जो कुछ हो रहा है स्वाभाविक और व्यावहारिक है, हमारी संघ व्यवस्था की सक्षमता का प्रमाण है और भविष्य के प्रति नई आस्था और आशा जगाती है।

सन्दर्भ–सूची

1. कार्ल जे. फ्रेडरिक, ट्रेण्डस अफ फेडरालिज्म इन थ्योरी एण्ड प्रेक्टिस (लन्दन, 1968), पृ. VIII.
2. आर. बी. जैन, "फेडरालिज्म इन इण्डिया : इमजग पेटर्न एण्ड पब्लिक पॉलिसी, जर्नल ऑफ कॉन्स्टीट्यूशनल एण्ड पॉलयामेन्ट्री स्टडीज, जनवरी–मार्च 1978, पृ.13.
3. डब्ल्यू. एच. मॉरिस जान्स, दि गवर्नमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ इण्डिया (लन्दन 1974), पृ. 150–56).
4. मारकस एफ, फ्रान्डा, वेस्ट बंगाल एण्ड दि फेडरालाइजिंग प्रॉसेज इन इण्डिया (प्रिन्सटन, 1978), पृ. 179.
5. एम. वी. पाइली, कॉन्स्टीट्यूशनल गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया, पृ. 601.
6. नारमन डी. पामर, दि इण्डियन पालिटिकल सिस्टम, 1971, पृ. 104.
7. रजनी कोठारी, पॉलिटिक्स इन इण्डिया (दिल्ली, 1970), पृ. 11 8–19.
8. उपर्युक्त, पृ. 119.
9. ए. एच. बर्च, फेडरालिज्म, फाइनेन्स एण्ड सोशल लेजिस्लेशन इन कनाडा, आस्ट्रेलिया एण्ड दि यूनाइटेड स्टेट्स (आक्सफोर्ड, 1955), पृ. 306.
10. मारिस जोन्स, उपर्युक्त, पृ. 13.
11. ओ. पी. गोयल, इण्डिया : गवर्नमेण्ट एण्ड पालिटिक्स (नई दिल्ली, 1979). पृ. 60
12. दिनमान, 29 मार्च 1970, पृ. 13.
13. सेलिंग एस. हेरीसन, इण्डिया : दि मोस्ट डेंजरस डिकेड्स (प्रिस्टन, 1960),
14. एम. मंजूर आलम, चेंजिग ज्योग्राफी', सेमिनार (नई दिल्ली), जून 1978, पृ. 12–15.
15. जे. डी. सेठी, इण्डियाज स्टेटिक पावर स्ट्रक्चर (विकास, 1969), पृ. 104.

अध्याय–षष्ठमः

भारत में केन्द्र राज्यों के मध्य तनाव तथा खिंचाव तथा राज्यों में नए रूप से उभरती स्वायत्तता की मांग

अपने प्रारम्भिक वर्षो में भारतीय संघ व्यवस्था की प्रमुख विशेषता थी 'केन्द्र–राज्य सहयोग'। ज्यों–ज्यों संविधान और संघ प्रणाली प्रौढ़ होती गयी त्यों त्यों उसमें दरारें दिखने लगीं और आज अनेक ऐसे मुद्दे स्पष्ट तौर से दिखलायी देते हैं जहाँ केन्द्र और राज्यों में मतभेद की झलक मिलती है।

चतुर्थ आम चुनावों (1967) से पूर्व 'नेहरू युग' में केन्द्र और राज्यों के सम्बन्ध 'मधुर' कहे जा सकते हैं। इस कालावधि में देश के राजनीतिक क्षितिज पर कांग्रेस दल का एकाधिकार था और केन्द्र व राज्यों के बीच संघर्षपूर्ण स्थिति उत्पन्न नहीं हुई। सी. एस. पण्डित ने लिखा है, 'विगत कई वर्षों से भारत के लगभग सभी राज्यों में कांग्रेस पार्टी का शासन होने के कारण केन्द्रीय सरकार की भूमिका पितृवत रही और अपने दलीय मुख्यमन्त्रियों के माध्यम से इकाई राज्यों पर न केवल उसका एकछत्र नियन्त्रण रहा अपितु उनके संचालन में भी उसकी उल्लेखनीय भूमिका रही। जब भी और जो भी मतभेद उत्पन्न हुए उनका निराकरण पार्टी के स्तर पर ही खोज लिया गया। यह अब सम्भव नहीं है। अब तो हर मतभेद सार्वजनिक विवाद बन जाता है और उसका हल संविधान की कानूनी भाषा में खोजा जाता है न कि राजनीतिक दृष्टिकोणों में।[1]

वस्तुतः नेहरू युग में संघ–राज्य तनाव को 'कांग्रेस दल के अन्तरंग का विवाद' (intra-party-affair) समझा जाता था और उसका निराकरण उसी प्रकार खोजा जाता था जैसे किसी पारिवारिक विवाद का हल खोजते हैं। नेहरू जैसे करिश्मायी व्यक्तित्व के आगे तो छोटे मोटे विवादों का हल खोजना कोई मुश्किल भी नहीं था।[2] किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि उस युग में मतभेद के कोई मुद्दे ही नहीं होते थे। हम सभी जानते है कि राज्यों के कतिपय शक्तिशाली मुख्यमन्त्री कभी–कभी तो दबाव की भाषा में ही बात करते थे। पश्चिमी बंगाल के मुख्यमन्त्री डॉ. बी. सी. राय ने 'दामोदर घाटी कॉर्पोरेशन' (डॉ. बी. सी.) के मुद्दे पर कितना दबावपूर्ण और उग्र रुख अपनाया था।[3] भारत में पनपी कांग्रेस व्यवस्था (Congress System) की विशेषता थी 'परामर्श और सर्वानुमति की विधि' (Consultation-Consensus Technique) और इस विधि के माध्यम से मतभेदों को उग्र रूप धारण करने नहीं दिया जाता था। डॉ. इकबाल नारायण के शब्दों में, "ऐसा लगता है

मानो संघ व्यवस्था एकात्मक दलीय ढाँचे के अन्तर्गत कार्यरत थी और यह आश्चर्य की ही बात है कि इनसे संघ व्यवस्था के विकास का मार्ग अवरोध नहीं किया।"

चतुर्थ आम चुनावों के बाद (और अब लोकसभा के चुनावों के बाद) भारतीय राजनीति में एक नया मोड़ आया। अब संघ प्रणाली को क्रियान्वयन 'एक दल प्रधान ढाँचे' (One Party dominant framework) के बजाय बहुदलीय प्रतियोगी राजनीति (Multi&Party-Competitive Politics) के ढाँचे में होने लगा।

चतुर्थ आम चुनाव के बाद कांग्रेस का एकाधिकार समाप्त हुआ और अनेक राज्यों में गैर–कांग्रेसी दलों की सरकारें बनीं। उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु पश्चिमी बंगाल, बिहार, केरल जैसे महत्वपूर्ण राज्यों में ऐसे दलों की सरकारें अस्तित्व में आयीं जिनकी विचारधारा और कार्यक्रम कांग्रेस दल से मेल नहीं खाते थे। ये गैर–कांग्रेसी राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार को अविश्वास और शंका की दृष्टि से देखने लगीं। उनका यह दृष्टिकोण रहा कि केन्द्र की कांग्रेसी सरकार राज्यों में कार्यरत गैर कांग्रेसी सरकारों को पदच्युत करना चाहती है। इसी कालावधि में कई राज्यों में क्षेत्रीय एवं प्रादेशिक दलों का अभ्युदय हुआ। क्षेत्रीय दलों का ध्येय अपनी शक्ति में वृद्धि करना और केन्द्रीय सत्ता को दुर्बल करना रहा। गैर कांग्रेसी दलों के मुख्यमन्त्री तो प्रायः छोटी–छोटी बातों को तूल देने लगे और केन्द्र के विरुद्ध बार–बार शिकायतें प्रस्तुत करने लगे। वस्तुतः केन्द्र और राज्यों के मध्य तनाव, संघर्ष और मतभेद के युग का सूत्रपात हुआ।

केन्द्र और राज्यों के संघर्ष क्षेत्र

सैद्धान्तिक दृष्टि से केन्द्र तथा राज्यों के मध्य विवादों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है:[6]

1. संस्थागत
2. कार्यात्मक, और
3. वित्तीय तथा योजना सम्बन्धी।

1. संस्थागत—संस्थागत क्षेत्रसे अभिप्राय है संविधान तथा राजनीतिक व्यवस्था में कार्यरत संविधानिक तथा राजनीतिक संस्थाओं की कार्यप्रणाली तथा क्षेत्राधिकार को लेकर उठने वाले विवाद। हमारे यहाँ कुछ ऐसी संविधानिक संस्थाएं हैं जो केन्द्र और राज्य दोनों से सम्बन्धित हैं और जिसके फलस्वरूप विवाद उत्पन्न होना स्वाभाविक है। संस्थागत

विषयों के अन्तर्गत तीन बातों का उल्लेख किया जा सकता है : (i) राज्यपाल का पद;(ii) नौकरशाही; और (iii)संविधान।

(i) **राज्यपाल का पद—**चतुर्थ आम चुनावों के बाद राज्यपालों के अधिकार क्षेत्र, नियुक्ति के तरीके आदि को लेकर केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में तनाव उपस्थित हुए। संविधान के अनुसार राज्यपाल की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को प्रदान किया गया है। किन्तु इस सम्बन्ध में एक परम्परा भी विकसित हुई कि राज्यपाल की नियुक्ति करने से पूर्व केन्द्रीय सरकार उस राज्य की इच्छा को जानने का प्रयत्न करती है। प्रायः सम्बन्धित राज्य के मुख्यमन्त्री से सलाह ली जाती है। यह इसलिए किया जाता है कि केन्द्र और राज्यों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों का वातावरण बना रहे।

चतुर्थ आम चुनाव के पश्चात् अनेक गैर–कांग्रेसी राज्यों के मुख्यमन्त्रियों ने यह मत व्यक्त किया कि उनके राज्य में राज्यपाल की नियुक्ति करते समय राष्ट्रपति ने उनसे सलाह नहीं ली। उदाहरणतः पश्चिम बंगाल में संयुक्त मोर्चे की सर कार ने राज्यपाल पद पर धर्मवीर की नियुक्ति का विरोध किया, लेकिन फिर भी उन्हें राज्यपाल नियुक्त कर दिया गया। जब संयुक्त मोर्चे की सरकार ने धर्मवीर को छुट्टी पर जाने के लिए विवश कर दिया तो फिर से यह प्रश्न उठा कि राज्यपाल किसको बनाया जाये। संयुक्त मोर्चे की सरकार ने इन सम्बन्ध में कुछ नामों का सुझाव दिया जिन्हें प्रधानमन्त्री ने रद्द कर दिया। इसी प्रकार 1967 में नित्यानन्द कानूनगो को महामाया प्रसाद सिन्हा के मन्त्रिमण्डल की इच्छा के विरुद्ध बिहार का राज्यपाल नियुक्त किया गया।

हरियाणा में भी 1967 में तत्कालीन मुख्यमन्त्री राव' वीरेन्द्र सिंह ने राज्यपाल की नियुक्ति के बारे में नामों का सुझाव दिया था जिन्हें केन्द्रीय सरकार ने मानने से इंकार कर दिया था।[10] जब राज्य में सत्तारूढ़ दल की इच्छा के विरुद्ध राज्यपाल की नियुक्ति की जाये तो उससे केन्द्र तथा राज्य के सम्बन्धों में तनाव होने की सम्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त ऐसा करने से राज्यपाल तथा उसके मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध भी ठीक नहीं रहते। गैर–कांग्रेसी सरकारें बराबर यह आरोप लगाती रहीं कि केन्द्र राज्यपालों के माध्यम से गैर–कांग्रेसी सरकारों को पदच्युत करने में लगा रहता है।

विशेष रूप से 1967 के चतुर्थ आम चुनावों के बाद ही इस प्रकार के अवसर पैदा हुए। जब राज्यपालों को स्वविवेकी शक्तियों का विशिष्ट परिस्थितियों में प्रयोग करना पड़ा। कुछ राज्यपालों ने तो सुनिश्चित प्रजातान्त्रिक अभिसमयों का भी पालन नहीं किया और ऐसा आभास मिलता था कि उन्होंने केन्द्रीय सरकार के एजेण्ट की भूमिका का निर्वाह करने

में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान ली। उदाहरणार्थ, 1967 में राजस्थान के तत्कालीन राज्यपाल सम्पूर्णानन्द ने कांग्रेस दल का पक्ष लिया जबकि विधानसभा में उसका बहमत सन्देहजनक था। यह तथ्य इस बात से सिद्ध हो जाता है कि विपक्ष ने विधानसभा के आधे से अधिक सदस्यों को राष्ट्रपति के सामने पेश किया था।[11] सन् 1959 में राज्यपाल के प्रतिवेदन के आधार पर केरल की साम्यवादी सरकार को बर्खास्त कर दिया गया। मुख्यमन्त्री का विधानसभा में स्पष्ट बहुमत था। 1967 के चुनावों के पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल धर्मवीर ने अजेय मुखर्जी के मंन्त्रिमण्डल को बर्खास्त कर दिया और विधानसभा का अधिवेशन बुलाकर यह तक नहीं देखा कि उनको विधानसभा का बहुमत प्राप्त है या नहीं। जनवरी 1976 में तमिलनाडु में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया तो राज्यपाल को प्रतिवेदन गृह मन्त्रालय में तैयार किया गया तथा राज्यपाल के. के. शाह ने कर्तव्यपरायणता के साथ उस पर हस्ताक्षर कर दिए।[12]

वस्तुतः 1967 के चुनावों के बाद राजस्थान के राज्यपाल डा. सम्पूर्णानन्द, पश्चिमी बंगाल के श्री धर्मवीर, पंजाब के डॉ. पावटे, उत्तर प्रदेश के श्री गोपाल रेड्डी आदि ने अपने आचारण से गैर–कांग्रेसी सरकारों को शंकित कर दिया। राज्यपाल धर्मवीर की भूमिका को लेकर पश्चिमी बंगाल और केन्द्रीय सरकार के मध्य विवाद इतना उग्र हो गया कि अन्ततः राज्यपाल को स्थानान्तरित ही करना पड़ा। बी. जी. खैर ने सत्य ही कहा था कि एक अच्छा राज्यपाल बहुत लाभ पहुंचा सकता है और एक बुरा राज्यपाल दुष्टता भी करता है।"

(ii) **नौकरशाही—**नौकरशाही दूसरा संस्थागत विषय है जिस पर केन्द्र तथा राज्य सरकारों के लिए अलग–अलग सेवाओं की व्यवस्था की गई है परन्तु ब्रिटिश प्रशासन से विरासत में हमने एकीकृत उच्च प्रशासनिक सेवाओं की प्रणाली प्राप्त की। अखिल भारतीय सेवाओं के कर्मचारी संघ तथा राज्य दोनों जगह कार्य करते हैं। संविधान में यह व्यवस्था भी है कि भारतीय प्रशासनिक सेवा और भारतीय पुलिस सेवा संघ और राज्यों में समान रूप से कार्य करेगी। चौथे आम चुनावों (1967) के बाद नौकरशाही के सम्बन्ध में दो प्रश्न सामने आये–पहला प्रश्न यह था यह कि क्या नौकरशाही गैर–कांग्रेसी राज्य सरकारों की नीतियों का क्रियान्वयन उसी उत्साह तथा प्रतिबद्धता से कर पायेगी जिस उत्साह से वह अब तक कांग्रेस सरकार की नीतियों का क्रियान्वयन करती थी।

यह प्रश्न वस्तुतः सरकारी कर्मचारियों की तटस्थता से जुड़ा हुआ है। कतिपय लोगों के मन में यह धारणा थी कि बीस वर्षों तक कांग्रेस दल के कार्यक्रमों और नीतियों को कार्यान्वित करने वाली नौकरशाही तमिलनाडु में द्रमुक दल, केरल में साम्यवादी दल,

पश्चिमी बंगाल में मार्क्सवादी साम्यवादी दल और पंजाब में अकाली दल की नीतियों और कार्यक्रमों का सहजता से कैसे क्रियान्वन कर पायेगी।

दूसरा सवाल नई अखिल भारतीय सेवाओं के गठन से सम्बन्धित था। कुछ गैर–कांग्रेसी सरकारों ने कहा कि अखिल भारतीय सेवाओं के कर्मचारी केन्द्रीय सरकार के एजेन्ट होते हैं तथा वे राज्य की नीतियों को ठीक ढंग से लागू नहीं करते। कई राज्यों ने निम्नलिखित कारणों से अखिल भारतीय का विरोध किया–(1) अखिल भारतीय सेवाओं के निर्माण से राज्य का विस्तार रुक जाता है और स्थानीय लोगों के उच्च सेवाओं में आने के अवसर कम हो जाते हैं; (2) अखिल भारतीय सेवाएँ राज्यों की स्वायत्तता को कम करती हैं; (3) अखिल भारतीय सेवाओं के कर्मचारियों का वेतन स्तर उच्च होता है जिससे राज्य की वित्तीय स्थिति प्रभावित होती है। वस्तुतः अखिल भारतीय सेवाएँ केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में कटुता बढ़ाने का कारण इसलिए बन सकती हैं क्योंकि में उनकी नियुक्ति, पदोन्नति और अनुशासनात्मक कार्यवाहियों के मसलों पर केन्द्रीय सरकार पर ही निर्भर करती हैं और राज्यों में उनके प्रति अपनत्व की भावना नहीं दिखलाई देती है।

(iii) **संविधान—**संविधान का स्वरूप तथा उसकी कार्यप्रणाली भी केन्द्र एवं राज्यों के बीच विवाद बढ़ाने में सहायक हुई है। भारत के संविधान का ढाँचा संघात्मक है और उसकी आत्मा एकात्मक। संविधान के स्वरूप के सम्बन्ध में चौथे आम चुनाव के बाद दो प्रकार की विचारधाराओं का प्रचलन हुआ है। पहली विचारधारा के समर्थक संविधान में आमूलचूल परिवर्तन चाहते हैं। वे चाहते हैं कि संविधान की आत्मा को भी संघात्मक बनाया जाय। इसके लिए वे राज्यों को अधिक शक्तियाँ दिये जाने की माँग करते रहे।

तमिलनाडु तथा केरल के मुख्य मन्त्रियों ने संविधान के पूर्ण संशोधन की माँग की। बाद में पश्चिमी बंगाल के मुख्यमन्त्री ज्योति बसु व जम्मू एवं कश्मीर के मुख्यमन्त्री शेख अब्दुल्ला राज्य स्वायत्तता की जोरों से माँग करने लगे। कतिपय संविधान विशेषज्ञ केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में शक्तियों के विभाजन को नये सिरे से करने पर जोर दे रहे हैं। वे समवर्ती सूची में इस प्रकार के परिवर्तन चाहते हैं ताकि शक्तियों का सन्तुलन राज्यों की तरफ झुक जाए। वे चाहते हैं कि राज्यों को कर लगाने के नये अधिकार दिये जाएँ; वित्त आयोग को स्थायी निकाय बना दिया जाय; योजना आयोग को स्वायत्तशासी संविधानिक दर्जा प्रदान किया जाय तथा संविधान के अनुच्छेद 263 के अनुसार एक अन्तर्राज्यीय परिषद् का गठन किया जाय।[14]

दूसरी विचारधारा के समर्थक राजनीतिज्ञ एवं संविधानवेत्ता संविधान का आमूलचूल संशोधन नहीं चाहते। वे तो यही चाहते हैं कि संविधान का सामान्य पुनरीक्षण किया जाए तथा नवीन समस्याओं एवं आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु नए निकायों का निर्माण किया जाए।

संक्षेप में, यों कहा जा सकता है कि केन्द्र में बैठा सत्तारूढ़ दल एवं उसके नेता किसी भी दल के हों यथास्थिति (Status quo) का समर्थन करते हैं तथा राज्यों में सत्तारूढ़ दल और उसके नेता (द्रमुक एवं करुणानिधि अन्नाद्रमुक एवं एम. जी. रामचन्द्रन, मार्क्सवादी दल एवं ज्योति बसु, अकाली दल एवं प्रकाशसिंह बादल) संविधान में आमूलचूल परिवर्तन चाहते हैं और राज्य का समर्थन करते हैं।

2. कार्यात्मक विषय—केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों का बटवांरा किया गया है। दोनों के कार्यक्षेत्र को लेकर उठने वाले विवादों को इसके अंदर लिया जा सकता है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित मसलों को लिया जा सकता है। (i) कानून और व्यवस्था के अधिकार क्षेत्र के प्रश्न पर विवाद (ii) अन्तर्राज्यीय विवाद (iii) राज्य सूची के विषयों पर केन्द्रीय हस्तक्षेप (iv) आवश्यक वस्तुओं पर केन्द्रीय नियन्त्रण (v) भाषा विवाद (vi) भारी औद्योगिक प्रतिष्ठानों की स्थापना का मसला।

(i) कानून और व्यवस्था के अधिकार क्षेत्र के प्रश्न पर विवाद—कानून और व्यवस्था बनाए रखना एवं राज्य की सीमा के अन्तर्गत आने वाली केन्द्रीय सरकार की सम्पत्ति की रक्षा करना राज्य सरकारों का दायित्व है। केन्द्रीय सरकार की सम्पत्ति और उसके औद्योगिक संस्थान सारे देश में फैले हुए हैं। उदाहरण के लिए रेलवे को लिया जा सकता है। यदि केन्द्रीय सरकार के संस्थान और सेवाएँ भली–भाँति कार्य न कर सके और उनके मार्ग में व्यवधान उत्पन्न किए जाएँ तो देश के सामान्य जन को भयंकर असुविधाओं का सामना करना पड़ सकता है।

इसी कारण से संविधान ने अनुच्छेद 256 एवं 257 के अनुसार सार्वजनिक व्यवस्था एवं शान्ति बनाए रखने के लिए केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार दिया है कि वह इस सम्बन्ध में राज्यों को आवश्यक निर्देश दे सके। यदि कोई राज्य सरकार केन्द्रीय सरकार के निर्देशों का पालन न करे तो यह समझा जायगा कि उस राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा रहा है और तब अनुच्छेद 356 के अनुसार राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है।

सशस्त्र सेनाओं के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार के पास केन्द्रीय रिजर्व पुलिस (C.R.P.) है जिसका गठन 1949 के अधिनियम के अन्तर्गत किया गया था। प्रारम्भ में इसमें एक बटालियन थी और आज इसमें लगभग एक सौ बटालियन हैं। केन्द्रीय सरकार की भूमिका कतिपय विषम परिस्थितियों में महत्वपूर्ण बन जाती है जबकि राज्यों में हड़ताल, बन्द, घेराव और अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह एक विचारणीय प्रश्न है कि जब राज्य की सीमा के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार की सम्पत्ति की सुरक्षा राज्य सरकारें न कर सके तो केन्द्रीय सरकार क्या करे? केन्द्रीय सरकार के निर्देशों के बावजूद यदि राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार के औद्योगिक प्रतिष्ठानों की सुरक्षा न कर सके तो क्या केन्द्रीय सरकार को अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत आपात स्थिति की घोषणा कर देनी चाहिए? जब राष्ट्रीय से की रक्षा के लिए केन्द्रीय सरकार ने केन्द्रीय रिजर्व पुलिस (C.R.P.) राज्यों में तैनात किया तो केरल, पश्चिमी बंगाल और तमिलनाडु की गैर सरकारों ने केन्द्र की इस शक्ति पर आपत्ति उठाई और इससे केन्द्र तथा राज्यों के सम्बन्धों में कटुता आई।

18 सितम्बर, 1968 को केन्द्रीय कर्मचारियों की हड़ताल का सामना करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने राज्यों को एक अध्यादेश द्वारा वांछित आदेश प्रदान किए, परन्तु श्री नाम्बूद्रीपाद के नेतृत्व में केरल की संयुक्त मोर्चा सरकार ने केन्द्र को अपेक्षित सहयोग प्रदान नहीं किया। इतना ही नहीं, केरल सरकार ने केन्द्रीय सरकार के आदेशों की भावना के विपरीत आचरण भी किया। मुख्यमन्त्री नाम्बुद्रीपाद ने केन्द्रीय अध्यादेश को संविधान विरोधी और श्रमिक विरोधी कहकर उसे मानने से इन्कार कर दिया। ऐसी गम्भीर स्थिति में जब राज्य में केन्द्रीय रिजर्व पुलिस तैनात की गई तो केन्द्र–राज्य संघर्ष को उग्रतम रूप उभरने लगा। नाम्बूद्रीपाद ने आरोप लगाया कि राज्य में केन्द्रीय रिजर्व पुलिस का आगमन राज्य के आन्तरिक मामलों में सरासर हस्तक्षेप है।

10 अप्रैल, 1969 के दिन पश्चिमी बंगाल में अव्यवस्था और अराजकता को दृश्य उपस्थित हुआ। सत्तारूढ़ संयुक्त मोर्चा सरकार ने राज्यव्यापी बन्द का आयोजन किया था क्योंकि काशीपुर कारखाने में केन्द्रीय रिजर्व पुलिस द्वारा गोली चलाने से कतिपय श्रमिकों की मृत्यु हो गई थी। इससे पूर्व 1968 में ही पश्चिमी बंगाल के दार्जिलिंग और नक्सलवादी क्षेत्रों में होने वाले उपद्रवों से चिन्तित होकर केन्द्रीय सरकार ने उपद्रव–ग्रस्त क्षेत्रों में हथियार रखने पर प्रतिबन्ध लगा दिया, जिसे पश्चिमी बंगाल के तात्कालिक उप–मुख्यमन्त्री ज्योति बसु ने राज्य के मामलों में केन्द्रीय हस्तक्षेप कहा।

केरल और पश्चिमी बंगाल की संयुक्त मोर्चा सरकारों की अनुत्तरदायित्व पूर्ण नीति और राज्य पुलिस के घिरे हुए मनोबल को देखते हुए केन्द्रीय सरकार ने केन्द्रीय औद्योगिक प्रतिष्ठानों की रक्षा के लिए केन्द्रीय रिजर्व पुलिस को तैनात किया। दोनों ही राज्य सरकारों ने केन्द्र पर आरोप लगाया कि केन्द्रीय सरकार केन्द्रीय रिजर्व पुलिस के माध्यम से उनका दमन करना चाहती है।

दिसम्बर 1971 में तमिलनाडु के सिम्पसन औद्योगिक प्रतिष्ठान में हुई हड़ताल से केन्द्र और तमिलनाडु के बीच नया विवाद उठ खड़ा हुआ। सिम्पसन औद्योगिकसंस्थान में हड़ताल होने से युद्ध के आपातकालीन दौर में उत्पादन बन्द हो गया। केन्द्रीय मन्त्री श्री सुब्रह्मण्यम, मोहनकुमार मंगलम, तथा खाडिलकर बादि समस्या के समाधान के लिए उत्सुक दिखाई दिये तो तमिलनाडु के मुख्यमन्त्री ने आरोप लगाया कि केन्द्र राज्यों के मामलों में अनुचित हस्तक्षेप कर रहा है।[15]

वस्तुतः केन्द्र का यह संविधानिक अधिकार है कि वह कानून और व्यवस्था को बनाए रखने के लिए, सार्वजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए, केन्द्रीय प्रतिष्ठानों में रक्षा के लिए केन्द्रीय रिजर्व पुलिस राज्यों में तैनात करे। किन्तु वे राज्य सारे जो केन्द्र में सत्तारूढ़ दल से मेल नहीं खातीं, इसे राज्य के आन्तरिक मामलों में अनुचित हस्तक्षेप कहकर केन्द्र–राज्य संघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर देती हैं।[16]

(ii) अन्तर्राज्यीय विवाद—भारतीय संघ के घटक राज्यों में छोटी-मोटी समस्याओं को लेकर के प्रारम्भ से ही विवाद रहे हैं। यद्यपि इन विवादों में केन्द्रीय सरकार एक पक्ष तो नहीं रही है किन्तु कभी–कभी उसे मध्यस्थ अथवा पंच(Arbitrator)की भूमिका अदा करनी होती है और इसी भूमिका के कारण केन्द्र राज्य तनाव उत्पन्न हो जाता है। ऐसे मामलों का सम्बन्ध अन्तर्राज्यीय सीमा विवाद, अन्तर्राज्यीय नदी–पानी विवाद, भाषा नीति, भारी औद्योगिक प्रतिष्ठानों की स्थापना से रहा है।

अन्तर्राज्यीय सीमा विवाद—अन्तर्राज्यीय सीमा विवादों का सम्बन्ध उन विवादों से है, जिनका निराकरण राज्य पुनर्गठन के समय नहीं हो पाया था। इन विवादों का आज तक बने रहना यह इंगित करता है कि भारत की केन्द्रीय सरकार सीमा विवादों का समाधान करने में असफल रही है। संविधान के अनुसार राज्यों की सीमा में परिवर्तन करने की शक्ति केन्द्रीय सरकार में निहित है अतः इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार पर ही राज्यों का दबाव पड़ता रहता है।

इस समय राज्यों में सीमा सम्बन्धी तीन प्रमुख विवाद हैं–(1) कर्नाटक–महाराष्ट्र विवाद (बेलगाँव के प्रश्न पर) (2) पंजाब–हरियाणा विवाद (चण्डीगढ़ के प्रश्न पर) और (3) आसाम नागालैण्ड विवाद।[17]

आसाम–नागालैण्ड विवाद तो एक बार इतना उग्र हो गया कि दोनों राज्यों ने अपनी सीमाओं पर अपनी–अपनी सशस्त्र पुलिस तैनात कर दी। कर्नाटक-महाराष्ट्र विवाद का ही यदि संक्षेप में विश्लेषण किया जाए तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दोनों ही राज्यों ने केन्द्रीय सरकार पर जबरदस्त दबाव डालकर उसे 'अनिर्णय' की स्थिति में छोड़ दिया। केन्द्रीय सरकार ने महाराष्ट्र, मैसूर (कर्नाटक) सीमा विवाद के हल के लिए महाजन कमीशन (Mahajan Commission) की नियुक्ति की। महाराष्ट्र सरकार ने इसका समर्थन किया जबकि कर्नाटक सरकार ने इसका विरोध किया। कमीशन का प्रतिवेदन कर्नाटक के पक्ष में था, इसलिए कर्नाटक केन्द्र पर दबाव डालने लगा कि महाजन कमीशन के प्रतिवेदन क्रियान्वित किया जाय। इसके विपरीत महाराष्ट्र ने इसके क्रियान्वयन का विरोध किया। राजनीतिक कारणों से केन्द्र के लिए महाजन कमीशन के प्रतिवेदन को लागू करना कठिन हो गया और मामला यों ही अधर में लटकता रहा।

अन्तर्राज्यीय नदी–पानी विवाद—अन्तर्राज्यीय नदी-पानी विवाद संविधान से भी पुराने हैं। संविधान निर्माता इन विवादों से परिचित थे और इसीलिए उन्होंने संविधान में अनुच्छेद 262 का प्रावधान किया, जिसके तहत संसद को यह अधिकार दिया गया है कि वह अन्तर्राज्यीय नदी-पानी विवादों के समाधान हेतु भारत में केन्द्र-राज्य सम्बन्ध निर्माण कर सके। इस संदर्भ में भारतीय संसद ने सन् 1956 में अन्तर्राज्यीय पानी विवाद अधिनियम (The Inter&state Water DisputesAct, 1956) पारित किया।

कृष्णा–गोदावरी, कावेरी, नर्मदा, रावी–ब्यास, माही आदि नदियों के पानी के बँटवारे को लेकर केन्द्रीय सरकार को राज्यों के झगड़ों में फँसना पड़ा। कावेरी जल के उपयोग के प्रश्न पर तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश और कर्नाटक के विवाद ने केन्द्र–राज्य सम्बन्धों को विषम बना दिया। गैर–कांग्रेसी सरकारें हमेशा यही राग अलापती रहीं कि केन्द्र सरकार कांग्रेसी सरकारों का पक्ष लेती है।[18]

(iii) राज्य सूची के विषयों पर केन्द्रीय हस्तक्षेप—राज्यों द्वारा यह भी शिकायत की गई है कि केन्द्र उद्योग, व्यापार एवं वाणिज्य जैसे विषयों पर कानून बनाने लग गया है जबकि ये विषय राज्य–सूची में उल्लिखित हैं। सन् 1951 में संसद ने उद्योग, विकास एवं नियन्त्रण अधिनियम पारित किया, जिसमें उन उद्योगों का उल्लेख किया गया जिनको

जनहित में केन्द्र द्वारा नियन्त्रित करना आवश्यक था। धीरे–धीरे अनेक उद्योगों को इस अधिनियम के अन्तर्गत ले लिया गया।

इस प्रकार राज्य सूची में वर्णित 24, 26 तथा 27 संख्या वाले विषयों पर केन्द्र का अधिकार स्थापित हो गया। ये ही नहीं रेजर पत्ती, कागज, गोंद, माचिस, साबुन विषयों पर भी केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण स्थापित हो गया। राज्यों के नेताओं का कहना है कि इस प्रकार के अत्यधिक केन्द्रीयकरण से राज्यों का आर्थिक विकास अवरुद्ध हो रहा है।[19]

(iv) आवश्यक वस्तुओं पर केन्द्रीय नियन्त्रण—दैनिक उपयोग की आवश्यक वस्तु जैसे शक्कर, केरोसीन, चावल, वनस्पति आदि केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में आ गये हैं। अनेक राज्य सरकारों का कहना है कि केन्द्रीय सरकार इन वस्तुओं के वितरण में राजनीतिक लक्ष्यों को ध्यान में रखती है। चौथे आम चुनाव के बाद गैर–कांग्रेसी राज्यों को अनाज, चावल, शक्कर आदि का अधिक कोटा लेने के लिए प्रदर्शनों का आयोजन करना पड़ा था। केरल की साम्यवादी सरकार ने तो अधिक खाद्य–सामग्री प्राप्त करने के लिए केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध हड़ताल का भी आयोजन किया था। ऐसी हरकतों से निश्चित ही केन्द्र–राज्य सम्बन्ध तनावपूर्ण बन जाते हैं।

(v) भाषा विवाद—भाषा विवाद का सम्बन्ध केन्द्र–राज्य सम्बन्धों से उतना नहीं है जितना हिन्दी भाषी और गैर–हिन्दी भाषी राज्यों के बीच इस होड़ से है कि केन्द्रीय प्रशासन में किसे अधिकतम लाभ अर्जित हों। भाषायी राज्यों के निर्माण से लोगों में अपने–अपने राज्यों के प्रति प्रबल भावात्मक सम्बन्ध अनुप्रेरित हुए और संघ व्यवस्था में राज्य प्रबल शक्ति के रूप में उभरे। भाषायी भावनाओं से केन्द्र सरकार पर राज्यों का दबाव बढ़ने लगा और वे शिकायत करने लगे कि केन्द्रीय सरकार को उनके प्रति व्यवहार अच्छा नहीं।

भाषायी राज्यों के निर्माण से लोग यह सोचने को मजबूर हुए कि उनके राज्य में विद्यमान केन्द्रीय औद्योगिक प्रतिष्ठान अथवा शिक्षण संस्थान उनकी ही बपौती है। उदाहरणार्थ, तमिलनाडु के लोग सोचने लगे कि पेराम्बूर का डिब्बे बनाने का कारखाना उनका अपना है और पाश्चिम। बंगाल के लोगों में यह भावना बढ़ने लगी कि चित्तरंजन का इंजन बनाने का कार खाना उनका अपना ही है इससे लोगों में यह आकांक्षा उत्पन्न हुई कि इन केन्द्रीय प्रतिष्ठानों के कर्मचारियों की भर्ती 'धरती के पुत्र' (Son of the soil) सिद्धान्त के आधार पर ही होनी चाहिए।[21]

भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन से राज्यों के भीतर भाषागत अल्प संख्यकों और अल्पसंख्यक सम्प्रदायों की समस्या पैदा हुई। रजनी कोठारी के अनुसार औसतन राज्य में 18 प्रतिशत लोग ऐसे हैं, जिनकी मातृभाषा राज्य की भाषा से भिन्न है। केरल में यह संख्या केवल 5 प्रतिशत है तो कर्नाटक में 35 प्रतिशत और असम में 44 प्रतिशत। जहाँ शासन और उद्योग व्यापार में इस प्रकार के बाहरी लोगों की प्रधानता होती है, वहाँ इससे काफी असन्तोष होता है और इन लोगों को शोषक समझा जाता है। जैसे महाराष्ट्र में गुजराती और दक्षिणियों को, असम व उड़ीसा में बंगालियों को और बंगाल में मारवाड़ियों को। कई राज्यों व प्रदेशों में भाषायी अल्पसंख्यकों के साथ मारपीट एवं हिंसा का व्यवहार हुआ और बहुसंख्यक सम्प्रदाय ने माँग की कि केवल 'धरती के पुत्र को ही' अर्थात केवल उन्हीं लोगों को जो प्रादेशिक भाषा बोलते हैं, सरकारी व गैर–सरकारी पदों पर नियुक्त किया जाना चाहिए। महाराष्ट्र में शिवसेना ने केरल एवं कर्नाटकवासियों को इसलिए तंग किया कि उनकी भाषा मलयालम और कन्नड़ थी।

जब केन्द्रीय संसद ने राजभाषा अधिनियम, 1963 पारित किया और हिन्दी को भारतीय संघ की सरकारी भाषा बना दिया तो दक्षिणी राज्यों द्वारा बहुत विरोध प्रकट किया गया। द्रविड़ मुनेत्र कणगम की केन्द्रीय परिषद ने 10 जून, 1963 को घोषित किया कि वह राजभाषा विधेयक के विरुद्ध 'सीधी कार्रवाई का आन्दोलन करेगी और हिन्दी के साम्राज्यवाद' को आगे नहीं बढ़ने देगी। संविधान के 17वें भाग की प्रतियाँ, जिसमें राजभाषा सम्बन्धी प्रावधान हैं, उनकी खुलेआम आलोचना की गई और केन्द्रीय सरकार के मद्रास स्थित कार्यालयों पर धरने दिए गए। दक्षिण के एक अन्य राज्य आन्ध्र प्रदेश में भी राजभाषा विधेयक के प्रति बड़ी कटुता विद्यमान थी। राज्य में अनेक स्थानों पर विरोध सभाएँ और प्रदर्शन हुए। इसका प्रभाव कर्नाटक, केरल तथा पाण्डिचेरी के संघीय प्रदेश में भी हुआ। 11 फरवरी, 1965 को कलकत्ता में छात्रों ने उन पर हिन्दी थोपने के प्रति विरोध प्रकट किया।

इस प्रकार हिन्दी को 'राज भाषा' बनाने की मंशा से केन्द्र-राज्य मतभेद उग्र रूप से उभरकर सामने आए। सरकार की भाषा नीति से हिन्दी भाषी और गैर-हिन्दी भाषी राज्यों में बड़ा रोष फैला।

(vi) भारी औद्योगिक प्रतिष्ठानों की स्थापना का मसला—सभी राज्य चाहते हैं कि केन्द्रीय सरकार उनकी सीमा में औद्योगिक प्रतिष्ठान अथवा सार्वजनिक प्रतिष्ठान स्थापित करे। यदि केन्द्रीय सरकार किसी राज्य में मूलभूत उद्योग जैसे इस्पात का कारखाना,

बिजली के भारी सामान बनाने का कारखाना, रासयनिक खाद बनाने का कारखाना स्थापित करती है तो इससे बहुमुखी लाभ होते हैं राज्य का आर्थिक विकास होता है, लोगों को रोजगार मिलता है और अन्य सम्बद्ध व्यवसाय पनपते हैं।[1] इन्हीं लाभों के वशीभूत होकर सभी राज्य सरकारें केन्द्र पर दबाव डालती हैं, अपने दावे पेश करती हैं कि अमुक औद्योगिक प्रतिष्ठान उनके राज्य को ही मिलना चाहिए।

राज्य सरकारें इन माँगों को संगठित रूप से हड़तालों, प्रदर्शनों, जुलूसों, बन्द आदि के माध्यमों से पेश करती रहती हैं। सन् 1955 में आन्ध्र प्रदेश में इस बात को लेकर बड़े पैमाने पर आन्दोलन हुआ कि पाँचवाँ इस्पात कारखाना विशाखापट्टनम में स्थापित किया जाए। मैसूर और तमिलनाडु ने भी इसी कारखाने की माँग प्रस्तुत की। इसी प्रकार आसाम ने माँग की कि तेलशोधक संयन्त्र की स्थापना उसी की सीमा में होनी चाहिए। उड़ीसा और केरल में जहाज बनाने के कारखाने स्थापित करने की प्रतिद्वन्द्विता, आन्ध्र और राजस्थान में ताँबा और जस्ता निकालने का संयन्त्र बनाने की प्रतिद्वन्द्विता प्रधान रही है।

ऐसा कहा जाता है कि केन्द्र द्वारा राज्य विशेष में औद्योगिक प्रतिष्ठान स्थापित करने का मुख्य आधार उसकी राजनीतिक प्रभाव डालने की क्षमता और 'लाबिइंग' की प्रभावशाली शैली है। यदि केन्द्रीय परियोजना निर्मित करने का यही मापदण्ड रहा तो केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में तनाव बढ़ते जाएँगे। जिन राज्यों को केन्द्रीय परियोजना प्राप्त नहीं होगी, वे उसके विरोधी बन जाएँगे और केन्द्रीय सरकार के विरोध में हड़ताल, प्रदर्शन, बन्द आदि के माध्यमों से अपना रोष प्रकट करेंगे।

गो रक्षा विषय पर मतभेद—आचार्य विनोबा भावे के आमरण अनशन (अप्रैल 1979) के बाद केन्द्रीय सरकार ने गोरक्षा के विषय को संविधान की राज्यसूची से समवर्ती सूची में डालने के बारे में संविधान संशोधन करने का इरादा प्रकट किया। पश्चिमी बंगाल की मार्क्सवादी सरकार और केरल की साम्यवादी सरकार ने इस इरादे का विरोध करने की घोषणा की। इसे राज्य के अधिकार क्षेत्र को परिसीमित करना कहा गया।[2]

3.वित्तीय और योजना सम्बन्धी विषय—संघीय शासन व्यवस्था में केन्द्र और राज्यों के मध्य वित्तीय और योजना सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर मतभेद होना स्वाभाविक है। 1967 के चुनावों के बाद भारत में केन्द्र तथा राज्यों के बीच निम्नलिखित वित्तीय और योजना सम्वन्धी विषयों को लेकर विवाद उभरे है –(i) वित्तीय संसाधनों के वितरण की प्रचलित व्यवस्था;(ii) आर्थिक नियोजन अम्बन्ध में मतभेद; (iii) अन्तर्राज्यीय व्यापार।

(i) वित्तीय संसाधनों के तिरथ को प्रचलन व्यवस्था—वर्तमान में वित्तआयोग और योजना आयोग द्वारा वित्तीय संसाधनों के वितरण की प्रचलित व्यवस्था से अधिकांश राज्य सन्तुष्ट नहीं हैं। प्रचलित व्यवस्था में करों से प्राप्त होने वाली आय का प्रधान भाग केंद्रीय कोष में जाता है और अपनी विकास सम्बन्धि दायित्वों की वृद्धि के बावजूद भी राज्यों की आय के स्त्रोत अत्यन्त अल्प रखे गये हैं। इसके परिणामस्वरूप राज्यों की योजनाओं की सफलता बहुत कुछ केन्द्रीय अनुदान पर ही निर्भर हो जाती है। 1967 के बाद राज्यों की यह शिकायत रही कि केन्द्र सरकार उन राज्यों को अधिक मदद देती है जहां उनकी सरकारें है। योजना आयोग के माध्यम से भीकेन्द्र राज्यों पर न केवल नियंत्रण रखता है बल्कि भेदभाव भी बरतता है।

इसके अतिरिक्त राज्यों को दिए जाने वाले अनुदान एवं सहायता बहुत ही कम है और वे अपने बढ़ते हुए दायित्वों का निर्वाह करने में असमर्थ हैं। राज्यों की योजना की आकृति (size) तय करने का कोई निश्चित मानदण्ड नहीं और वे राज्य जिनकी आय के स्त्रोत ज्यादा हैं, महत्वकांक्षी योजनाओं का निर्माण कर लेते हैं। जिससे राज्यों की आय में विषमता बढ़ती है। केन्द्रीय सरकार आये दिन अपने कर्मचारियों के महँगाई–भत्तों में वृद्धि करती रहती है जिसका प्रतिकूल प्रभाव राज्यों के कोष पर पड़ता है, और उन्हें भी अपने कर्मचारियों के भत्तों में वृद्धि करनी पड़ जाती है। राज्यों को दिए जाने वाले कतिपय अनुदान केन्द्रीय सरकार की स्वविवेकी शक्ति के अन्तर्गत आते हैं और राज्यों को बराबर यह शिकायत रही है कि केन्द्रीय सरकार इन अनुदानों का वितरण करते समय पक्षपातपूर्ण आचरण करती है।[23]

(ii) आर्थिक नियोजन के सम्बन्ध में मतभेद—योजना आयोग की भूमिका को लेकर भी केन्द्र-राज्य विवादों में वृद्धि हुई है। अशोक चन्दा का तो मत है। योजना आयोग ने संवाद को निरस्त कर दिया है। योजना आयोग सम्पूर्ण देश की योजना के लिये कुछ आधारभूत विषय निश्चित करता है। चूंकि प्रत्येक राज्य की समस्याएँ अलग–अलग हैं इसलिए उनकी मूल समस्याओं का निराकरण नहीं हो पाता है। योजना प्रारूप का अन्तिम निर्णय तो केन्द्रीय संसद के हाथो में है। योजनाओं के सम्बन्ध में केन्द्र की कार्यपालिका वास्तव में निर्णय लेती है और कार्यान्वित राज्य की कार्यपालिकाओं को करना होता है। योजना आयोग के सामने राज्य एक परकटे पक्षी को भाँति है। राज्यों के पास अपने योजना बोर्ड नहीं हैं, जो कि राज्यों को योजनाओं को तकनीकी दृष्टि से निश्चित कर सकें।

अब राज्यों में केन्द्रीय सरकार और योजना आयोग का विरोध करने को प्रवृत्ति उभर रही है। सन् 1969 में पहली बार कुछ राज्यों ने चतुर्थ योजना के प्रारूप को औपचारिक रूप से अस्वीकृति प्रदान की। पश्चिमी बंगाल तथा केरल के मुख्यमन्त्री और दिल्ली के मुख्य कार्यकारी पार्षद ने योजना को उसी रूप में स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। राज्यों के मुख्यमन्त्रियों ने केन्द्र से राज्यों की आय के स्रोतों को भी बढ़ाने की बात कही। यह भी माँग की जा रही है कि योजना आयोग के कार्यों को सीमित किया जाना चाहिए तथा जो अनुदान दिए जाएँ वे सशर्त नहीं होने चाहिए।

(iii) अन्तर्राज्यीय व्यापार—संविधान के अनुसार अन्तर्राज्यीय व्यापार का नियमन करने की शक्ति केन्द्रीय सरकार में निहित है। केन्द्रीय सरकार राष्ट्रीय और स्थानीय राज्यों के हितों में समन्वय स्थापित करने के लिए कभी–कभी हस्तक्षेप करती है। इस केन्द्रीय हस्तक्षेप से कतिपय राज्य नाराज होते हैं और केन्द्र–राज्य मतभेद उभरता है। उदाहरण के लिए, खाद्य नीति को लिया जा सकता है जो कि राज्य सूची का विषय है और केन्द्रीय हस्तक्षेप से पंजाब ने अपनी लगातार नाराजगी प्रकट की। सन् 1969 में केन्द्रीय शासन ने गेहूँ के सम्बन्ध में प्रचलित 'एक राज्य क्षेत्र' (Single State Zones for wheat) नीति का परित्याग कर 'आठ राज्यों का क्षेत्र घोषित किया तो पंजाब ने इसे पसन्द नहीं किया।[24]

निष्कर्षतः, भारतीय संघ के कुछ राज्यों ने तो समय–समय पर केन्द्र को डटकर विरोध करना अपनी नीति ही बना लिया था। चतुर्थ आम चुनाव के बाद केरल, पश्चिमी बंगाल और तमिलनाडु की गैर–कांग्रेसी सरकारों ने केन्द्र का लगातार उग्र विरोध करते हुए अपनी असफलताओं को छिपाने का प्रयास किया। तमिलनाडु की द्रमुक सरकार की नीति केन्द्र सरकार के त्रिभाषा फार्मूले को रद्द करने, राज्य में एन. सी. सी. को विघटित करने, राज्य के अलग ध्वज की माँग करने, केन्द्रीय मन्त्रालयों के हिन्दी नाम के विरोध करने, कावेरी जल विवाद में केन्द्र को सर्वोच्च न्यायालय में प्रतिवादी बनाने, दूसरे राज्यों को भी अधिक स्वायत्तता की माँग के लिए उकसाने की रही। ऐसा कहा जाता है कि जब भी डी. एम. के. के नेता संकट में होते, राज्य के आक्रोश को केन्द्र के विरोध हेतु मोड़ देते।[25]

केन्द्र–राज्य सम्बन्धों को कटु बनाने वाली महत्वपूर्ण घटनाएं

मार्च–अप्रैल 1969 में केन्द्रीय सरकार और अजय मुखर्जी के नेतृत्व वाले पश्चिमी बंगाल मन्त्रिमण्डल के सम्बन्धों में राज्यपाल धर्मवीर द्वारा विधान मण्डल में दिये गए अभिभाषण के कारण तनाव पैदा हो गया। राज्यपाल धर्मवीर ने राज्य मन्त्रिमण्डल द्वारा तैयार किए गए अभिभाषण के कतिपय अंशों को विधानसभा में नहीं पढ़ा। संयुक्त मोर्चा

सरकार ने राज्यपाल को तुरन्त हटाने की माँग की, क्योंकि श्री धर्मवीर से सरकार के सम्बन्ध बिगड़ चुके थे। केन्द्रीय सरकार ने इस माँग को अस्वीकार कर दिया, जिससे सम्बन्धों में कटुता आ गई।

केन्द्र–राज्य सम्बन्धों को कटु बनाने वाली कतिपय महत्वपूर्ण घटनाएँ इस प्रकार हैं—

(1) सन् 1967 में केरल सरकार ने कहा था कि केरल को पर्याप्त अनाज नहीं भेज रहा है। मुख्यमन्त्री नाम्बूद्रीपाद ने यहां तक कहा कि यदि केन्द्र राज्य की आवश्यकता पूरी नहीं करेगा तो उसे चीन से भी अनाज मंगवाना पड़ सकता है। उन्होंने केरल द्वारा अर्जित विदेशी मुद्रा की भी मांग की।[26]

(2) मार्च–अप्रैल 1969 में केन्द्रीय सरकार और अजय मुखर्जी के नेतृत्व वाले पश्चिमी बंगाल मन्त्रिमण्डल के सम्बन्थों में राज्यपाल धर्मवीर द्वारा विधान मण्डल में दिए गए अभिभाषण के कारण तनाव पैदा हो गया। राज्यपाल धर्मवार ने राज्य मन्त्रिमण्डल द्वारा तैयार किए गए अभिभाषण के कतिपया अंशों को विधान सभा में नहीं पड़ा। संयुक्त मोर्चा सरकार ने राज्यपाल को तुरन्त हटाने की माँग की, क्योंकि श्री धर्मवीर से सरकार के सम्बन्ध बिगड़ चुके थे। केन्द्रीय सरकार ने इस माँग को अस्वीकार कर दिया, जिसमें सम्बन्धों में कटुता आ गई।।

(3) कर्नाटक के मुख्यमन्त्री वीरेन्द्र पाटिल ने नवम्बर 1970 में यह शिकायत की कि केन्द्र द्वारा गैर–कांग्रेसी मुख्यमन्त्रियों का अपमान किया जाता है। केन्द्रीय मन्त्रियों को राज्य सरकारों द्वारा पूर्ण सम्मान दिया जाता है, पर राज्यों के मन्त्रियों को नई दिल्ली में समुचित आदर प्रदान नहीं किया जाता।

(4) उड़ीसा के मुख्यमन्त्री आर. एन. सिंह देव ने केन्द्र से निवेदन किया कि इस्पात का कारखाना उन्हीं के राज्य में स्थापित किया जाना चाहिए और यदि केन्द्र ऐसा नहीं करता है तो वे जन आन्दोलन का सहारा लेंगे। उन्होंने आरोप लगाया कि केन्द्र का उड़ीसा के प्रति रवैया कट्टर, विरोधी एवं उदासीनता पूर्ण है।

(5) केन्द्रीय रिजर्व पुलिस को लेकर राज्य सरकारों ने केन्द्र का कई बार विरोध किया। 1968 में केरल सरकार ने केन्द्रीय रिजर्व पुलिस का डटकर विरोध किया। उस वर्ष 19 सितम्बर को देशभर के केन्द्रीय सरकारी कर्मचारी हड़ताल पर थे और अनेक स्थानों पर स्थिति ने हिंसक रूप ले लिया था। केरल सरकार को सूचना दिए बिना ही केरल स्थित

केन्द्रीय सरकार के कार्यालय की रक्षा के लिए केन्द्रीय गृहमन्त्री ने सी. आर. पी. की बटालियन भेज दी। मुख्यमन्त्री नाम्बूद्रीपाद ने केन्द्र की इस कार्यवाही के प्रति रोष प्रकट किया।

(6) 8 अप्रैल, 1969 को पश्चिमी बंगाल की काशीपुर बन्दूक व कारतूस फैक्टरी के प्रतिरक्षा कर्मचारियों ने श्रमिकों की एक हिंसक भीड़ को हटाने के लिए गोली चलाई जिसके परिणामस्वरूपः पाँच व्यक्ति मारे गए। केन्द्रीय सरकार ने गोली चलाने सम्बन्धी तथ्यों एवं परिस्थितियों की जाँच करने के लिए एक आयोग की नियुक्ति की घोषणा की। किन्तु राज्य के उपमुख्यमन्त्री ज्योति बसु ने राज्य सरकार से परामर्श किए बिना आयोग की नियुक्ति के प्रति रोष प्रकट किया। उन्होंने कहा कि शायद पश्चिमी बंगाल सरकार जाँच आयोग से सहयोग न करे।

(7) 19 अप्रैल, 1971 को नाम्बूद्रीपाद ने कहा कि यदि राज्यों को अधिकतम स्वायत्तता प्रदान नहीं की गई तो भारत में भी बांग्लादेश की कहानी दोहराई जाने की पूर्ण सम्भावना हो सकती है।

(8) पंजाब के तात्कालिक मुख्यमन्त्री गुरनामसिंह ने अपने राज्य में सी.आर. पी. की नियुक्ति पर आपत्ति की और कहा कि राज्य सरकार के प्राधिकार के बिना उन टुकड़ियों को कोई कार्यवाही नहीं करनी चाहिए।

(9) अप्रैल 1979 में केन्द्रीय सरकार ने गो–रक्षा के विषय को संविधान के राज्य सूची से समवर्ती सूची में डालने की मंशा प्रकट की। केरल और पश्चिमी बंगाल की सरकारों ने इसका विरोध करने का निश्चय किया।

(10) पश्चिमी बंगाल के वित्त मन्त्री डॉ. अशोक मित्र ने कहा कि केन्द्र सरकार ने यदि करों के समुचित बँटवारे के प्रश्न का जल्दी समाधान न किया तो राज्य सरकार अदालत में मुकदमा दायर करेगी। डॉ. मित्र ने पत्रकारों को बताया कि कच्ची तम्बाकू, चीनी तथा कपड़ों पर एकत्र करों के बँटवारे के प्रश्न पर अनेक स्मरण–पत्र भेजने के बावजूद केन्द्र ने अपना वायदा पूरा नहीं किया। उन्होंने कहा कि कुछ वर्ष पूर्व उक्त मदों पर एकत्र करों को राज्य सरकार ने स्वेच्छा से केन्द्र को दे दिया था। यदि मामला वार्ता से न सुलझा तो राज्य सरकार उच्चतम न्यायालय में मुकदमा दायर करेगी।[28]

(11) सन् 1979 में मुख्यमन्त्रियों के दो दिन के सम्मेलन (नई दिल्ली) में केन्द्र के वित्तीय साधनों के बँटवारे के सवाल पर विवाद ने उग्र रूप धारण कर लिया। झगड़ा इतना

बढ़ गया है इसका पता इसी तथ्य से लग जाता है कि पश्चिम बंगाल के मुख्यमन्त्री श्री ज्योति बसु ने इस मामले को सर्वोच्च न्यायालय के सामने ले जाने का निश्चय प्रकट किया।

केन्द्र–राज्य मतभेदों को दूर करने के उपाय

सन् 1971 के पंचम लोकसभा के निर्वाचन के पश्चात् केन्द्र–राज्य मतभेदों का विवाद सुषुप्त–सा हो गया जबकि 1977 के षष्ठम लोकसभा चुनावों के पश्चात् विवादों का सिलसिला पुनः जाग्रत होने लगा। 1971 के चुनावों के बाद राज्यों की राजनीति पर कांग्रेस दल और केन्द्रीय नेतृत्व को प्रभावशाली वर्चस्व स्थापित हुआ जबकि 1977 के बाद राज्यों की राजनीति पर जनता पार्टी और उसके केन्द्रीय नेतृत्व का प्रभावशाली वर्चस्व स्थापित नहीं हो सका। 1989–90 के चुनावों के बाद भी केन्द्र और राज्यों में राजनीतिक चित्र कुछ–कुछ इसी प्रकार का है। इससे यह सिद्ध होता है कि यदि केन्द्र में दुर्बल सरकार होती है तो राज्य केन्द्र विरोध करते है और कभी शक्तिशाली सरकार केन्द्र में होती है तो वे उसकी बात को स्वीकार कर लेते है। यदि केन्द्र और राज्यों में भिन्न–भिन्न दलों की सरकारें होती है तो विरोध के प्रबल स्वर मुखरित होते हैं और यदि दोनों जगह एक ही वर्ग की सरकारें होती है तो मधुर सम्बन्धों के युग का सूत्रपात होता है। किन्तु यह आवश्यक नही कि सदैव ही राज्यों और केन्द्र में एक ही दल की सरकार कायम रहे (मार्च 1977 तथा नवम्बर 1989 के बाद केन्द्र और राज्यों में एक ही सरकार नही हैं) अतः भविष्य में मतभेदों के निवारण हेतु कतिपय सुझाव दिये जा सकते हैं।

(1) राज्यपालों की नियुक्ति करते समय सम्बन्धित राज्य के मुख्यमन्त्री से परामर्श अवश्यकिया जाना चाहिए क्योंकि राज्यपाल को केन्द्र और राज्य के मध्य कड़ी के रूप में कार्य करना है।

(2) अखिल भारतीय सेवाएँ केन्द्र और राज्यों के बीच तनाव उत्पन्न न कर सके, इसके लिए उनकी सेवा शर्तों में संशोधन किया जाना चाहिए और राज्य सरकारों पर प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित किया जाना चाहिए। राज्य सूची में वर्णित विषयों हेतु नई अखिल भारतीय सेवाओं के गठन का कोई औचित्य दिखाई नहीं देता।

(3) केन्द्रीयकरण की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोकने के लिए राज्यों के और अधिक अधिकारों की माँग कर रहे हैं; राज्यों के दायित्व निरन्तर बढ़ते जा रहे है। कल्याणकारी और विकास सम्बन्धी योजनाओं का क्रियान्वयन करना होता है। उनकी आय के स्रोत बहुत

कम है। ऐसी स्थिति में संविधान का निरीक्षण होना चाहिए और उन्हें आर्थिक एवं वित्तीय मामलों में स्वायत्तता प्रदान की जानी चाहिए।

(4) कानून और व्यवस्था जैसे विषय को समवर्ती सूची का विषय बना दिया जाना चाहिए ताकि राज्य सरकारें सी. आर. पी. की टुकड़ियों के प्रवर्तन पर आपत्ति न कर सकें।

(5) वित्त आयोग को स्थायी निकाय बना देना चाहिए। योजना एवं गैर–योजना सम्बन्धी सभी खर्चो के सम्बन्ध में सिफारिश देने का अधिकार वित आयोग को सौपा जाना चाहिए।

(6) योजना आयोग में केन्द्रीय सरकार के मन्त्रियों का वर्चस्व है, अतः उसे स्वायत्तशासी निकाय बनाना उचित होगा।

(7) संविधान के अनुच्छेद 263 के अनुसार अन्तर्राज्यीय परिषद्' (Inter state Council) की स्थापना की जानी चाहिए। केन्द्र द्वारा राज्यों को निर्देश देने हेतु पूरी अन्तर्राज्यीय परिषद् से परामर्श लेना चाहिए।

(8) अनुच्छेद 356 का प्रयोग बहुत कम अवसरों पर तथा अत्यावश्यक मामलों में ही अन्तिम उपाय के रूप में उस समय किया जाना चाहिए, जब अन्य उपलब्ध सभी विकल्पों से राज्य में संविधानिक तन्त्र को भंग होने से रोका न जा सके या उसमें कोई सुधार न किया जा सके।[32]

(9) केन्द्र सरकार को राज्य सरकार द्वारा किये गये अनुरोध से भिन्न सिविल शक्ति की सहायतार्थ राज्य में सशस्त्र बलों तथा अन्य बलों को परिनियोजित करने अथवा राज्य में "उपद्रवग्रस्त क्षेत्र घोषित करने से पहले यह वांछनीय है कि जहां कहीं भी सम्भव हो राज्य सरकार से परामर्श किया जाय और उसकी सहयोग प्राप्त किया जाय, क्योंकि राज्य सरकार से पूर्व परामर्श करना अनिवार्य नहीं है।[33]

उल्लेखनीय है कि 1967 के बाद जो दलीय परिदृश्य उत्पन्न हुआ उससे राज्यों में अस्थिरता बढ़ती गयी और पूर्व में जो संघर्ष केवल कॉग्रेस का अन्दरूनी संघर्ष माना जाता था उसमें परिवर्तन आ गया, छोटे–छोटे दलों की भरमार हो गयी और नये–नये गठबन्धन सामने आने लगे। 1977 से केन्द्र में भी स्थिति बदल गई और गठबन्धनों सहभागी छोटे दल भी अपने राज्य के लिए विशेष दर्जा दिये जाने या विशेष पैकेज एवं आर्थिक क्षेत्र में अधिक स्वायत्तता की मांग करने लगे। एक तरह से सौदेबाजी वाली स्थिति को बढ़ावा मिलने लगा

और केन्द्र राज्यों के मध्य जो भी हुआ उसमें सौदेबाजी वाला प्रतिमान उभरा यह गठबन्धन के भागीदारों में भी था और केन्द्र राज्यों के मध्य भी देखने आया। यह अभी भी दिखायी भी पड़ता है। ऐसे स्थिति में केन्द्र राज्यों के सम्बन्धों के तनाव तथा स्वायत्तता की मांग को लेकर निम्न निष्कर्ष महत्वपूर्ण हैं—

(1) केन्द्र जो एक दलीय प्रभुत्व के कारण केन्द्र की शक्तिशाली तथा प्रभुत्वपूर्ण स्थिति का अन्त हो गया।

(2) क्षेत्रीय दलों की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाने से अब केन्द्र सरकार राज्यों के बारे में कोई भी निर्णय लेने के पूर्व गंभीरता से विचार करना पड़ता है।

(3) केन्द्र को आतंकवाद पृथकवाद, विघटनवाद तथा अराजक तत्वों की गंभीर चुनौति का सामना करना पड़ रहा है।

(4) विपक्षी दलों की राज्य सरकारों तथा केन्द्र सरकार में निम्न स्तरीय आरोप–प्रत्यारोप की राजनीति की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है।

(5) 'भूमि पुत्र' की अवधारणा का सहारा लेकर अधिक स्वायत्तता की मांग की जा रही है।

(6) Smaller is the best का नारा उठाकर स्वायत्तता के नाम पर नवीन राज्यों के गठन की मांग उभरती नजर आती है।

सारांश में यही कहा जा सकता है कि भारत में केन्द्र राज्य सम्बन्ध और स्वायत्तता की मांग नूतन परिवेश में विकसित हो रहे हैं।[34]

सन्दर्भ–सूची

1. सी. एस. पण्डित, ''सेन्टर–स्टेट टेन्शन्स,'' इण्डियन एस्सप्रेस, 30 मार्च, 1969.
2. इकबाल नारायन, ट्वीलाइट और डॉन–पालिटिकल चेन्ज इन इण्ड़िया (1967–71), (शिवलाल अग्रवाल, आगरा, 1972), पृ. 92–93.
3. मार्क्स एफ. फ्राण्डा, वेस्ट बंगाल एण्ड दि फेडरालाइजिंग प्रोसेस इन इण्डिया (प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1968) इस घटना का विस्तार से वर्णन किया गया है।
4. इकबाल नाराय, उपर्युक्त, पृ. 93,
5. चतुर्थ आम चुनावों के फलस्वरूप लोकसभा में कांग्रेस दल का संख्या बल काफी घट गया लोकसभा में उसका बहुमत 1962 के 361 स्थानों से सरकारें बनी।
6. इकबाल नारायन; उपर्युक्त, पृ. 94.।
7. राज्यसभा डिबेट्स, वाल्यूम 47, नवम्बर 21, मार्च 17, 1969, कालम 4265.
8. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, मार्च 23, 1969, पृ. 1.
9. वही, नवम्बर 11, 1967, पृ. 1.
10. टाइम्स ऑफ इण्डिया, अगस्त 19, 1967, पृ. 1.
11. लोकसभा डिबेट्स, वाल्यूम 1, नवम्बर 11–0, मार्च 19, 1967 कॉलम 219,
12. कुलदीप नय्यर, जजमेण्ट, (विकास, 1977), पृ. 121.
13. बी. एल. माहेश्वरी, सेण्टर–स्टेट रिलेशन्स इन सेवण्टीज (मिनर्वा कलकत्ता, 1973), पृ. 34.
14. इकबाल नारायण, उपर्युक्त, पृ. 103–104.
15. धर्म चन्द जैन, ''भारतीय संघ में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों का उभरता स्वरूप'' लोकतन्त्र समीक्षा (संविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली). अक्टूबर–दिसम्बर 1974, पृ. 527.
16. बी. एल. माहेश्वरी, उपर्युक्त, पृ. 31–32.
17. वही, पृ. 22–23.
18. वही, पृ. 19–21.
19. डी. सी. गुप्ता, ''भारतीय शासन व्यवस्था एवं राजनीतिक विकास' (नई दिल्ली, 1977), पृ. 100.
20. के. संथानाम, 'यूनियन–स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया' (एशिया, बम्बई, 1960), पृ. 68.
21. राम के. वेया, चेन्ज एण्ड चैलेन्ज इन इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन (मनोहर, नई दिल्ली, 1978), पृ., 219–220.

22. नवभारत टाइम्स (नई दिल्ली), 29 अप्रैल 1979, पृ. 1.
23. बी. एल. माहेश्वरी, उपर्युक्त, पृ. 40.
24. वही, पृ. 63–64.
25. बाबूलाल फड़िया, "भारतीय सरकार एवं राजनीति (सरस्वती सदन, नई दिल्ली, 1978), पृ. 121.
26. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 19 मई, 1957, पृ. 14.
27. वही, 30 नवम्बर, 1970, पृ. 7.
28. नवभारत टाइम्स, 14 मई, 1979, पृ. 1.
29. वही, 23 मई, 1979, पृ. 4.
30. अशोक कुमार सेन, रोल ऑफ गवर्नर्स इन दि इमर्जिंग पैटर्न ऑफ सेण्टर–स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया (नेशनल, दिल्ली, 1975), पृ. 13–14
31. के. के. दास, यूनियन–स्टेट रिलेशन्स : एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ ला एण्ड आर्डर'' इण्डियन जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, जुलाई–विस्तार, 1971, पृ. 333–40.
32. केन्द्र–राज्य सम्बन्ध आयोग रिपोर्ट, भाग–1 (1988), पृ. 166.
33. उपर्युक्त, पृ. 191.
34. चदृढ़ा पी. के – भारतीय राजनीतिक व्यवस्था यूनिवर्सिटी बुक हाउस जयपुर 2001 पृ. 100–101

अध्याय–सप्तम्

उपसंहार
(Conclusion)

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध–भारतीय संघीय व्यवस्था में राज्यों की सभ्यता (केन्द्र राज्यों सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में एक अध्ययन) के उपसंहार पर आते–आते ऐसा स्पष्ट होता है कि इस शोध प्रबन्ध की कई परते हैं जैसे– भारतीय संविधान की प्रकृति है। भारतीय संघीय व्यवस्था की प्रकृति, केन्द्र राज्य संबंधों की स्थिति एवं भारतीय संघीय व्यवस्था में स्वायत्तता की भूमिका। यदि संविधान पर गौर करें तो स्पष्ट है कि हमारा संविधान दुनिया के अन्य संविधानों से कुछ अवधारणाए लिये जाने के बावजूद एक मौलिक दस्तावेज है। (it is a written document, our own constitution अर्थात् यह लिखित और हमारा अपना संविधान है जिसमें राज्य के तीनों अंगो व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की स्थिति एवं शक्तियों को स्पष्ट किया गया है। यह केवल राज्य के अंगो का सृजन ही नहीं करता अपितु उनके प्राधिकार को परिसिमित करते हुए इन्हें निरंकुश एवं तानाशाह होने से रोकता भी है। ये ही देश की सर्वोच्च एवं सर्वोत्तम विधि है, यह राज्य के अंगो को मर्यादित कर उन्हें निरंकुश एवं तानाशाह होने से रोकता है, यह सरकार के सभी अंगो की कार्य प्रणाली के सिद्धान्तों को विनिश्चित करता है, यह सम्प्रभु शक्तियों का प्रयोग करता है, इसे आसानी से नहीं बदला जा सकता है। उल्लेखनीय है कि इसके मूलभूत ढांचे में कोई संशोधन नहीं किया जा सकता है। ये ही संविधान देश की जनता की आशाओं एवं आकांक्षाओं का पुंज है।

इसका उद्देश्य भी यही है कि सरकार के सभी अंग नागरिक संविधान की मर्यादाओं में रहकर अपने कर्त्तव्य और दायित्वों का निर्वहन करें। यह भी उल्लेखनीय है कि संविधान में अनेक प्रशासनिक ऐजेन्सियों का भी उल्लेख किया गया है जो स्वायत्तता या अर्द्ध स्वायत संस्थाओं के रूप में काम करती है।

जैसे– निर्वाचन आयोग, लोक सेवा आयोग, नियंत्रक एवं महालेखा परिक्षक, हालांकि यह संविधान लम्बा और विस्तृत है परन्तु यह हमारे लिए गर्व की बात है कि यह विश्व का सबसे विशाल संविधान है।

चूंकि भारत में संघ प्रणाली को अपनाया है जिसमें यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि संस्थापक प्रणाली की सभी विशेषताओं को इसमें स्वीकार नहीं किया गया

है भारतीय संविधान का बहिरंग संघात्मक है और अन्तरंग एकात्मक है। संविधन में भारत को राज्यों का संघ कहा गया है। (Union of states) और संविधान में कहीं भी संघ (fedaration) शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है संघ के स्थान पर राज्यों का संघ शब्द के प्रयोग का स्पष्टीकरण देते हुए डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने दो कारण स्पष्ट किएः एक तो भारतीय संघ एककू (राज्यों में हुए समझौते या परिणाम नहीं है) और दूसरे, एककू को संघ से पृथक होने का अधिकार नहीं है। इसकी स्थापना पहले से चली आ रही है एक राष्ट्रीय इकाई की उन विविध इकाईयों से हुई है जिन्हें यद्यपि निर्धारित क्षेत्र में स्वायत्तता प्राप्त है। (इसी कारण स्वायत्तता को समझकर ही केन्द्र राज्य संबन्धों को ठीक से समझा जा सकता है अतः इस शोध का मूल प्रश्न स्वायत्तता और केन्द्र राज्य संबंधों की प्रकृति को समझना ही है) तथापि जो संघ की अपृथककरणीय इकाईयां है संघ शब्द के छोडकर Union शब्द का प्रयोग क्यू किया गया, इसे स्पष्ट करते हुए संविधान प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. अम्बेडकर ने संविधान सभा में कहा था कि प्रारूप समिति के द्वारा इस (संघ) शब्द का प्रयोग यह स्पष्ट करने के लिये किया गया है कि भारत यद्यपि एक संघ राज्य है तथापि यह संघ राज्य (Union of States) राज्यों के किसी समझौते का परिणाम नहीं है तथा संघ राज्य समझौते का परिणाम ना होने के कारण किसी भी राज्य को संघ से अलग होने का अधिकार नहीं है इस प्रकार स्पष्ट होता है कि संविधान द्वारा एक अक्षुण्न संघ की स्थापना की गई।

केन्द्र राज्य संबंधों वाली परत पर विचार करे तो यह स्पष्ट होता है कि संविधान के भाग–11, 12, एवं 13 में जिन प्रशासनिक विधायी वित्तीय और न्यायिक संबंधों को स्वीकार किया गया है उनमें केन्द्र को अधिक शक्तियां प्रदान करते हुए उसे शक्तिशाली बनाया गया है और इसी कारण निरन्तर राज्य स्वायत्तता की मांग उठती रही है और इसी कारण यह विषय आरम्भ से ही वाद–विवाद का विषय रहा है संविधान लागू होने के बाद भी भारतीय संविधान की संघीयता को संदेह की दृष्टि से देखा जाता रहा है और राज्य सरकारों की सीमित शक्तियों को दृष्टि में रखते हुए कुछ संविधान शास्त्री इसे एक संघीय संविधान स्वीकार करने को तैयार नहीं है एवं स्वायत्तता की निरन्तर उठती मांग का समर्थन करते हैं।

केन्द्र राज्य संबंधों पर विभिन्न समितियों और आयोगों के प्रतिवेदन के आधार पर निरन्तर राज्य स्वायत्तता पर बल दिया गया है और यह स्वीकार किया गया है कि इससे भारतीय संघ के विघटन का खतरा नही है। केन्द्र के पक्ष में बढ़ता वातावरण और शक्तियां

मजबूर करती है कि स्वायत्तता का ध्यान रखते हुए केन्द्रीकरण की बढ़ती प्रवृति को उलटना होगा जो कई वर्षों से देश में चलती हुई दिखाई दे रही है। इस दिशा में राज्यों को स्वायत्तता देना एक अनिवार्य उपाय दिखाई देता है। ऐसा करने से राज्यों से स्थानीय संस्थाओं की तरफ अधिकार, कार्य तथा संसाधन अन्तरित करने के लिए दबाव निरन्तर बढ़ता हुआ नजर आ रहा है।

इसका सारांश यह है कि भारतीय लोकतंत्र में निरन्तर जान डालने के लिये इसे बुनयादी स्तर पर मजबूत किया जावे और जहां तक संभव हो केन्द्र के अनावश्यक नियंत्रण से मुक्त रखा जाये।

वास्तविकता यह है कि भारत के संविधान में संघात्मकता के कुछ लक्षण तो दिखाई देते हैं जैसे– संविधान की सर्वोच्चता, संविधान का लिखित होना, कठोर और अनम्य संविधान, स्वतंत्र सर्वोच्च न्यायपालिका, दोहरी शासन व्यवस्था, शक्तियों का बंटवारा, दोहरी नागरिकता (जो भारत में नहीं है), संघीय व्यवस्थापिका के ऊपरी सदन में राज्यों का समान प्रतिनिधित्व जो भारत में नहीं है), संविधान संशोधन में संघ की इकाईयों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान (कुछ सीमा तक भारत में संविधान संशोधन में इकाईयों का इतना महत्वपूर्ण स्थान नहीं है) अवशिष्ट शक्तियां राज्यों के पास होना (यह व्यवस्था भी भारत में नहीं है) अतः निष्कर्ष यही है कि भारत में संघ व्यवस्था की सभी विशेषताएं नहीं है इसलिए इसके आदर्श संघ होने पर निरन्तर प्रश्न चिन्ह भी लगाये जाते रहे हैं। हाँ यह निश्चित है कि यहा भी दोहरे शासन का अस्तित्व है तथा विषयों का बंटवारा भी किया गया है। इस दृष्टि से यह स्वीकार किया जा सकता है कि अन्य संघों की तरह भारतीय संघात्मक व्यवस्था का भी मूलभूत लक्षण दोहरी शासन व्यवस्था का अस्तित्व है। जिसके अन्तर्गत केन्द्र राज्यों को अपना संस्थागत तथा प्रक्रियागत ढांचा होता है।

इसी मूलभूत स्थिति को स्वीकार करते हुए केन्द्र राज्य संबंधों और स्वायत्तता का व्यापक अध्ययन किया गया है। जिसमें केन्द्र की स्थिति मजबूत है और राज्यों की स्थिति उतनी सुदृढ और मजबूत नहीं है इससे राज्यों के शासन संचालन पर, विधि निर्माण पर वित्तीय व्यवस्था पर और न्यायिक व्यवस्था पर केन्द्र का नियंत्रण और हस्तक्षेप दिखाई देता है जिसके कारण स्थापना और अनावश्यक नियंत्रण हटाने के निरन्तर प्रयास किये गये हैं।

शोध प्रबन्ध के इस अन्तिम अध्याय में उक्त पृष्ठभूमि में ही अध्ययन और विश्लेषण के आधार पर ही कुछ निष्कर्षों पर पहुंचने का प्रयास किया गया है और भावी दिशा–संकेत देने का भी प्रयास किया गया है।

इसी क्रम में भारतीय संविधान, भारत की संघात्मक संरचना प्रणाली तथा उसके कारण भारतीय संघ में केन्द्र राज्यों संबंधों के मध्य तनाव और खिंचाव के कारणों को स्पष्ट करते हुए स्वायत्तता की मांग और भूमिका का उल्लेख किया गया है।

भारतीय संघ, संघ निर्माण की दो तरह कि व्यवस्थाओं का समिश्रण है क्योंकि उस समय इस संघ में हमें ना केवल स्वतंत्र देशी रियासतों को लाना था, वरन् इसके साथ प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया को भी लाना था जो राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण संभव हो रही थी एवं जिसके कारण भारत सरकार अधिनियम 1935 लाया गया उसकी व्यवस्था में तालमेल बिठाना भी आवश्यक था।

अतः प्रश्न यह तो था ही नहीं कि हमें संघ बनाना है या नहीं, प्रश्न तो संविधान निर्माताओं के सामने यह था कि यह संघ किस प्रकार का हो और इसे अस्तित्व में कैसे लायें।

09 दिसम्बर, 1946 को जब संविधान सभा को जब संविधान सभा की पहली बैठक हुई तो देश की स्थिति अति भयावह थी देशी रियासतों के शासक ना केवल शंकालू थे वरन् संघ में शामिल होने की उनकी इच्छा भी बनावटी नहीं थी। मुस्लिम बहुल प्रान्त इसके विरूद्ध थे कुछ प्रान्त अधिक से अधिक स्वायत्तता की चाह रखते थे और 1946 से लेकर पाकिस्तान के गठन ने स्थिति को बद् से बद्त्तर बना दिया था।

अतः यह इस शोध प्रबन्ध के माध्यम से यह स्पष्ट रूप से विश्लेषित किया गया है कि स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान किसी प्रकार के संघ के निर्माण का प्रस्ताव या प्रयास था और अन्ततः किस प्रकार के संघ का निर्माण किया गया। अनेक बार तो ये ही लगता है कि हमने जिस प्रकार स्वयं के कानून और स्वशासन तथा स्वायत्तता की कल्पना की थी वह फलीभूत नहीं है और इसलिए इस दिशा में अभी भी अनेक समस्याएं अपने हल के लिए भारतीय राजनीति के पूरे वातावरण में घूम रही है।

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान ब्रिटिश हुकुमत बार–बार कह रही थी कि ज्यों–ज्यों भारतीय स्वशासन के योग्य होते जायेंगे त्यों–त्यों शासन की जिम्मेदारी वे भारतीय को सौंपते जायेंगे।

समय के साथ–साथ ब्रिटिश सरकार ना केवल शक्ति का विकेन्द्रीकरण करने का प्रयास कर रही थी वरन् देशी रियासतों और ब्रिटिश प्रान्तों को मिलाकर अखिल भारतीय संघ के निर्माण की भी रूपरेखा तैयार कर रही थी।

इसी प्रकार की अनुशंसा मोन्टेयू–चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में की गई, अन्तः दिसम्बर, 1917 की उद्घोषणा के अनुसार कार्य करने के लिए भारतीय संघ का निर्माण ही एक मात्र उपाय था। साइमन कमीशन की रिपोर्ट जिसे अखिल भारतीय संघ की स्थापना ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं लगती थी तो भी उससे हर बात पर जो दिया कि ब्रिटिश प्रान्तों को मिलाकर संघ का निर्माण किया जाये और देशी रियासतों के बाद में जब भी चाहे संघ में शामिल हो सकती हैं।

1930 के गोलमेज सम्मेलन में भी देशी रियासतों के साथ अखिल भारतीय स्थापना का सार्थक प्रयास हुआ। देशी रियासतें तैयार भी हो गई अंग्रेजों का यह प्रयास शायद इसलिए था कि इस प्रावधान के कारण उनका शासन कुछ और लम्बा खिंच सकता था क्योंकि देशी रियासतों के शासक ऐसे प्रावधानों के कारण भारतीय स्वतंत्रता के लिए तैयार नहीं होने और वे स्वतंत्र भारत के शासकों के समय अपनी स्वायत्तता और स्वतंत्रता समर्पित करना नहीं चाहेंगे।

इस स्थिति को सुलझाने का जो अन्तिम परिणाम सामने आया वह था 1935 का भारत सरकार अधिनियम, इसमें जो कुछ भी निर्धारित हुआ उसके आधार पर राजनीति शास्त्र के विद्धानों ने 1935 के अधिनियम की व्यवस्था को अर्द्ध–संघात्मक कहा, चूंकि भारतीय संविधान में 1935 के अधिनियम की मजबूत छांया दिखई देती है। इसलिए भारतीय संविधान को भी अर्द्ध संघात्मक संविधान की संज्ञा दी गई जिसमें प्रदेशों के लिए स्वतंत्रता की मांग स्वाभाविक है।

इस अखिल भारतीय संघ में उस समय के सभी ब्रिटिश शासित प्रान्तों के साथ देशी–रियासतों को भी शामिल होना था। शासन के शीर्ष पर ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि गर्वनर जनरल होते, द्विसघात्मक सदन होता, उच्च सदन (The council of state) में 260 सदस्य होते जिसमें 104 सीटें देशी रियासतों के लिए आरक्षित होती, जबकि निम्न सदन (The Federal Assembly) में 375 सदस्य होते जिसमें 125 सदस्य देशी रियासतों की जनसंख्या पर आधारित होते।

प्रान्तों से जुड़ी व्यवस्थाए 1 अप्रेल, 1937 को क्रियान्वित कर दी गई इस प्रकार 1935 के अधिनियम के तहत 11 प्रान्तों में प्रान्तीय स्वायत्तता लागू कर दी गई, सत्ता का स्वाद स्थानीय नेताओं ने भी रखा यह कुल भारतीय क्षेत्र का 55% हिस्सा था और इसमें 74% आबादी थी। प्रान्तीय स्वायत्तता ही कुछ चीफ कमिश्नर, शासित प्रान्तों में भी लागू किया गया। जबकि केन्द्र से जुड़ी व्यवस्थाएं व्यवहार में लागू नहीं कराई जा सकी।

राष्ट्र जिस प्रकार की सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं का सामना 1935 में कर रहा था, लगभग वे ही समस्याए 1946 में केबिनेट मिशन के सामने थी। केबिनेट मिशन निश्चित रूपेण विभाजन के पक्ष में नहीं था उसका तर्क था विभाजन जहां देश की सुरक्षा को खतरे में डाल देगा वही साम्प्रदायिक समस्या का निदान भी नहीं कर पायेगा। उल्लेखनीय है कि विभाजन, उसके बाद स्थापन ओर आज तक भारत व पाकिस्ता में घट रही घटनाए केबिनेट मिशन के भय को सस्त सिद्ध कर रही है।

केबिनेट मिशन ने संविधान निर्माण के लिए संविधान सभा का प्रावधान किया, मुस्लीम लीग ने ना–नुकर के बाद संविधान सभा के चुनाव में भाग लिया परन्तु कांग्रेस के प्रचण्ड बहुमत से डर कर मुस्लिम लीग ने संविधान सभा का बहिष्कार कर दिया । अतः देश का विभाजन हुआ। सरहद के दोनों और भंयकर रक्तपात हुआ, शरणार्थीयों की संख्या लाखो में थी। बर्बरता का वातावरण था और इसी प्रकार के वातावरण में संविधान का निर्माण करना था।

ऐसी स्थिति में यह तो निश्चित था कि भारत में संघ का निर्माण होगा। लेकिन संघ का चरित्र कैसा होगा यह महत्वपूर्ण था। यहां यह आवश्यक जान पड़ता है जैसे कि शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्यय में स्पष्ट भी किया गया है कि संघवाद का शास्त्रीय चरित्र क्या है तो ये ही पदबंद सामने आते हैं – अर्द्धसंघात्मक, संघात्मक, एकात्मक या संघात्मक और एकात्मक प्रणालीयों का समिश्रण।

अमेरिका को संघीय प्रणाली की अवधारणा का जन्मदाता कहा जा सकता है यदि दोहरे शासन की स्थापना (केन्द्र और राज्य सरकार) संघ का प्रमुख लक्ष्ण है तो शास्त्रीय विश्लेषण संघ शासन के लिए सीमित सरकार, उच्च संघ में सभी छोटे बड़े राज्यों का समान प्रतिनिधित्व कार्य लिया, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका का एक दूसरे को स्वतंत्र अस्तित्व न्यायिक पूर्वालोकन की शक्ति दोहरी नागरिकता और राजनेतिक दलों की उपिस्थति आदि जैसे लक्षणों की दुहाई देती है।

जैसा की पूर्व में भी संकेत दिया है भारत में दोहरी शासन व्यवस्था है। राज्यों की अपनी सरकारें हैं और केन्द्र की अपनी केन्द्रीय सरकार है परन्तु भारत अमेरिका अर्थो में शास्त्रीय संघात्मक प्रणाली नहीं है। अत्यन्त संभलकर यह लिखा है कि यदि एकात्मक सरकार या एकात्मक प्रभावी भारत में कभी नहीं रही, फिर भी ध्यान देने योग्य बात है कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद (1) के अनुसार ''भारत अर्थात INDIA राज्यों का UNION होगा''।

राष्ट्रीय सरकार के लिए संविधान निर्माताओं ने UNION शब्द का प्रयोग किया कहीं–कहीं मात्र Fedration प्रयोग छलावा सा ही सिद्ध होता है जैसे पूर्ववर्ती सोवियत संघ का संविधान अपनी शासन प्रणाली के लिए Federation शब्द का प्रयोग करता था लेकिन किसी भी अर्थ में संघात्मक नहीं था क्योंकि अन्तः शक्ति सरकारों में ना होकर केन्द्रीकृत कम्यूनिस्ट दल में निहित थी जो कम्यूनिस्ट आदर्शों पर आधारित था।

भारत का संविधान निर्मित हो रहा था तब तत्कालीन उद्देश्य देश की एकता और अखण्डता की रक्षा करना था। संविधान सभा में प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने कहा था कि यद्यपि संविधान को केन्द्र और परिधि पर परिसंघात्मक बनाने का प्रयास किया गया है किन्तु समिति ने UNION शब्द का प्रयोग दो लाभों को दृष्टि पर रखकर किया है।

प्रथम यह कि भारत का परिसंघ इकाईयों के बीच किसी करार के परिणाम स्वरूप नहीं था और दूसरा किसी घटक इकाईयों को संघ से प्रथक होने का अधिकार नहीं होगा।

बाद में सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट कर दिया था कि ना तो राज्यों को संघ से अगल होने का अधिकार होगा और ना ही सम्प्रभुता का। इसी शोध प्रबन्ध में पूर्व के अध्याय द्वितीय में स्पष्ट कर दिया गया है कि संविधान की और संघीय व्यवस्था की प्रकृति स्वतंत्रता की ओर सम्प्रभुता की नहीं है अर्थात राज्य ना तो स्वतंत्र है ना ही सम्प्रभु, तो यह तो साफ था कि भारतीय परिसंघ का निर्माण तो होगा लेकिन मजबूत केन्द्र में साथ, इसलिए कई विद्वानों ने स्वीकार किया है कि भारतीय संविधान की आत्मा एकात्मक ही है। इसी कारण यह प्रश्न बार–बार उठा है और उठ सकता है कि आखिर इतना मजबूत केन्द्र क्यों?

जैसा कि संविधान और शासन में रूचि रखने वाले सभी नागरिक जानते हैं कि कांग्रेस हमेंशा से मबजूत केन्द्र के पक्ष में हिन्दुओं द्वारा अल्पसंख्यकों पर अस्तित्व के डर से केबिनेट मिशन ने संविधान सभा का यह सुझाव दिया था कि प्रान्तों को अधिक से अधिक अधिकार दिये जाये (स्वायत्तता प्रदान की जाये) लेकिन पाकिस्तान के अस्तित्व में आ जाने के बाद संविधान सभा में ऐसे सदस्यों की संख्या अधिक थी जो मजबूत केन्द्र के पक्षधर थे। इसलिए डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने संविधान सभा में कहा कि मैं मजबूत केन्द्र का पक्षधर हूँ। उससे कही ज्यादा मजबूत केन्द्र जो भारत सरकार अधिनियम 1935 की व्यवस्था में था।

के.एम. मुंशी ने संविधान सभा में एतिहासिक तथ्यों का हवाला देते हुए कहा कि भारत के इतिहास में स्वर्णिम समय वह था जब केन्द्र मजबूत था और दुःखद तब जब केन्द्र को कमजोर कर दिया गया। उन्होनें संविधान सभा के सदस्यों से अनुरोध किया कि वे केन्द्र को कमजोर करने वाली गलती ना दोहरायें।

यहां यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि शाक्तिशाली केन्द्र या मजबूत केन्द्र इसलिये आवश्यक था कि देशी रियासतों को भारत में कैसे मिलाया जाये। देशी रियासतों में कुछ राजा अधिक स्वायत्तता की मांग कर रहे थे तो कुछ ऐसे थे जो स्वतंत्र ही रहना चाहते थे। सब जानते हैं कि हैदराबाद ने तो अपनी स्वतंत्रता घोषित भी कर दी थी।

ऐसी प्रष्ठभूमि में भारतीय संविधान में भारीय संघ की स्थापना की गई, परन्तु भारत की संघात्मक व्यवस्था को परिभाषित करना आसान नहीं है। क्योंकि संघ जिस शब्द से बनता है उस शब्द का भारत में प्रयोग ही नहीं किया गया। इसलिए ये ही कहना उचित लगता है कि भारत को यदि संघात्मक लक्षणों वाली व्यवस्था मानते हैं तो यह संघ अनेक विचित्रताएं लिए हुए है।

इसलिए यह भी माना जाता है कि प्रत्येक राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियां अलग–अलग होती है। इसलिए एक देश का संविधान दूसरे देश के संविधान की प्रतिछाया नहीं हो सकता। इसलिए यह संकल्पना मात्र नहीं है या संस्थाओं पर आधारित संकल्पना नहीं है बल्कि कृत्यों पर आधारित संकल्पना है। इसलिए डीडी बसु ने स्वीकार किया है कि संविधान निर्माण के क्षेत्र में जो आधुनिक प्रयोग हो रहे हैं उनमें से ना तो कोई संविधान शुद्ध रूप से एकिक है और ना ही परिसंघीय। प्रो. बेगनर ने भी माना है कि कोई राज्य परिसंघीय है या एकिक, यह प्रश्न परिसंघ के गुणों की गीनती का है और इसका उत्तर इस पर आधारित है कि उसमें परिसंघ के कितने लक्षण है।

सुभाष कश्यप ने भी स्वीकार किया है कि भारत का संघवाद संघात्मक लक्षणों से युक्त तो है परन्तु एकात्मक लक्ष्णों की भरमार है और कुछ लक्षण ऐसे हैं जो अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, स्वीट्रलैण्ड आदि में पाये जाते हैं। वैसे भारत में नही है इसलिए भारत का संविधान एकात्मक संविधान जैसा लगता है। हाँ यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि भारत का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति इन राज्यों से भिन्न है। इसलिए के.सी. व्हीयर ने भी स्वीकार किया है कि भारत एक ऐसे संघीय राज्य की अपेक्षा जिसमें एकात्मक तत्व गौण हो, एक ऐसा एकात्मक राज्य है जिससे संघीय तत्व गौण है। यह सब भारतीय

संघ के केन्द्र राज्य संबंधों जैसे प्रशासनिक विधायी, वित्तीय, न्यायिक आदि व्यवस्थाओं में स्पष्ट रूप से चिन्हित किया गया है और यह भी कि स्वायत्तता के लिए विभिन्न समितियों आयोगों की रिपोटर्स के आधार पर क्या किया जाना आवश्यक है। इसलिए इस स्तर पर शोधार्थी का स्पष्ट निष्कर्ष है कि भारतीय संघीय व्यवस्था में संघात्मक और एकात्मक तत्वों का समन्वय किया गया है। जिसके कारण कभी स्वायत्तता की मांग बढ़ जाती है तो कभी सहयोग की तो कभी सौदेबाजी की मांग बढ़ जाती है।

स्वीकृत संवैधानिक व्यवस्थाओं के अतिरिक्त भारत की संघात्मक प्रकृति को अनेक अन्य तत्वों ने प्रभावित किया है जिसमें दलीय स्थति, प्रधानमंत्री के व्यक्तित्व का स्तर, योजना आयोग या (वर्तमान में नीति आयोग), राष्ट्र विकास परिषद, मुख्यमंत्रीयों पर भ्रष्ट आचरण के आरोप और जाँच में केन्द्रीय ऐजेन्सी की भूमिका, ये सभी स्थितियां व्यवहारिक राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर करती है और भारतीय संघ के स्वरूप को प्रभावित करती है। इसलिए भारत की राजनीतिक परिस्थितियों के साथ इसके संघ के स्वरूप में परिवर्तन आता रहा है और स्वायत्तता की मांग बढ़ती–घटती रही है। राजनीतिक तथ्यों के बदलते परिप्रेक्ष्य में भारत की संघ व्यवस्था को विद्वानों ने अनेक प्रकार से चिन्हित किया है, जैसे–

1. **केन्द्रीकृत संघवाद का युग** (जो प्रायः 1950 से 1967 तक के काल के संबंध में माना जाता है)

2. **सहकारी संघवाद का युगः** विशेषकर चतुर्थ आम चुनावों के बाद संघ नव राज्यों के पारस्परिक संवैधानिक संबंधों के विषय में मतभेद कभी उग्र रूप में उभरकर सामने आये। अब नेहरू जैसा व्यक्ति भी नहीं रहा था। कांग्रेस दल के और अन्य दलों के मुख्यमंत्री अपनी केन्द्र विरोधी भावना बुलंद करने लगे थे, उधर 1969 में कांग्रेस दल का विभाजन हो गया, जिसके कारण लोकसभा में शासक दल अल्पमत में आ गया जिससे अनेक बार केन्द्रीय नेतृत्व को राज्य की मांगों के आगे झुकना पड़ा। जब तक 1971, 1972 में श्रीमती इंदिरा गांधी के नेतृत्व में लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के चुनाव नहीं हुए तब तक ये ही स्थिति बनी रही।

3. **एकात्मक संघवाद का युगः** इसका कालांश 1971–1976 का माना जाता है क्योंकि इस दौरान श्रीमती इंदिरा गांधी पुनः ऐसी मजबूत स्थिति में रही कि केन्द्र व राज्यों संबंध निर्णय उसी में से होकर निकलते थे। शायद लोग यह विश्वास करने लगे थे कि कांग्रेस दल ही जनता का नेतृत्व कर सकता है। इसमें शक्ति का संतुलन जो पूर्व में राज्यों

की ओर झुका हुआ नजर आ रहा था केन्द्र की ओर झुक गया। 1975 में आपातकाल की घोषणा हुई और लोकसभा का कार्यकाल 1 वर्ष बढ़ाये जाने के बाद तो मार्च 1977 तक भारतीय संघ एकात्मक राज्य में परिवर्तित हो गया। अर्थात समुचित शक्तियां केन्द्रीय सरकार के हाथों में आ गई और राज्यों के मुख्यमंत्रियों की स्थिति केन्द्रीय सरकार के सुबेदारों जैसी हो गयी।

4. सौदेबाजी की संघ व्यवस्थाः जिसे उस दौर में केवल 2 वर्ष का ही समय मिला अर्थात 1977 में जो छठे आम चुनाव हुए उनमें भारतीय राजनीति में एक बढ़ा परिवर्तन आया, वह यह था कि सत्ता के सर्वोच्च स्तर दिल्ली से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को बाहर का रास्ता दिखा दिया और जनता पार्टी की सरकार बनी, उ.प्र., बिहार, म.प्र., दिल्ली, उड़ीसा, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश आदि में जनता पार्टी की सरकारें बनी। पंजाब में अकाली दल, पश्चिमी बंगाल में मार्क्सवादी दल तथा तमिलनाडु और पांडीचेरी में अन्ना द्रुमुक, कश्मीर में नेशनल कांफ्रेंस, केरल में मार्क्सवादी दल वाला मोर्चा आदी की सरकारें बनी, चूंकि उस समय केन्द्र की सरकार एक दुर्बल सरकार ही थी क्योंकि यह विभिन्न समतुल्य ही थी। अतः राज्यों की सरकारों ने सौदेबाजी करने का अनवृत प्रयास किया यहां तक की कतिपय जनता पार्टी राज्य सरकारों ने भी राज्य स्वायत्तता का नारा बुलंद किया।

5. पुनः एकात्मक संघवाद : जनता पार्टी की सरकार में जून–जुलाई 1979 में ही तरह–तरह मतभेद पैदा होने लगे और परिणाम यह हुआ कि राजनारायण और चौधरी चरण सिंह ने मोरारजी देसाई सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया। चरण सिंह को कार्यवाहक प्रधानमंत्री बनाया और कांग्रेस ने यह उम्मीद बंधायी कि जब लोकसभा में बहुमत सिद्ध करने का वक्त आयेगा तब कांग्रेस दल चरण सिंह का समर्थन करेगा परन्तु चौधरी चरण सिंह का यह सपना कभी पूरा न हो सका क्योंकि कुछ दिन बाद ही कांग्रेस ने स्पष्ट कर दिया कि चौधरी चरण सिंह का बहुमत साबित करने में कांग्रेस कोई सहयोग नहीं करेगी।

अतः तत्कालीन राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी को कार्यवाही प्रधानमंत्री चौधरी चरण सिंह की अनुशंसा पर अपनी अन्तर आत्मा की आवाज को प्राथमिकता देते हुए लोकसभा भंग करनी पड़ी। जनवरी 1980 में होने वाले चुनाव में श्रीमती इंदिरा गांधी का प्रमुख नारा यह था कि ''चुनिये उन्हें जो सरकार चला सकें''। यह नारा अत्यन्त लोकप्रिय हुआ और श्रीमती इंदिरा गांधी दो तिहाई बहुमत से चुनाव जीतकर पुनः प्रधानमंत्री बनी चूंकि इस दौरान पंजाब और कुछ दूसरे राज्यों में विभाजन वाली पृवतियां अपना सिर उठा रही थी।

अतः पुनः श्रीमती इंदिरा गांधी ने शक्तियों के एकीकरण का रूख अपनाया जिसके कारण उनके कार्यकाल के बीच में ही उनकी निर्मम हत्या भी हुई और उसके बाद राजीव गांधी ने आठवीं लोकसभा चुनाव में जनता का भारी विश्वास मत प्राप्त किया और एकात्मक संघवाद की स्थिति को अपना लिया (हालांकि उनके कार्यकाल के अंतिम वर्ष में स्थितियां बदलने लगी थी और विभिन्न राज्यों में जो चुनाव परिणाम आये उससे भिन्न प्रकार की स्थितियां ही उजागर हुई)

1989 में राजीव गांधी के सत्ता से हटने के बाद मिली–जुली सरकारों का युग निरन्तर चला (केवल नरसिंह राव सरकार के काल को छोडकर यह कालांश जो 1989 से प्रारम्भ हुआ उसमें भारतीय संघवाद की एक नयी प्रवृति परिलक्षित होती है और जिसने किन्हीं राज्य संबंधों की इस प्रकृति को एक नया नाम दिया है– सहयोग संघवाद और सौदेबाजी पर आधारित संघवाद का मिला–जुला रूप।

शोधार्थी का इससे गहरा सरोकार रहा है और निरन्तर इसे विश्लेषित किया गया है इसका सार सूत्र जिनसे मिली जुली सरकारों का गठन हुआ, जिनमें अधिकतर सरकारें अस्थायित्व से पीड़ित रही। अतः संघात्मक व्यवस्था का सुचारू संचालन संभव नहीं हो पाया, क्षेत्रवादी प्रवृतियां बढ़ी, क्षेत्रीय राजनैतिक दल महत्वपूर्ण हो गये राज्य स्तर पर अनेक राज्यों में अलग–अलग राजनैतिक दल महत्वपूर्ण हो गये राज्य स्तर पर अनेक राज्यों ने अलग–अलग राजनैतिक दलों की सरकारें गठित हुई यहा तक की केन्द्रीय सरकार के गठन में भी क्षेत्रीय दलों ने भी अहम भूमिका निमाई।

अतः क्षेत्रीय दलों और शक्तियों ने केन्द्रीय सरकार पर दबाव डालने और अपने पक्ष में लाभ का सौदा प्राप्त करने की निरन्तर चेष्टा की। इन परिस्थितियों ने सौदेबाजी पर आधारित संघ व्यवस्था को जन्म दिया जिसके उदाहरण कभी लालू प्रसाद की शैली में कभी ममता बनर्जी के नखरों में कभी जयललिता की चालबाजियों में तो अबद्रविड मुनेत्र कड़गमके निरन्तर काले चश्में पहने हुए श्री करूणानिधि की अकड़ में पुरा भारत निरन्तर देखता रहा। अभी अकाली दल के लोग अपनी पेंतरे–बाजी दिखाते हैं तों कभी नेशनल कांफ्रेंस और पीडीपी की निष्ठाए बदलती नजर आती हैं तो कभी मुलायम सिंह, अखिलेश यादव तो कभी सुश्री मायावती तैयारी करते हुए नजर आते है की कब–कौनसी सरकार बचानी है।

शोधार्थी का स्पष्ट मत है कि शायद यह सब कुछ सहयोग और सौदेबाजी से ही संभव है। सभी राजनैतिक दल इस चिंता में दिखाई दे रहे हैं कि सत्ता के साथ अपने पक्ष

में किस तरह से गोटीयां बैठायी जाये, वर्तमान मे भी ये ही घमासान मचा हुआ है और इस प्रकार भारतीय संघ राज्य का जो वर्तमान परिदृश्य है उसके सहकारी संघवाद के साथ–साथ सौदेबाजी वाले संघ की ओर भी स्पष्ट रूझान परिलक्षित होता है और जब सौदेबाजी में लाभ होते हुए नही दिखाई देता तो नेता और दल जल्दी–जल्दी दल परिवर्तन करते नजर आते हैं तथा केन्द्र और राज्यों के मध्य मतभेद और तनाव दिखाई देते हैं।

शोधार्थी का स्पष्ट मत है कि ऐसा लगता है कि हम राष्ट्रीय दलों की प्रधानता के युग से निकलकर गठबंधन की राजनीति के युग में प्रवेश कर चुके हैं। इसलिए नये–नये गठबंधन बन रहे हैं, और इस दृष्टि से केन्द्रीय स्तर पर एनडीए और यू.पी.ए. गठबंधन उल्लेखनीय है चाहे उनके निर्माण में विचारों की समानता के मुकाबले सत्ता की लालसा का विशेष हाथ रहा हो फिर भी यह गठबंधन लम्बे समय से चले आ रहे हैं। प्रायः यह देखने में आ रहा है कि गठबंधन के भागीदार किसी शक्तिशाली प्रतिस्पर्दी को सत्ता से दूर रखने और अपनी सत्ता को कायम रखने के उद्देश्य से एकजुट हो रहे हैं और ऐसा करने में अदला–बदली और भ्रष्टाचार की भूमिका कभी कम नहीं हुई है। इस काल में सहभागीयों को संतुष्ट करने के लिए विशालकाय मंत्री मण्डल बनाये गये जो स्वयं भ्रष्टाचार की जीति जागती मिसाल हैं हालांकि 2004 से मंत्री मण्ड़लों के आकार की सीमा निर्धारित कर दी गई है।

शोधार्थी को ये ही लगता है कि अनेक कारणों से अभी भी सारी राजनीति अस्थिर अवस्था में है इसे संवारने के लिए कुछ नैतिक मापदण्ड विकसित करने होंगे और उसके लिए निर्वाचन आयोग, सर्वोच्च न्यायालय और अन्य संवैधानिक संस्थाओं को शक्तिशाली बनाना होगा।

शोधार्थी यह आशा भी करता है कि इस अस्थिरता की स्थिति में कोई ऐसा योग्य नेतृत्व राजनीति के मंच पर प्रकृट हो जो प्रतिभाशाली और सचरित्र हो जिसे सम्पूर्ण देश की जनता हार्द्धिक सम्मान देती हो और वह सारी राजनीति को एक नयी दिशा देने में सक्षम हो।

अप्रैल–मई 2019 का लोकसभा चुनाव इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि इसमें एक तरफ राष्ट्रवाद, देशभक्ति और मजबूत भारत का सपना दिखाया जा रहा है और उसकेआलोकमें लोकतंत्र बचाओ का नारा दिया जा रहा है। दूसरी तरफ भी यह समझाया जा रहा है कि व्यक्ति पूजा की मानसिकता के साथ भारत का मन लोकतांत्रिक कैसे होगा इसलिये वास्तविक लोकतंत्र को बचाने के लिए हमें लोकतंत्र के दो बड़े मुख्य मुद्दों पर

आना होगा– स्वतंत्रता और समानता, ताकि ऊंच–नीच समाप्त हो सके, भारत में इस विडम्बना से इनकार नहीं किया जा सकता है कि कुछ लोग जन्म से ही नीचे हैं और कुछ ऊँचे और जिनको नीचा माना जाता है उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि वे हर जगह अपना सिर झुकाये खड़े रहे, और दूसरों के अधीन सेवक की भूमिका निभाते रहे। इस प्रकार यदि हमारी आधार शिलाएं ही लोकतंत्र विरोधी हो तो अडचन अवश्य ही खड़ी होगी, क्योंकि बाते तो लोकतंत्र की हो रही है और भीतर हमारे मन में कहीं भी लोकतंत्र नहीं है।

अतः जो आदमी भी सत्ता पर बैठ जाता है वो एक तरह से पागल हो जाता है। वो ही तानाशाह होने की कोशिश में संलग्न हो जाता है और दूसरों को तरह–तरह के नामों और संज्ञाओं का सहारा लेकर अपमानित करने का प्रयास करता है। इसलिये न्याय जो सारे दर्शन की आत्मा है उसका भी नारा दिया जा रहा है छोटे–छोटे बच्चे तुतलाते नजर आते हैं कि मैं ही तो हिन्दुस्तान हूं, अब होगा न्याय, अतः आवश्यकता इस बात की है कि हमारा पूरा मन बदल जाये तभी भारत का राजनीतिक वातावरण स्वस्थ हो सकता है।

देखना ये ही है कि चुनाव में भाग लेने वाले विभिन्न गठबंधन और राजनैतिक दल अपने लोक लुभावन नारों में कितने सफल होते हैं चूंकि गठबंधन मौजूद है, लोक लुभावन नारे मौजूद है। झूठ, बेइमानी, दोखेबाजी, भ्रष्टाचार मौजूद है। उसमें केन्द्र राज्य संबंधों के परिप्रेक्ष्य में सहकारी संघवाद के साथ–साथ सौदेबाजी वाले संघ की और भी स्पष्ट रूझान परिलक्षित होता है और जब सौदेबाजी में लाभ नहीं होता तो केन्द्र और राज्यों के मध्य मतभेद और तनाव का उभरना स्वाभाविक है और दूसरी तरफ यदि केन्द्र सरकार केन्द्रीकरण को बढ़ावा देती है तो स्वायत्तता की मांग का बढ़ना स्वाभाविक है।

जिन कारणों से ये सब राजनीतिक उथल–पुथल हो रही है और चारों तरफ जो तनाव दिखाई दे रहा है वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे उसके भी कुछ बिन्दु निम्नानुसार हैं –

1. राज्यपाल का पद, चूंकि राज्यपाल केन्द्र सरकार द्वारा मनोनित किया जाता है, इसलिए केन्द्र सरकार ही उसे अपनी स्वार्थपरता के लिए इस्तेमाल करती है। राज्पालों का पक्षपात पूर्ण ढंग से इस्तेमाल ही नहीं किया जाता बल्कि संवैधानिक, नैतिकता और राजनीतिक औचित्य के ठीक विपरीत भी उपयोग किया जाता है। इसलिये उन पर आक्षेप लगते हैं कि वे राज्यों में संघ के ऐजेंट है, दलाल हैं या खलनायक हैं जिनकी लोकतांत्रिक प्रणाली में कोई आवश्यक नहीं है। 2019 के चुनावों में राजस्थान के राज्यपाल कल्याण सिंह द्वारा अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में भाजपा और मोदी के पक्ष में किया गया कथन

इसी कारण विवाद का विषय बना और इसी कारण यह मांग उठती रहती है कि राज्यपाल के पद को समाप्त कर दिया जाये।

2. भारतीय संविधान का अनुच्छेद 356 और उसका गलत प्रयोग– अर्थात राज्यों में राष्ट्रपति शासन लगाना संघ और राज्यों के बीच टकराव का मुख्य मुद्दा रहा है। संघ में सत्तारूढ पार्टी ने राज्यपालों के माध्यम से इस अनुच्छेद का अनुचित उपयोग किया है अतः यह अनुच्छेद केन्द्र राज्य संबंधों के बीच टकराव था जो कि विवाद का मुख्य कारण है।

3. वित्तीय साधनों एवं औद्योगिक गतिविधियों पर संघ का नियंत्रण– यह भी दोनों के मध्य मनमुटाव का प्रमुख कारण है। इस दृष्टि से संघ के विरूद्ध राज्यों की सबसे बड़ी शिकायत यह है कि जहाँ सामाजिक और आर्थिक ढांचे के निर्माण की जिम्मेवारी अर्थात लोगों के कल्याण से सम्बन्धित सभी योजनाओं की जिम्मेवारी जैसे शिक्षा, पानी, चिकित्सा, बिजली, उद्योग, कृषि, रोजगार आदि की व्यवस्था का दायित्व राज्यों पर सर्वाधिक है जबकि आय के समुचित संसाधनों का उनके पास अभाव है। और यह भी देखने में आया है कि संघ ने एक–एक करके राज्य के आर्थिक संसाधनों पर कब्जा कर लिया है और वित्तीय सन्तुलन को संघ ने अपने पक्ष में झुका लिया है इससे राज्यों के मन में असंतोष है तथा वित्तीय क्षेत्र में स्वायत्तता की मांग का उभरना स्वाभाविक है।

4. संघ के हाथों में सत्ता का अत्याधिक केन्द्रीकरण एवं राज्यों के क्षेत्र में संघीय हस्तक्षेप के कारण भी दोनों के मध्य मतभेद बढ़े हैं। क्योंकि ऐसे हस्तक्षेप से राज्यों की स्वायत्तता प्रभावित होती है। राज्यों में उत्तेजना और तनाव बढ़ता है। इससे संबंधित अनेक प्रासंगिक उदाहरण शोध प्रबन्ध में यथा स्थान प्रस्तुत किये गये हैं।

5. राज्यों के कुछ विधेयक ऐसे होते है जिन पर अन्तिम स्वीकृति राष्ट्रपति प्रदान करते हैं राज्यों की शिकायत है कि राज्य विधान मण्डल द्वारा समय पर पारित कर दिये जाने पर भी राष्ट्रपति अपनी स्वीकृ1ति देने में अनावश्यक देरी करते हैं यहा तक की कुछ पर स्वीकृति ही नही दी जाती है और कुछ पर भेदभाव की नीति अपनाई जाती है। ये कहना भी अतिश्योक्ति नहीं होगी कि यदि स्वीकृति का इंतजार करने वाले विधेयकों की संख्या अधिक होती है तो इससे राज्य सरकारों के कामकाज में भी बाधा पड़ती है तथा उनके लोक कल्याण से सम्बन्धित कार्य और योजनाएं पूरी नहीं हो पाती है। अतः पुनः तनाव ही बढ़ता है।

6. यह देखने में आता है कि संघ और राज्यों के बीच आपस में उठने वाले विवादों का समाधान करने हेतु किसी प्रभावी मंच का अभाव भी दोनों के मध्य तकरार पैदा

करता है। हांलाकि अनुच्छेद 263 के अधीन एक अन्तर्राष्ट्रीय परिषद की व्यवस्था है परन्तु उस पर प्रायः केन्द्र का ही प्रभाव रहता है और वह मतभेद दूर करने में कोई विशेष सफलता नहीं दिखा पाती।

7. दूरदर्शन और आकाशवाणी का पक्षपात पूर्ण इस्तेमाल भी तनाव का एक प्रमुख मुद्दा है राज्यों को ऐसा लगता है कि प्रसारण पर केन्द्र का एकाधिकार है। संविधान के अनुच्छेद 19(1) में प्रद्त अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार के विरूद्ध है और इसे न्यायलय में चुनौति दी जा सकती है।

8. अखिल भारतीय सेवाओं का पक्षपात पूर्ण प्रयोग– इन सेवाओं के किसी सदस्य का व्यवहार, सेवा की शर्ते, आचार संहिता आदि के कितना विरूद्ध या आपत्तिजनक क्यों ना हो या कितना पक्षपातपूर्ण क्यों ना हो, राज्य सरकारें संघ की अनुमति के बिना अतः इनके क्रियाकलापों को लेकर तो वातावरण कभी भी उत्तेजनापूर्ण हो जाता है। इससे राज्य सरकार के मंत्रालयों की कुशलता और प्रशासनिक अनुशासन पर कुप्रभाव पड़ता है जो उचित नहीं है।

9. संघीय सुरक्षा बलों की राज्यों में अनावश्यक तैनाती भी राज्यों के मिजाज को गर्म करती है।

10. राज्यों की समस्याओं के प्रति संघ का असंवेदनशील एवं उदासीन व्यवहार भी दोनों के मध्य तनाव का प्रमुख मुद्दा है। यह एक तथ्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है कि अनेक बार विपक्षी दलों द्वारा शासित राज्यों के मुख्यमंत्रीयों ने इसे एक सार्वजनिक मुद्द बनाने का पर्यत्न करके अपना रोष भी प्रकृट किया है।

11. केन्द्र में सत्तारूढ़ दल द्वारा राज्यों में अपने दल से भिन्न दलों की सरकार के प्रति पक्षपात का रवैया भी तनाव का प्रमुख कारण रहा है।

12. प्रधानमंत्री के कार्यालय की राज्य सरकारों के प्रति बेरूखी तथा उपेक्षापूर्ण मनोवृति भी केन्द्र राज्य संबंधों में तनाव की स्थिति को जन्म देती है।

13. राज्यों में प्राकृतिक आपदाओं जैसे अकाल, भुकम्प, बाढ़ आदि का सामना करने में केन्द्र द्वारा दी जाने वाली सहायता तथा उसमें अपनाये जाने वाले मापदण्ड भी केन्द्र राज्य संबंधों में तनाव पैदा करते हैं।

14. विद्युत सुधारों को लागू करने का मुद्दा भी केन्द्र–राज्य संबंधों में विवाद उत्पन्न करता है।

15. जून 2001 और उसके बाद सरकार द्वारा उत्तरी पूर्वी राज्यों में संघर्ष विराम की अवधि को बढ़ाने के निर्णय से मणीपुर में व्यापक विरोध हुआ और वहां

तोड़–फोड भी हुई। अतः इस प्रकार से कम महत्वपूर्ण लगने वाले केन्द्र के कदम भी तनाव बढ़ा देते है।

16. बिहार विभाजन द्वारा झारखण्ड का निर्माण किया गया उससे बिहार की अर्थव्यवस्था लडखडा गई। इस पर बिहार सरकार ने केन्द्र सरकार से विशेष पैकेज देने की अनवृत मांग उठाई जाती रही है परन्तु राजनीतिक कारणों से केन्द्र ने ऐसा नहीं किया परिणाम तनाव की उत्पत्ति रही।

17. उत्तराखण्ड जो उत्तर प्रदेश से अलग किया गया उससे भी केन्द्र राज्य संबंधों पर विपरीत प्रभाव पड़ा। कुछ ऐसे ही मध्य प्रदेश में भी हुआ।

18. छत्तीसगढ़ के पूर्व मुख्यमंत्री अजीत जोगी ने बाल्को (BALCO) विनिवेशीकरण की कटु आलोचना की– यहां तक की विपक्षी दलों द्वारा शासित अन्य राज्यों के मुख्यमंत्रीयों ने भी अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व वाली एनडीए की केन्द्र सरकार की विनिवेशीकरण की नीति की कटु आलोचलना की।

19. यू.पी.ए. सरकार में आन्ध्रप्रदेश से अलग करके तेलंगाना की स्थापना की जिसके लिए बार–बार चन्द्रबाबूनायडू का ये ही कथन सामने आया कि यह उचित नहीं हुआ और हम बर्बाद हो गये।

20. अखिल भारतीय सेवाओं के सदस्यों को पदोन्नत और पुरस्कृत करने के कारण भी राज्यों में बैचेनी पैदा होती है क्योंकि राज्य इसे लोकतांत्रिक संघीय व्यवस्था के प्रति अनुकूल नहीं मानते हैं।

21. राज्यों के मध्य जल विवाद या पानी संबंध विवाद तनाव का एक शाश्वत् कारण रहा है।

22. राष्ट्रीय परिषद और अन्तर्राष्ट्रीय परिषदों की असफलताओं से भी दोनों के मध्य तनाव बढ़ा है।

23. वर्तमान संदर्भ में ये भी एक वास्तविक है कि केन्द्र को शक्तिशाली व प्रभुत्वपूर्ण स्थिति बदली है। अतः केन्द्र व राज्य एक दूसरे के सहयोगी न होकर प्रतियोगी बने हुए हैं। और प्रतियोगीयों में जो एक दूसरे को अपना विरोधी मानने की भावना जो होती है वह कुटुता बढ़ा रही है।

24. विभिन्न राज्यों में जो आतंकवाद, प्रथकतावाद, विघटनवाद, नक्सलावद और आराजक तत्वों की गंभीर चुनौतियाँ सामने है उनसे निपटने के लिए केन्द्र राज्यों की अपेक्षाओं के अनुसार भुमिका नहीं निभा पाता है। अतः यह भी विवाद बढ़ाने वाला मुद्दा ही है।

25. वर्तमान में भारत में जो दलीय स्थिति है (केन्द्रीय व क्षेत्रीय) वह भी विवादास्पद होने के कारण अपने मध्य और महत्वकांक्षाओं के कारण विवादों को ही बढ़ावा देती है।

26. इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय संघ के अधीन राज्यों का जो विकास हुआ है वह संतुलित नहीं है जो भी विवाद का प्रमुख कारण है।

27. हमें यह भी न भूलना चाहिए अशिक्षित, गरीब, बेरोजगार, असहाय भयभीत बिमार, दुखी और अनेक प्रकार की परिशानियों से झूझ रही सामान्य जनता अपने राज्यों के माध्यम से कुछ सुविधाएं प्राप्त करती हैं तो केन्द्र उसमें अडचने पैदा करता है और राज्य सरकार को स्वायत्तता न देने से जनता का भला नहीं हो पाता है। अतः हमें ये नहीं भूलना चाहिए कि राज्य स्वायत्तता की जो मांग की जा रही है वह संघीय ढांचे के अन्तर्गत ही तो है फिर उसे विवाद का विषय क्यों बनाया जा रहा है।

केन्द्र राज्य संबंधों को लेकर संवैधानिक शक्ति, तत्व तथा व्यवहारिक कठिनाईयों आदि के मध्य नजर रखते हुए केन्द्र राज्य मतभेदों को दूर करने के लिए सीतलवाड़ समिति राज मन्नार समिति, सरकारिया आयोग आदि की सिफारिशों का सहारा लिया गया है।

सीतलवाड़ समिति की प्रमुख अनुशंसा यह है कि संविधान में संशोधन किये बिना राज्यों को अधिक स्वायत्तता प्रदान करनी चाहिए। समिति ने इस संबंध में तीन प्रमुख सुझाव प्रस्तुत किए हैं।

1. अवशिष्ट विषय या तो समाप्त कर देने चाहिए अथवा राज्यों को दिये जाने चाहिए।
2. एक अन्तर्राज्यीय परिषद अस्तित्व में रहनी चाहिए।
3. अखिल भारतीय सेवाओं को समाप्त कर देना चाहिए।

राज मन्नार समिति की अनुशंसाएं यथा स्थान इस शोध प्रबन्ध में ही समाहित है। रणजीत सिंह सरकारिया की अध्यक्षता में 24 मार्च 1983 को केन्द्र राज्य संबंधों के अध्ययन के लिए नियुक्त किया गया आयोग सरकारिया आयोग के नाम से जाना जाता है।

आयोग को केन्द्र राज्य सम्बन्धो पर सुझाव देते समय सामाजिक व आर्थिक विकास संविधान की संख्या और राष्ट्रीय एकता व अखण्डता को ध्यान में रखने को कहा गया आयोग ने 27 अक्टबूर 1987 को इस दिवस में 265 अनुशंसाएं प्रस्तुत की जिसमें से कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण अनुशंसाए निम्नलिखित हैं–

1. केन्द्र राज्य संबंधो में विचार विमर्श सहयोग व भागीदारी को बढ़ावा देने के लिए सरकारिया आयोग ने संविधान ने संविधान के अनुच्छेद 263 के अन्तर्गत एक स्थायी अर्न्राज्यीय परिषद के गठन का सुझाव दिया जो विभिन्न मुद्दों पर विचार–विमर्श करेगी इसमें प्रधानमंत्री केबिनेट मंत्री व सभी राज्यों के मुख्यमंत्री सदस्य होंगे।

2. अखिल भारतीय सेवाओं को कमजोर ना किया जाये।

3. निगम कर का राज्यों के साथ बटवांरा किया जाये।

4. किसी भी राज्य में राज्यपाल की नियुक्ति करने से पहले मुख्यमंत्री की सलाह अवश्य ली जाये।

केन्द्र–राज्य मतभेदों को दूर करने और स्वायत्तता की समस्या का निवारण करने संबंधी उक्त समीतियों, आयोग आदि की अनुशंसाओं के अतिरिक्त विरोधी दलों उच्च कोटि के शिक्षा शास्त्रीयों विभिन्न राज्य सरकारों विधि वेताओं द्वारा मतभेदों को दूर करने की दिशा में अनेक सुझाव भी दिये गये हैं जो भविष्य में इस दिशा में मार्ग दर्शन का काम करेंगे शोधार्थी की भी इन सुझावो से सहमति है।

(i) भारतीय संविधान स्वरूप में संघात्मक किन्तु आत्मा से एकात्मक है। इसलिए इसे यथा–संभव आत्मा से भी संघात्मक बनाया जाना आवश्यक है। इसके लिए समवर्ती सूची के विषयों का पुर्नविभाजन इस प्रकार किया जाये कि शक्ति विभाजन का संतुलन राज्यों के पक्ष में रहे।

(ii) राज्यों को उनकी आय में वृद्धि के लिए कुछ लचीले प्रावधान स्वीकार किये जाने चाहिए।

(iii) राज्यों को केन्द्र के विवेकानुसार अनुदान देने की केन्द्र की शक्ति को समाप्त करा जाये।

(iv) वित्त आयोग को एक स्थायी निकाय बनाया जाये।

(v) योजना आयोग/नीति आयोग को स्वायत संवैधानिक स्तर प्रदान किया जाये।

(vi) अनुच्छेद 263 के अनुसार अन्तर्राज्यीय परिषद् की स्थापना की जाये जो राष्ट्रपति को परामर्श देने का कार्य करें।

(vii) राष्ट्रपति एवं राज्यपाल संबंधी संवैधानिक व्यवस्थाओं में संशोधन द्वारा उनकी शक्तियों को इस तरह व्यवस्थित किया जाये कि उनकी विवशता दूर हो और वे अपने ज्ञान स्वविवेक और व्यवहारिक अनुभव के आधार पर कार्य कर सके।

(viii) केन्द्र, जहां तक संभव हो, राज्य सूची के विषयों में हस्तक्षेप ना करें। राज्य सूची के विषयों के कार्यक्रम लागू करने उन पर धन व्यय करने आदि का उत्तरदायित्व राज्य सरकारों पर ही रहे।

(ix) प्रशासनिक वित्तीय और विधायी सभी क्षेत्रों में केन्द्रीय नियंत्रण की व्यवस्थाएं कम की जाये।

(x) अखिल भारतीय सेवाओं के जो अधिकारी राज्य सेवा में रहे उन पर पुरा नियंत्रण राज्य सरकार का ही होना चाहिए।

(xi) राष्ट्रपति को महत्वपूर्ण मामलों में परामर्श के लिए एक उच्च स्तरीय संवैधानिक सलाहकार समिति स्थापित की जाये जो राज्यपाल, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश, की नियुक्तियों के बारे में, मंत्रीमण्डल निर्माण के समय अनुपालनीय अभिसमयों के बारे में, व्यवस्थिापिका को भंग करने और विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति हेतु आरक्षित करने के संबंध में और इसी प्रकार के अन्य राष्ट्रीय महत्वपूर्ण विषयों पर सलाह दें।

(xii) प्रत्येक राज्य के लिए प्रथक–प्रथक सवेधांनिक सलाहकार समित का गठन किया जाये।

(xiii) संविधान के किसी भी अनुच्छेद में संशोधन में राज्यों का बहुमत जरूरी किया जाना चाहिए।

(xiv) राष्ट्रीय विकास परिषद में राज्यों को उचित प्रतिनिधित्व दिया जाये।

(xv) राज्यसभा में सभी राज्यों को बराबर प्रतिनिधित्व दिया जाये केवल अराज्यों को छोड़कर जिनकी आबादी 30 लाख से कम हो।

(xvi) राज्यसभा के चुनाव प्रत्यक्ष हो तथा संसद के दोनों सदनों को यथा संभव बराबर अधिकार दिये जाये।

(xvii) समवर्ती सूची पर केन्द्र का अधिकार समाप्त किया जाये।

(xviii) मिश्रित सरकारों के युग में जिस नवीन परिवेश में नये ढंग से केन्द्र राज्य संबंध विकसित हो रहे हैं उन पर ध्यान देना चाहिए।

(xix) स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं (ग्रामीण एवं शहरी), राज्य सरकारों और केन्द्रीय सरकारों के बीच उचित समन्वय स्थापित करना चाहिए, ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि हर व्यक्ति सुरक्षित और सम्मान्नित महसूस करे।

उल्लेखनीय है कि वर्तमान में राजनीति को संघर्ष के समाधान और समाज के संतुलित विकास की कला मानते है। संवैधानिक संस्थाएं इसके लिए व्यवस्था और प्रगति के आवश्यक उपकरण जुटाती है। आधुनिक संविधान बाद की मुख्य समस्या ऐसी संवैधानिक संस्थाओं का पता लगाने की है जो उन साधारण और विभिन्न वर्गों के हितों में सामंजस्य स्थापित करने का साधन बन सके और जो समाज के बदलते हुए मूल्यों और आकांक्षाओं की पूर्ति में योग दे सके।

हमें विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के संदर्भ में विभिन्न संवैधानिक संरचनाओं को इस दृष्टि से परखना चाहते हैं कि एक नयी समाज व्यवस्था की स्थापना मं कितनी कुशल सिद्ध होगी।

नयी समाज व्यवस्था वह होगी जिसमें विकास में लाभों को कोई शुक्ष्म अल्पमत अपनी विशेष स्थिति और जोड–तोड की अद्भभूत क्षमता के बल पर अपने एकाधिकार में नहीं कर लेता बल्कि ये लाभ समाज के विभिन्न स्तरों तक विशेषत निचले वर्गों तक भी पहुंच जाये ताकि समस्त नागरिकों को स्वतंत्रता, गारिमा और व्यक्तित्व के विकास का अवसर मिल सके और ऐसी परिस्थितियां स्थापित की जा सकें जिनमें सब लोग राष्ट्र के विकास मे और सम्पूर्ण मानवता की प्रगति में अपना योगदान करने में समर्थ हो और इसके लिए तत्पर हों।

यह भी उल्लेखनीय है कि राजनीति का स्वाभाविक लक्ष्य केवल सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय और देशहित के लिए काम करना है। वर्तमान में जो भाषा के स्तर पर, आचरण के स्तर पर जो उन्माद दिखाई दे रहा है उसमें राजनीति सत्ता प्राप्त करने की प्राय हो गयी है क्योंकि दलों और नेताओं के लिए सत्ता, शक्ति और सम्पनता का साधन है।

इसलिए उनका उद्देश्य किसी तरह सत्ता पाना है और ऐन–केन प्रकारेण चुनाव जितना है। ये ही कहा जा सकता है कि हम जिस प्रदेश या गांव की मिट्टी में जन्में है, भारत की धरती की संतान है।

चाहे वह क्षेत्र किसी भी ग्राम, ग्राम पंचायत, पंचायत समिति, जिला परिषद एवं राज्य का क्यों ना हो, हम उस राष्ट्र राज्य के नागरिक है जिसका नाम भारत है। अतः उन सभी संस्थाओं की कार्य प्रणाली में तथा संबंधों में समन्वय और समरसता बनाये रखना आवश्यक है एवं अपनी स्वतंत्रता और स्वायत्तता को प्राथमिकता देते हुए सर्वजन हिताय के मंत्र को कभी नहीं भुलना है ऐसा करके ही हर नागरिक स्वस्थ और निर्मल हृदय से स्वयं को ओर अपने देश को मजबूत कर सकेगा तथा संविधान निर्माताओं के वास्तविक मंतव्य को पूरा कर गर्व कर सकेगा।

मैं प्रस्तुत शोध पूरा करते हुए ये ही निश्चय और दृढ़ संकल्प करता हूँ कि मैं जब तक जीवित रहूँ अपने समाज अपने राष्ट्र और मानवता के दुखों को दूर करने का प्रयत्न करता रहूँ।

सारांश
(Summary)

एक संघीय राज्य एकात्मक राज्य से इस रूप में अलग होता है कि एकात्मक राज्य में समस्त शक्तियाँ एक केन्द्रीय सरकार के हाथ में केन्द्रित होती है जबकि संघीय सरकार में शक्तियों का विभाजन केन्द्र तथा राज्यों के मध्य होता है। अमेरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, जर्मनी, नाइजीरिया और भारत में संघीय व्यवस्था है क्योंकि इन देशों में केन्द्र तथा क्षेत्रीय प्रशासन के मध्य सत्ता का विभाजन किया गया है। विख्यात अंग्रेज विधिवेत्ता ए. वी. डायसी के मतानुसार– "संघ का तात्पर्य राज्य की सत्ता का एकाधिक अवयवों में विभाजन से है जिनमें से प्रत्येक अवयव संविधान से उत्पन्न और नियंत्रित होता हो।"

संघीय व्यवस्था की तीन अनिवार्य विशेषताएँ होती हैं जो भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में मौजूद हैं–

1. राज्य का संविधान लिखित और अनम्य होना चाहिए जो देश की सर्वोच्च विधि के रूप में घोषित किया गया हो। संशोधन हेतु विशेष प्रक्रिया का सहारा लेना पड़ता हो। केन्द्र तथा राज्यों को शक्ति संविधान से प्राप्त होती हो। संविधान की सर्वोच्चता हो।

2. संघीय व्यवस्था की प्रमुख विशेषता केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकारों के बीच शक्तियों का विभाजन है। केन्द्र तथा राज्यों के मध्य शक्तियों का स्पष्ट विभाजन कर दिया जाता है तथा अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र को सौंपी जा सकती हैं, जैसाकि कनाडा तथा भारत में है या अवशिष्ट शक्तियाँ प्रान्त को सौंपी जा सकती है जैसाकि अमेरिका में है। भारत में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य शक्तियों का बंटवारा संविधान के भाग–7 में तीन सूचियों संघ–सूची, राज्य–सूची तथा समवर्ती सूची के आधार पर किया गया है। संघ–सूची पर केन्द्र, राज्य–सूची India Shall be Union of states: (Federation word was not used or accepted) पर राज्य तथा समवर्ती सूची पर केन्द्र तथा राज्य दोनों कानून बना सकते हैं, विवाद की स्थिति में केन्द्र का कानून मान्य होगा।

3. संघीय व्यवस्था में एक स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायपालिका का होना आवश्यक है। जो केन्द्र तथा राज्यों के मध्य उठने वाले सांविधानिक मामलों को हल कर सके। भारत में यह भूमिका सर्वोच्च न्यायालय अदा करता है। संविधान के अनुच्छेद 131 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को संविधान के उपबंधों का निर्वाचन करने का आरंभिक अधिकारिता प्राप्त है।

संघात्मक शासन के सभी आवश्यक लक्षण भारतीय संघीय व्यवस्था में पाए जाते हैं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद–1 में कहा गया है, भारत, अर्थात् इंडिया राज्यों का संघ होगा। निःसंदेह भारत एक संघ है, जिसमें शक्तियाँ केन्द्र और राज्यों के बीच संविधान द्वारा विभाजित हैं।

कुछ आलोचकगण भारत को संघीय राज्यों की सूची में शामिल नहीं करना चाहते। संघीय–व्यवस्था के विख्यात विद्वान प्रो. के. सी. व्हीयर भारत के अर्द्ध संघीय राज्य की संज्ञा देते हैं। भारतीय विद्वान के.पी. मुखर्जी भारत को एकात्मक राज्य कहते हैं।

भारतीय संविधान का स्वरूप संघीय है या एकात्मक या अर्द्ध–संघात्मक, इस विषय पर विद्वान एकमत नहीं हैं। संविधान की प्रारूप–समिति ने भारतीय संविधान को संघीय कहा है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर जो प्रारूप–समिति के अध्यक्ष थे, उन्होंने पहले तो कहा कि भारतीय संविधान का स्वरूप संघीय है परन्तु बाद में कहा कि यह 'यूनियन' (UNION) है क्योंकि यह अनश्वर है। उन्होंने बताया संघीय (Federal) के स्थान पर यूनियन (UNION) शब्द का प्रयोग दो कारणों से किया गया है, प्रथम भारतीय संघ का अस्तित्व राज्यों द्वारा आपस में एक संघ बनाने के निश्चय के फलस्वरूप नहीं है अपितु भारतीय प्रान्त स्वायत्त इकाइयों में गठित कर दिए गए थे और उनका संघ बनाया गया है। द्वितीय, भारतीय संघ से किसी भारतीय राज्य को बाहर जाने की अनुमति नहीं है।

हिन्दी भाषा में फैडरेशन तथा यूनियन दोनों शब्दों की भावना 'संघ' शब्द को ही अभिव्यक्त करती है परन्तु अंग्रेजी भाषा में यूनियन' शब्द फेडरल से अधिक शक्तिशाली एकता की भावना को प्रकट करता है।

संसार के संविधानों को श्रेणीबद्ध करने वाले कुछ विद्वानों की राय में भारतीय संविधान तात्विक दृष्टि से संघीय है और व्यावहारिक रूप से एकात्मक। क्योंकि संविधान में कुछ एकात्मक तत्त्व भी पाए जाते हैं–

1. संघीय शासन में केन्द्र और इकाइयों के मध्य शक्तियों का विभाजन होता है, शक्तियों का विभाजन कुल मिलाकर औचित्यपूर्ण और समान होता है, परन्तु भारत में इकाइयों (राज्य) की तुलना में केन्द्र अधिक शक्तिशाली है। संघ सूची में 97 विषय हैं जो शुद्धतः केन्द्र के अधिकार क्षेत्र में हैं, समवर्ती सूची के 47 विषय हैं जिनके संबंध में विवाद उत्पन्न होने पर केन्द्र के अधिकार सर्वोपरि होंगे। संविधान के अनुच्छेद 248 के अनुसार अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र को सौंपी गई हैं, कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्य–सूची पर भी

केन्द्र कानून बना सकता है। शक्तियों का विभाजन निश्चित रूप से केन्द्र के पक्ष है, राज्यों की स्थिति कमजोर है।

2. संविधान के अनुच्छेद 1 में कहा गया है कि भारत, राज्यों का संघ है। अनु. 3 में केन्द्र को राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन करने की शक्ति दी गई है, इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य पूर्णतः केन्द्र की दया पर कायम है। सन् 1953 को मद्रास को काटकर आन्ध्र राज्य की स्थापना की गई। 1966 में पंजाब को काटकर हरियाणा राज्य की स्थापना की गई। असम राज्य को कई किश्तों में काटकर नागालैंड तथा मेघालय जैसे छोटे राज्य बनाए गए।

3. केन्द्र द्वारा एकतरफा कार्यवाही करके अधिकांश स्थितियों में संविधान में संशोधन किया जा सकता है। संविधान के अनु. 368 के अनुसार संघीय मामलों से संबंधित विधेयक को राज्यों को भेजना आवश्यक है। राष्ट्रपति की अनुमति के लिए भेजे जाने से पूर्व ऐसे विधेयक पर कम से कम आधे राज्यों का अनुसमर्थन मिलना आवश्यक है। राज्य संविधान संशोधन संबंधी विधेयक की पहल नहीं कर सकते हैं।

4. संघात्मक शासन में राष्ट्रीय विधानमंडल के उच्च–सदन में सभी इकाइयों को समान–प्रतिनिधित्व दिया जाता है। जैसा अमेरीकी सिनेट में प्रत्येक राज्य से दो प्रतिनिधि भेजे जाते हैं। जबकि राज्य–सभा में राज्यों को समान प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है। नागालैंड से राज्य–सभा का एक प्रतिनिधि तथा उत्तरप्रदेश में 34 प्रतिनिधि आते हैं।

5. राज्य–सरकार पर नियंत्रण करने के लिए केन्द्र को विस्तृत अधिकार हैं। संविधान के अनु. 256 के अन्तर्गत राज्यों के लिए केन्द्र के कार्यकारी निर्देशों का पालन करना और भारत की संसद द्वारा पारित कानूनों का पूरी तरह क्रियान्वयन करना बाध्यकारी है। अनु. 257 के अन्तर्गत केन्द्र राज्यों को निर्देश भेज सकता है जिनका अनुपालन करना आवश्यक है।

6. संविधान के अनुच्छेद 200 के अन्तर्गत कोई विधेयक राज्य विधानसभा द्वारा पारित किए जाने के बाद राज्यपाल के द्वारा राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखा जा सकता है। ऐसे मामलों में राष्ट्रपति का वीटो अंतिम होता है।

7. पंजाब या उसके किसी भाग में युद्ध अथवा विदेशी आक्रमण या सशस्त्र कर विद्रोह या उपद्रवों की स्थिति में राष्ट्रपति अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत राष्ट्रीय आयात की घोषणा करता है।

संविधान की धारा 356 के अन्तर्गत सांविधानिक व्यवस्था में गतिरोध उत्पन्न हो जाने पर (जम्मू–कश्मीर को छोड़कर) राष्ट्रपति आपात की उद्घोषणा कर सकता है। अनु.

360 के अन्तर्गत राष्ट्रपति देश में वित्तीय आपात की उद्घोषणा कर सकता है। इन आपात शक्तियों के द्वारा केन्द्र द्वारा राज्य की स्वायत्तता कभी भी संभव सीमा तक समाप्त की जा सकती है।

8. राज्यपाल, नियंत्रक और महालेखा परीक्षक, मुख्य निर्वाचन आयुक्त और अखिल भारतीय सेवाओं के बहुसंख्यक अधिकारियों के द्वारा केन्द्र द्वारा राज्यों पर बड़ी सीमा तक नियंत्रण किया जा सकता है।

9. न्यायिक व्यवस्था के शीर्ष पर सर्वोच्च न्यायालय है जो उच्च न्यायालयों के निर्णयों को बदल सकता है या खारिज कर सकता है और देश के सभी राज्यों के लिए उसके निर्णयों का पालन करना आवश्यक है।

10. यद्यपि हमारा देश संघात्मक शासन की स्थापना करता है, संघात्मक शासन में नागरिकों को दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है जैसाकि अमेरीका में है परन्तु भारत में नागरिकों को इकहरी नागरिकता प्राप्त है।

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि भारत में राज्य सरकारों की स्वायत्तता को किस हद तक सीमित किया गया है। के. सी. व्हीयर ने यहाँ तक कहा है कि "यह गौण एकात्मक स्वरूप वाले संघीय राज्य की अपेक्षा गौण संघीय स्वरूप वाला एकात्मक राज्य है।" यह सच है कि भारतीय संघीय व्यवस्था अमेरीकी और स्विस संघीय व्यवस्था के समान नहीं है जिसमें इकाइयों को बहुत अधिक स्वायत्तता प्राप्त है। भारत का संघीय स्वरूप कनाडा के संघीय स्वरूप के अति निकट है जिसमें राज्यों की अपेक्षा केन्द्र अधिक मजबूत स्थिति में है। लेकिन प्रत्येक संघीय व्यवस्था का अपना विशिष्ट लक्षण होता है जो किसी देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक आवश्यकताओं के अनुरूप होता है। हमारे संविधान–निर्माताओं ने देश की आवश्यकताओं का सावधानी से अध्ययन किया और उसी के अनुरूप हमारी संघीय व्यवस्था को स्वीकारा। इसलिए उन्होंने संघ के लिए यूनियन शब्द का प्रयोग किया। संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने इसी संघ (न्छप्च्छ) को 'भारत का अविभाज्य संघ' कहा था।

शक्तिशाली केन्द्र क्यों?

संविधान निर्माताओं ने शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना क्यों की? संविधान निर्माताओं ने कई कारणों से मजबूत और शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना करना जरूरी समझा था।

प्रथम तो भारत उन दिनों गंभीर परिस्थितियों से गुजर रहा था। कम्युनिस्टों ने तेलंगाना क्षेत्र में विद्रोह कर दिया था, हैदराबाद में रजाकार ऊधम मचा रहे थे और पाकिस्तान ने काश्मीर पर आक्रमण कर विचित्र स्थिति पैदा कर दी थी। इसके अलावा भारत के सामने देश–रक्षा, प्रान्तीयतावाद, कश्मीर–अधिमिलन, शरणार्थियों को बसाने जैसी कई समस्याएं मुँह बायें खड़ी थीं। इन सभी को केवल शक्तिशाली केन्द्र द्वारा ही हल किया जा सकता था।

द्वितीय, संविधान–सभा के सदस्यों का यह मानना था कि भारत ने सदैव दुर्बल केन्द्र के कारण ही हानि उठाई है। देश की स्वतंत्रता तथा एकता को बनाए रखना है तो अलगाववादी तथा विघटनकारी तत्त्वों को कुचलना होगा और उन समस्त साधनों को जो इसकी एकता को संबल दे, बढ़ाना होगा। इस आशय को लेकर उन्होंने सामान्य आर्थिक व्यवस्था, सामान्य न्याय–प्रणाली, अखिल भारतीय सेवाओं तथा अन्य ऐसी ही अन्य संस्थाओं को जिन्होंने राष्ट्रीय एकता को प्रबल करने में योगदान दिया, केन्द्र के अधीन रखना आवश्यक समझा।

तृतीय, भारत की भावी उन्नति के लिए भी केन्द्र को सशक्त बनाना आवश्यक समझा गया। संविधान सभा के कुछ सदस्यों का मानना था कि जब तक भारत में केन्द्र को शक्तिशाली नहीं बनाया जाएगा हमारा देश उद्योगों, कृषि और दूसरे ऐसे ही आर्थिक क्षेत्रों में उन्नति नहीं कर सकेगा और न ही स्वास्थ्य, शिक्षा तथा रहन–सहन का स्तर ऊंचा हो सकेगा। ऐसी अवस्था में भारत संसार के दूसरे देशों पर निर्भर रहेगा, पिछड़ेपन से मुक्ति नहीं पा सकेगा। पंडित नेहरू ने विशेषकर इस बात पर जोर दिया कि भारत में सफल आर्थिक नियोजन इस बात की मांग करता है कि केन्द्र को शक्तिशाली बनाया जावे।

चतुर्थ, संविधान निर्माताओं ने यह भी देखा था कि जहाँ–जहाँ केन्द्र दुर्बल रहे हैं, वहाँ संघ तथा राज्यों के बीच व्यापक झगडे हए हैं। देश ऐसे झगड़ों से बचा रहे, अपना पूरा ध्यान विकासात्मक कार्यों में लगाए, इसके लिए आवश्यक है कि केन्द्र को शक्तिशाली बनाया जावे।

संविधान–सभा के कुछ सदस्यों का विचार था कि केन्द्र के पास राज्यों की तुलना में अधिक शक्तियों का होना संसदीय शासन प्रणाली के अनुकूल नहीं है। विशेषतः इसलिए कि जिस केन्द्रीय सरकार को राज्यों की संसदीय शासन प्रणाली का अन्त करने का अधिकार है, वह किसी समय राज्य में स्थापित लोकतांत्रिक–सरकार का गला घोंट सकती है। वे केन्द्र को शांतिकाल में राज्यों के शासन को संभालने का अधिकार देने के भी विरुद्ध

थे, यद्यपि उनके ये तर्क काफी वजनदार थे तथापि संविधान निर्माताओं ने केन्द्र को ही अधिक शक्तिशाली बनाना उचित समझा।

केन्द्र–राज्य संबंधों के संबंध में कहा जाता है कि ये संवैधानिक उपबंधों पर कम, राजनीतिक समीकरणों पर अधिक निर्भर करते हैं। जब तक केन्द्र में एक दलीय वर्चस्व रहा तब तक संघात्मक व्यवस्था के उपबंधों पर कोई विवाद उत्पन्न नहीं हुआ किन्तु चतुर्थ आम चुनाव 1967 के बाद जब एकदलीय जड़ता टूटी केन्द्र–राज्य संबंधों में विवादग्रस्त–पर्यावरण बनने लगा, राज्य अधिक स्वायत्तता की माँग करने लगे और यह कहा जाने लगा कि केन्द्र ने राज्यों के हितों का अधिग्रहण कर लिया है।

राज्य–स्वायत्तता का अर्थ :

राज्यों की स्वायत्ता की माँग अखिल भारतीय संघीय शासन का सबसे अधिक विवादग्रस्त मुद्दा है, यह माँग राज्यों के अधिकारों से संबंधित है। भारतीय राज–व्यवस्था में स्वायत्तता का प्रश्न शक्तिशाली केन्द्र–सरकार के खिलाफ एक जबरदस्त मांग है। स्वायत्तता की माँग को उग्र रूप से उठाने का श्रेय क्षेत्रीय सांस्कृतिक पृथकतावादी तत्त्वों को है। भूमि पुत्रों के सिद्धान्त ने स्वायत्तता की माँग को बढ़ावा दिया है। परन्तु स्वायत्तता का अर्थ स्वतंत्रता नहीं है। भारत का संघीय ढांचा अविनाशी संघ का है, इसमें राज्य इकाइयों को शक्तिशाली केन्द्र सरकार के अधीन कार्य करना है। संविधान की सातवीं सूची के अन्तर्गत राज्य–सूची पर राज्यों को कानून बनाने का अधिकार है। अतः भारतीय संदर्भ में राज्यों की स्वायत्तता का अर्थ इन अधिकारों में यथासंभव वृद्धि करना अथवा उन्हें वास्तविक बनाना है।

राज्यों द्वारा अधिक स्वायत्ता की माँग चतुर्थ आम चुनाव (1967) के बाद उठी, जब कई राज्यों में गैर–कांग्रेसी दलों की सरकार बनी। मद्रास के तत्कालीन मुख्यमंत्री अन्नादुरायी ने कहा कि राज्यों को संविधान की ओर से स्वायत्तता प्राप्त है और उनके साथ नगरपालिकाओं के समान व्यवहार नहीं करना चाहिए। तमिलनाडु की करुणानिधि सरकार ने सित. 1967 में केन्द्र–राज्यों के संबंधों पर विचार करने के लिए डॉ. पी.वी. राजमन्नार की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। इसने सुझाया कि अन्तर्राज्यीय परिषद का गठन हो, उसके निर्णय बाध्यकारी हों। समवर्ती सूची में कम से कम विषय रखे जावें; अवशिष्ट शक्तियाँ राज्यों को सौंप दी जावें। आयकर एकत्रित करने की शक्ति राज्यों को दी जावें तथा राज्यपालों की नियुक्ति राज्य–सरकारों की सहमति के आधार पर की जावे। केन्द्र–सरकार ने राजमन्नार समिति की अनुशंसाओं को यह कहते हुए नकार दिया कि इससे भारतीय संघ की एकता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। सन् 1977 में स्वायत्तता की माँग

वाम–मोर्चा सरकार (पश्चिम बंगाल) के मुख्यमंत्री ज्योति बसु ने उठायी, जिसका समर्थन जम्मू–कश्मीर के मुख्यमंत्री शेख अब्दुल्ला ने भी किया। तत्कालीन प्रधानमंत्री मोरारजी भाई देसाई ने राज्यों को अधिक अधिकार देने की बात को केन्द्र–सरकार को कमजोर करने वाला माना। अनेक विविधताओं से परिपूर्ण भारत जैसे विशाल देश में राष्ट्रीय एकता के लिए केन्द्र का शक्तिशाली होना आवश्यक है। 1980 में स्वायत्तता की माँग करते हुए अकाली दल ने आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव पारित किया। इसमें राज्यों के लिए इतनी अधिक सीमा तक स्वायत्तता की माँग की गई थी जो कि भारतीय एकता और अखंडता के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। 1991 में उड़ीसा के मुख्यमंत्री बीजू पटनायक ने स्वायत्तता की माँग करते हुए प्रधानमंत्री को लिखे पत्र में माँग कि केन्द्र के पास केवल रक्षा, विदेश और मुद्रा का अधिकार ही होना चाहिए। राज्यों को यह अधिकार दे दिया जावें कि वे अपनी योजनाएँ स्वयं बनाएँ तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थाओं से सीधे समझौते करें। 1992 में उत्तरप्रदेश तथा राजस्थान के मुख्यमंत्रियों ने राज्यों के लिए अधिक वित्तीय साधनों की माँग की।

राज्य स्वायत्तता का औचित्य स्वीकार करते हुए भूतपूर्व राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी ने लिखा है कि शक्तिशाली केन्द्र का अर्थ दिल्ली में शक्ति का केन्द्रीयकरण करने से नहीं है और राज्यों को अधिक स्वायत्तता देना केन्द्र को कमजोर करना नहीं है। मेरा विश्वास है कि केन्द्र राज्यों से उनकी पहल करने और निर्णय करने की शक्ति लेकर शक्तिशाली नहीं बनता, वह केवल तभी शक्तिशाली होता है जब राज्यों को अपनी प्रशासनिक और विकास की समस्याओं को स्वयं हल करने की क्षमता और स्वतंत्रता प्राप्त होती है। 7 मई 1992 को 'मौलाना आजाद स्मृति भाषण' देते हुए भूतपूर्व राष्ट्रपति आर. वेंकटरमन ने मत–व्यक्त किया कि "यदि हम समाज में विघटनकारी शक्तियों को नियंत्रित करना चाहते हैं तो हमें राज्यों के लिए अधिक स्वायत्तता की माँग पर विचार करना और उसके साथ सामंजस्य स्थापित करना होगा।

सरकारिया आयोग ने अपनी रिपोर्ट में उल्लेख किया कि "केन्द्र राज्यों के विशेषाधिकार छीन रहा है, उनके कार्यक्षेत्र में दखल कर रहा है और विषयों की राज्य सूची को कम कर तथा समवर्ती सूची का विस्तार कर संविधान का उल्लंघन कर रहा है। आयोग ने सुझाया कि देश की एकता और अखंडता के लिए मजबूत केन्द्र अनिवार्य है परन्तु राज्यों की स्थिति को सुदृढ़ करने का प्रयास भी करना आवश्यक है। राज्य–स्वायत्तता की माँग ने क्षेत्रीय आकांक्षाओं को जागृत करने का कार्य किया है, नए राज्यों के गठन हेतु आंदोलनों

की आंधी आ गयी। आर्थिक स्वायत्तता की माँग को हवा मिली। क्षेत्रीय राजनीतिक दलों तथा क्षेत्रीय नेतृत्व मुखर होने लगे तथा स्थानीय जनता में लामबंदी बढ़ी। क्षेत्रीय माँगे संसद के पटल पर गूंजने लगी। राज्यों के मध्य नदी–जल तथा सीमा विवाद उग्र रूप से उठाए जाने लगे हैं। इसमें कोई मीनमेख नहीं कि अधिकतर स्वायत्तता की माँगें राजनीतिक हितों को ध्यान में रखा जाने लगा है, वित्तीय स्वायत्तता की माँग को न्यायोचित कहा जा सकता है लेकिन इसमें राज्यों का भी दायित्व बनता है कि वे वित्तीय स्रोतों को बढ़ाने का प्रयास करें।

केन्द्र राज्य संबंध

संविधान के भाग 11 में केन्द्र और राज्यों के बीच विधायी और प्रशासनिक संबंधों का उल्लेख किया गया है। भाग 12 में केन्द्र तथा राज्यों के बीच वित्तीय संबंधों का उल्लेख किया गया है। संघीय सूची में पूर्णतः राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों को केवल केन्द्र के अधीन रखा गया है। इस सूची में 97 विषय रखे गए हैं, इनमें महत्त्वपूर्ण विषय हैं–प्रतिरक्षा, सशस्त्र सेनाएँ, युद्ध एवं शांति, वैदेशिक संबंध, परमाणु ऊर्जा, मुद्रा तथा सिक्के, निरोधक नजरबंदी, प्रसारण, रेल एवं डाकतार, बैंकिंग आदि। राज्य–सूची में स्थानीय महत्त्व के विषय रखे गए हैं। जिसमें विशेष रूप से विधि व्यवस्था, पुलिस, जेलें, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, सहकारिता आदि शामिल हैं। राज्य–सूची में 66 विषय रखे गए हैं। समवर्ती सूची में समान महत्त्व के 47 विषय रखे गए हैं, जिन पर केन्द्र तथा राज्य दोनों कानून बना सकते हैं लेकिन विवाद की स्थिति में केन्द्र का ही कानून मान्य होगा। संविधान के अनुच्छेद 248 में यह भी उपबंध है कि अवशिष्ट विषय केन्द्र के पास रहेंगे। इन सभी तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत एक संघीय राज्य है, जिसकी सम्प्रभुता में केन्द्र और राज्यों का हिस्सा है।

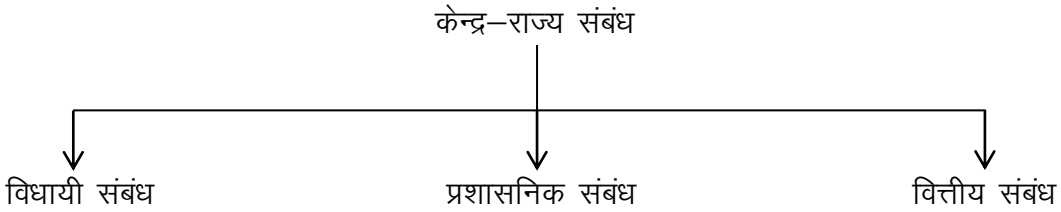

विधायी संबंध :

भारत 28 राज्यों का संघ है। संविधान के अध्याय–1 भाग 11 में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण उपबंध हैं –

अनु. 245 में कहा गया है कि संसद पूरे देश के लिए कानून बना सकती है और राज्य अपने–अपने क्षेत्र के लिए कानून बनाएंगे। संसद को ऐसा कानून बनाने का भी अधिकार है जिसका प्रवर्तन राज्य क्षेत्रातीत होगा।

अनु. 246 में प्रावधान है कि संघीय–सूची के विषय पर केवल संसद ही कानून बना सकती है, राज्य सूची पर राज्य तथा समवर्ती सूची पर केन्द्र तथा राज्य दोनों, परन्तु विवाद की दशा में केन्द्र का कानून ही मान्य होगा। केन्द्र को कानून बनाने की अनन्य शक्ति प्राप्त है।

अनु. 247 में कहा गया है कि संसद को कानून का अधिक अच्छा प्रशासन सुनिश्चित करने के लिए अतिरिक्त न्यायालयों की स्थापना का उपबंध करने की शक्तियाँ प्राप्त हैं।

अनु. 248 के द्वारा अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र को सौंपी गई हैं।

अनु. 249 में कहा गया है कि राज्यसभा में सदन के उपस्थित और मत देने वाले 2/3 सदस्यों के बहुमत से राज्य–सूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्त्व का घोषित किया जा सकता है। अगर ऐसा संकल्प पारित हो जाता है तो वह विषय एक वर्ष तक प्रवर्तन में रहता है और राज्यसभा के बहुमत से संकल्प की अवधि बढ़ायी जा सकती है।

अनु. 250 में प्रावधान है कि यदि संविधान के भाग 18 के अन्तर्गत आपात् की घोषणा की गई है तो उस दौरान संसद राज्यसूची में दर्ज किसी भी विषय पर कानून बना सकती है। यह भी स्पष्ट उल्लेख है कि यदि राज्य और केन्द्र द्वारा बनाए गए किसी कानून में विवाद हो तो केन्द्र का कानून प्रवर्तन में रहेगा। वह कानून आपात के प्रतिसंहरण के बाद अधिक से अधिक 6 माह तक प्रवर्तन में रह सकता है।

अनु. 251 में कहा गया है कि कोई भी कानून इस कारण असांविधानिक नहीं माना जाएगा कि अनु. 249 एवं 250 के अन्तर्गत बनाया गया वह कानून राज्य सरकार द्वारा बनाए गए किसी कानून से असंगत है। इसका अर्थ यह है कि अनु. 249 और 250 के अन्तर्गत बनाया गया कोई भी कानून प्रवर्तन में रहेगा और राज्य द्वारा बनाया गया कानून उस हद तक निलंबित रहेगा जिस सीमा तक वह संघीय कानून के विरुद्ध है।

अनु. 252 के अनुसार दो या अधिक राज्य सरकारों द्वारा आग्रह किए जाने पर संसद राज्य–सूची में दर्ज किसी भी विषय पर कानून बना सकती है। ऐसा कानून केवल

उन राज्यों पर लागू होगा जिन्होंने ऐसा आग्रह किया था। बाद में अन्य राज्य भी उसे स्वीकार कर सकता है लेकिन ऐसे कानून को खारिज या संशोधित करने का अधिकार संसद को रहेगा।

अनु. 253 में कहा गया है कि किसी अन्तर्राष्ट्रीय संधि या करार को क्रियान्वित करने के लिए केन्द्र राज्य–सूची के किसी विषय पर कानून बना सकता है।

अनु. 356 के तहत राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता पर राष्ट्रपति द्वारा संकटकाल की घोषणा किए जाने पर राज्य के विधानमंडल की समस्त शक्तियाँ संसद को प्राप्त हो जाती हैं।

अनु. 304 (ब) के अनुसार कुछ विधेयकों को प्रस्तावित किए जाने से पूर्व राष्ट्रपति की स्वीकृति ली जानी आवश्यक है। वित्तीय संकट संबंधी घोषणा अनु. 360 होने पर राष्ट्रपति विधानमंडलों को यह संदेश भेज सकता है कि वे धन–विधेयकों को पास करके उसके विचारार्थ सुरक्षित रखे।

अनु. 31–'सी' जो सम्पत्ति के अधिकार से संबंधित है। संबंधित विधेयक राज्य विधानमंडल में पास होने के बाद राष्ट्रपति की स्वीकृति मिलने के बाद ही कानूनी रूप धारण करता है।

अनु. 200 के अनुसार राज्यपाल किसी ऐसे बिल की स्वीकृति नहीं दे सकता जिसके कानून का रूप धारण करने पर उच्च–न्यायालय पर बुरा प्रभाव पड़े। ऐसे बिलों को राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित करना होता है। यह व्यवस्था न्यायपालिका के मौलिक हितों की रक्षा के हित में की गई है।

विधायी संबंधों की विशेषताएँ : .

1. केन्द्र के प्रति झुकाव।
2. संसद की प्रमुखता।
3. केन्द्र–सरकार की नियंत्रणकारी शक्ति।
4. शक्तियों का गुथन।
5. राष्ट्रीय कार्यपालिका का नियंत्रण।

एम. वी. पायली ने इस संबंध में ठीक लिखा है कि 'विधायी सत्ता के वितरण की समूची योजना से निसंदेह केन्द्रीयकरण की एक प्रबल प्रवृत्ति प्रकट होती है।" केन्द्र एक वटवृक्ष है जो शाखाओं को अपने अधीन ही पनपने देता है।

प्रशासनिक संबंधः

संविधान के 11वें भाग के दूसरे अध्याय में प्रशासनिक संबंधों का वर्णन किया गया है। अनु. 73 संघ सूची पर केन्द्र को तथा अनु. 162 राज्य–सूची पर राज्यों को प्रशासनिक शक्ति सौंपता है। जहाँ तक समवर्ती सूची का प्रश्न है, इस पर प्रशासनिक शक्ति राज्यों के पास है जब तक संघ–सरकार को कोई आपत्ति न हो। राज्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपनी शक्तियों का प्रयोग इस प्रकार करें कि संघ–सरकार के मार्ग उत्पन्न न हों। कुछ अवसरों पर केन्द्र सरकार राज्यों को निर्देश देने की शक्ति भी रखती है।

संविधान के अनु. 256 के अनुसार राज्य कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग इस प्रकार करें कि संसद द्वारा बनाए गए कानूनों का पालन होता रहे। इस हेतु केन्द्र राज्यों को आवश्यक निर्देश दे सकता है।

अनु. 257 के अनुसार राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग केन्द्र की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग के मार्ग में कोई अड़चन पैदा न करे, अतः केन्द्र राज्यों को निर्देश दे सकता है। राज्य–क्षेत्र में रेल पथ की रक्षा के लिए संघ–सरकार निर्देश दे सकती है।

अनु. 257 'ए' (संविधान के 42वें संशोधन) द्वारा संघ–सरकार को यह अधिकार है कि वह अपनी सैनिक तथा अर्द्ध–सैनिक टुकड़ियों को किसी राज्य में शांति तथा व्यवस्था बनाने के लिए भेजे और ऐसी टुकड़ियाँ केवल केन्द्र के आदेशों पर ही काम करेगी।

अनु. 258 के मुताबिक संघ–सरकार राज्यों को कुछ कार्य सौंप सकती है, राज्य सरकारें संघ की प्रार्थना को अस्वीकार नहीं कर सकती परन्तु इसके लिए व्यय केन्द्र को करना पड़ेगा। इसके विपरीत राज्य सरकारें भी अपना कोई कार्य केन्द्र सरकार को सौंप सकती है जिसका खर्चा राज्यों द्वारा केन्द्र को दिया जाएगा। यदि अतिरिक्त कार्य के लिए खर्चा देने के विषय में कोई विवाद होगा तो इस बारे में भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा नियुक्त मध्यस्थ द्वारा फैसला किया जाएगा तथा उसका निर्णय अन्तिम होगा।

अनु. 260 के अन्तर्गत भारत की संघीय सरकार को किसी विदेशी प्राधिकरण या अधिकरण के साथ करार करने का अधिकार है और ऐसा करके वह ऐसे कार्य को हाथ में ले सकती है जिसका विस्तार उसकी क्षेत्रीय सीमा से बाहर है।

अनु. 261 के अन्तर्गत कहा गया है कि भारत के राज्य क्षेत्र में सर्वत्र, संघ के और प्रत्येक राज्य के सार्वजनिक कार्यों, अभिलेखों और न्यायिक कार्यवाहियों को पूरा विश्वास और पूरी मान्यता दी जाएगी।

भारतवर्ष में बहुत सी ऐसी नदियाँ हैं जो एक से अधिक राज्यों में बहती हैं जिनसे सिंचाई के साथ–साथ विद्युत का भी उत्पादन होता है, इसलिए नदी–जल विवाद राज्यों के मध्य उठना संभव है। अनु. 262 में प्रावधान किया गया है कि अंतर्राज्यीय नदी जल विवादों के निपटारे के लिए संसद कानून बना सकेगी। 1955 में संसद ने एक कानून बनाया जिसके अन्तर्गत ऐसे विवादों का निपटारा भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा नियुक्त अधिकरण द्वारा किया जाएगा।

अनु. 263 के अन्तर्गत प्रावधान है कि राज्यों के बीच उत्पन्न विवादों की जाँच करने और सलाह देने, राज्यों के अथवा संघ और एक या अधिक राज्यों के सामान्य हित से संबंधित विषयों के अन्वेषण और उन पर विचार–विमर्श करने के लिए अन्तर्राज्यीय परिषद् का गठन किया जा सकता है। इस परिषद् का गठन तो 1990 में कर दिया गया लेकिन यह परिषद् मात्र परामर्शदात्री संस्था है।

संविधान द्वारा संघ सरकार को अखिल भारतीय सेवाओं के गठन, संगठन, भर्ती एवं सेवाशर्तों को निर्धारित करने का अधिकार है। इन सेवाओं की दो प्रमुख इकाई भारतीय प्रशासनिक सेवा (I.A.S.) तथा भारतीय पुलिस सेवा (I.P.S.) है, इन सेवाओं के सभी उच्च पदाधिकारी राज्यों में उच्च पदों पर स्थित होते हैं। संघ सरकार का इन पदाधिकारियों पर पूर्ण नियंत्रण रहता है इनके माध्यम से संघ सरकार राज्यों के प्रशासन पर नियंत्रण रखती है। यद्यपि इन सेवाओं के सदस्यों द्वारा वेतन, भत्ते आदि राज्य सरकारों से प्राप्त किए जाते हैं लेकिन इनकी वेतन–शृंखला और अन्य उपलब्धियों का निर्धारण केन्द्र सरकार द्वारा किया जाता है। इन अधिकारियों के विरुद्ध किसी भी प्रकार की अनुशासनात्मक कार्यवाही संघीय गृह–मंत्रालय द्वारा संघ लोक सेवा आयोग के परामर्श के आधार पर की जाती है। अखिल भारतीय सेवाएँ राज्य सरकारों पर केन्द्र के नियंत्रण का पैना हथियार है।

योजना–आयोग का मुख्य कार्य तो योजनाएँ बनाना है परन्तु ये योजनाएँ राज्यों की भी होती हैं। राज्यों को अपनी योजनाओं के लिए अनुमति तथा साधन केन्द्र से लेने पड़ते हैं और उनकी प्रगति की रिपोर्ट केन्द्र को देनी होती है अतएव केन्द्र का हस्तक्षेप बढ़ जाता है।

अनु. 339 (2) के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार किसी राज्य को उन योजनाओं की रूपरेखा देने तथा लागू करने संबंधी निर्देश दे सकती है जो राज्यों में रहने वाली अनुसूचित आदिम जातियों (ST) के कल्याण के लिए जरूरी समझी गयी हों।

अनु. 350–'ए' के प्रावधानानुसार प्रत्येक राज्य तथा राज्य–अधिकारी से केन्द्र सरकार यह माँग कर सकती है कि वे उन लोगों के बच्चों को जो भाषा के आधार पर अल्पसंख्यक माने जाते हैं, मातृभाषा में प्रारम्भिक शिक्षा संबंधी सुविधा प्रदान करें। राष्ट्रपति राज्य–सरकारों को आवश्यक निर्देश दे सकते हैं।

अनु. 352 के अन्तर्गत जब राष्ट्रपति आपातकाल की घोषणा करता है तो समस्त राज्य प्रशासन केन्द्र के नियंत्रण में आ जाता है। अनु. 360 के अन्तर्गत वित्तीय आपात की घोषणा के समय केन्द्रीय सरकार को राज्य के वित्तीय मामलों में निर्देश देने की शक्ति मिल जाती है।

अनु. 355 के प्रावधान के अनुसार केन्द्र का दायित्व है कि वह प्रत्येक राज्य की बाह्य आक्रमण व आंतरिक उपद्रव की स्थिति में रक्षा करे। केन्द्र राज्य की इच्छा के विरुद्ध भी सुरक्षा का कदम उठा सकता है।

अनु. 356 के तहत संघ सरकार अपने निर्देशों को लागू करने की बाध्यकारी शक्ति रखती है। यदि राज्य–सरकार संघ के निर्देशों का पालन न करे तो राष्ट्रपति संकटकाल की घोषणा करके राज्य का प्रशासन अपने हाथ में ले सकता है।

केन्द्र–सरकार और भी कई तरह से अपने निर्देशन तथा नियंत्रण के सामान्य अधिकारों का प्रयोग करती है। राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और वह उसे हटा भी सकता है। राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त निर्वाचन आयोग देश में चुनाव संबंधी कार्यों की देखरेख करता है। नियंत्रण तथा महालेखा परीक्षक तथा जाँच एजेन्सियों के माध्यम से केन्द्र राज्यों को नियंत्रित करता है।

संविधान के अनु. 307 के अनुसार संसद अन्तर्राज्यीय व्यापार–वाणिज्य से संबंधित संवैधानिक प्रावधानों की क्रियान्विती के लिए एक प्राधिकारी नियुक्त कर सकती है।

भारत को पाँच क्षेत्रों केन्द्रीय–क्षेत्र, दक्षिणी–क्षेत्र, पश्चिमी–क्षेत्र, पूर्वी क्षेत्र तथा उत्तरी क्षेत्र में विभाजित किया गया है। प्रत्येक क्षेत्र के लिए एक क्षेत्रीय परिषद् है। यह क्षेत्र के सभी राज्यों तथा संघ के सामान्य विषयों पर विचार–विमर्श करती है।

स्पष्ट है कि प्रशासनिक दृष्टि से राज्यों पर केन्द्र का नियंत्रण पर्याप्त रहता है। राज्यपालों की भूमिका तथा नौकरशाही की कार्यप्रणाली को लेकर कई दफा विवाद उत्पन्न हुए हैं। कानून तथा व्यवस्था के मुद्दे पर राज्यों को केन्द्रीय निर्देश देना, संवैधानिक–कृत्य है परन्तु राज्य–सरकारें कई बार इसे राज्य के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप की संज्ञा दे चुकी है। आर्थिक–नियोजन के मामलों में संघ कई बार राज्यों की प्राथमिकता पर ध्यान दिए बिना योजना–थोपता रहता है, यह प्रवृत्ति ठीक नहीं है, इससे आर्थिक केन्द्रीयकरण बढ़ जाता है। केन्द्रीयकरण की विद्यमान प्रवृत्ति के बावजूद भी राज्यों के हाथों में देश के शासन का बड़ा हिस्सा है। त्रिशंकु–बहुमत तथा क्षेत्रीय दलों की बढ़ती भूमिका ने केन्द्र को बाध्य कर दिया है कि वह राज्यों को भी ध्यान में रखे। राष्ट्रीय–एकता और तीव्र आर्थिक विकास के लिए शक्तिशाली केन्द्र का होना जरूरी है लेकिन इसके साथ यह भी आवश्यक है कि केन्द्र द्वारा राज्यों के संबंध में शक्तियों का प्रयोग संविधान की भावना के आधार पर करें, दलीय हितों को बीच में न आने दें। संघ–राज्य संबंधों में जो तनाव के मुद्दे उभरे हैं, वे संवैधानिक कम हैं और दलीय–भावना से अधिक प्रेरित हैं।

वित्तीय संबंधः

संविधान के भाग 12 में केन्द्र और राज्यों के वित्तीय संबंधों को निर्दिष्ट किया गया है। सन् 1935 के भारत–सरकार अधिनियम का अनुसरण करते हुए भारतीय संविधान संघ और राज्यों के वित्तीय साधनों का यथासंभव स्पष्ट विभाजन किया गया है। संविधान की 7वीं अनुसूची में संघ और राज्यों के कर विषयों का उल्लेख है। संघ सूची के सभी विषयों पर कानून बनाने तथा कर लगाने का अधिकार केन्द्र को है। राज्य–सूची के सभी विषयों पर कर लगाने का अधिकार राज्यों को है। समवर्ती सूची में शामिल विषयों पर कर नहीं लगाया जा सकता। संविधान में यह व्यवस्था है कि संघ अपने करों से प्राप्त आय को पूर्णतः या अंशतः राज्यों में वितरित करेगा। इस प्रकार के करों को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है–

1. वे कर तथा शुल्क जो पूरी तरह संघ–सरकार के अधिकार में है। उदाहरणार्थ–सीमा शुल्क जिसमें निर्यात शुल्क भी शामिल है। नगरपालिका कर, संपत्ति की पूँजी पर कर आदि। इसमें व्यक्तियों और कंपनियों की कृषि भूमि शामिल नहीं है।

2. संघ द्वारा लगाए और वसूले जाने वाले कर जिन पर संघ तथा राज्यों के बीच विभाजन होता है : कृषि आय को छोड़कर अन्य प्रकार की आय पर कर, तंबाकू तथा शराब और मादक औषधियों को छोड़कर भारत में बनने वाली अन्य वस्तुओं पर आबकारी कर।

3. वे कर जो संघ द्वारा लगाए और उगाहे जाते हैं और अनु. 269 (2) के अनुसार राज्यों को बाँट दिए जाते हैं–कृषि भूमि को छोड़कर अन्य किसी तरह की सम्पत्ति के संदर्भ में भू–शुल्क तथा उत्तराधिकारी शुल्क, रेल्वे भाड़ा और माल पर लगने वाले कर, शेयर बाजार आदि पर लगने वाले कर।

4. वे कर तथा शुल्क जिन्हें केन्द्र लगाता है किन्तु जिनकी वसूली तथा विनियोजन का कार्य राज्यों द्वारा किया जाता है। केन्द्रशासित प्रदेशों में उनकी होने वाली आय केन्द्र को प्राप्त होती है। जैसे– मुद्रांक शुल्क, औषधिकर तथा प्रसाधन सामग्री पर लगने वाले कर।

केन्द्रीय करों में से राज्यों का अंशदान देने के बाद भी सभी राज्यों के संसाधन पर्याप्त नहीं हो पाते। इसलिए संविधान के अनुसार संघ प्रत्येक वर्ष ऐसे राज्यों को सहायता अनुदान देता है जिनके संबंध में संसद यह सिद्ध करे कि उन्हें सहायता की आवश्यकता है। बाढ़, भूकम्प, सूखाग्रस्त क्षेत्रों में पीड़ितों की सहायता के लिए अनुदान संघ–सरकार देती है। जनजातियों एवं कबीलों के उन्नति एवं कल्याण के लिए भी संघ राज्यों को अनुदान देता है।

केन्द्र सरकार अपनी संचित निधि की साख पर उधार ले सकती है। विदेशी सरकारों से ऋण लेने का संघ को अधिकार है। राज्य सरकारें भी संघ–सरकार से कर्ज ले सकती हैं, लेकिन राज्यों की उधार लेने की शक्ति पर प्रतिबंध है कि

(क) कोई भी राज्य भारत बाहर से कर्ज नहीं ले सकता।

(ख) किसी ऐसे राज्य को केन्द्रीय–सरकार तब तक उधार देने से इंकार कर सकती है जब तक कि राज्य ने पिछला ऋण चुकता न कर दिया हो।

(ग) यदि पिछला बकाया रहते हुए भी राज्य धन उधार लेने का अनुरोध करे तो केन्द्र–सरकार को अधिकार है कि वह उन शर्तों के साथ उधार दे जिन्हें लगाना वह उचित समझे। भारत में राज्य सरकारें ओवर–ड्राफ्ट के भार से दबी पड़ी हैं। अतः उन्हें संघ की अधिकांश शर्ते माननी पड़ती हैं । केन्द्र अवांछनीय शर्ते लादने से हमेशा बचता रहा है। ओवर–ड्राफ्ट लेने की प्रवृत्ति पिछले 10–15 वर्षों में बढ़ी है इससे भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा तथा संघ राज्य के वित्तीय संबंधों में तनाव में अभिवृद्धि हुई है।

संविधान के अनुच्छेद 285 के अनुसार राज्य सरकारें संघीय सम्पत्ति पर या भारत सरकार द्वारा उपयोग की जाने वाली बिजली पर कर नहीं लगा सकती। अनु. 289 के अनुसार भारत सरकार राज्य की सम्पत्ति और राज्य की आय पर कर नहीं लगा सकती परन्तु यदि राज्य कोई व्यापार या कारोबार करता है तो भारत सरकार उस पर कर लगा सकती है।

वित्तीय आपातकाल की घोषणा (अनु. 360) के समय राष्ट्रपति द्वारा वित्तीय मामलों में राज्यों को निर्देश दिया जाता है तथा राज्य के पदाधिकारियों के वेतन में कटौती की जा सकती है। सहायता अनुदान अथवा संघ के करों को राज्यों में बाँटने से संबंधित प्रावधानों को राष्ट्रपति स्थगित कर सकता है।

संघ और राज्यों के बीच करों के बंटवारे, भारत की संचित निधि से राज्यों के अनुदान की राशि, वित्त के स्थायित्व और सुदृढीकरण तथा अन्य वित्तीय विषयों पर परामर्श लेने के लिए संविधान के अनुच्छेद 280 में वित्त–आयोग के गठन की व्यवस्था है। अनु. 280 के अनुसार राष्ट्रपति स्वविवेक से प्रति पाँच वर्ष बाद या इससे पूर्व एक वित्त आयोग का गठन करेगा। आयोग द्वारा की गई सिफारिशों को राष्ट्रपति संसद के समक्ष रखवाता है। वित्त आयोग में एक सभापति तथा चार अन्य सदस्य होते हैं। केन्द्र तथा राज्य सरकारों के बीच जटिल वित्तीय समस्याओं को सुलझाने के लिए सांविधानिक उपकरण के रूप में वित्त आयोग की भूमिका बहुत ही प्रमुख रही है। यह एक ओर निरन्तर अधिक वित्त की माँग करने वाले राज्यों में राजनीतिक दबाव से संघ की रक्षा करता है वहीं दूसरी ओर आवश्यकताग्रस्त राज्यों को यथासंभव सहायता देने के लिए संघ को विवश करता है। इसके लिए निरंतर 1951 से वित्त आयोगों का गठन होता रहा है।

नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। वह सारे देश की वित्तीय स्थिति का प्रहरी है। राज्यों के अपने लेखा–परीक्षक होते हैं परन्तु वे इसी पदाधिकारी के नियंत्रण तथा निर्देशन में कार्य करते हैं। वह इस बात का निर्धारण करता है

कि संघ और राज्यों के आय–व्यय के लेखे किस प्रकार रखे जायेंगे, वह उन लेखों का लेखा परीक्षण करता है तथा वर्ष के अन्त में अपनी टिप्पणी सहित राष्ट्रपति या राज्यपाल के सम्मुख लेखों को प्रस्तुत करता है।

योजना–आयोग तथा योजनाओं ने संघ–राज्य संबंधों को केन्द्रोन्मुख बना दिया।

उपर्युक्त संवैधानिक उपबंधों से स्पष्ट है कि केन्द्र ने लचीले राजस्व के सभी साधन अपने पास रखे हैं, राज्यों को बहुत सीमित वित्तीय संसाधन दिए गये हैं। वित्तीय–साधनों का बंटवारा उल्टे–पिरामिड के स्वरूप में किया गया है। वहीं राज्य–सरकारें सस्ती लोकप्रियता के कारण करारोपण नहीं कर पाती, हर समय केन्द्र का मुँह ताकती रहती है। स्वयं के वित्तीय साधनों को बढ़ाने पर ध्यान नहीं देती। केन्द्र से खैरात की ख्वाहीश में ओवर–ड्राफ्ट का भार दिनों–ब–दिन बढ़ता जा रहा है। केन्द्र निश्चित रूप से 'बड़ा भाई है लेकिन समय रहते 'छोटे–भाई' भी स्वावलम्बी और आत्मनिर्भर बन जावें तो सोने में सुहागा होगा।

केन्द्र–राज्य संबंधों में तनाव के मुद्दे :

पंडित जवाहर लाल नेहरू के शासनकाल में तो संघीय सरकार तथा राज्यों के बीच पूर्ण सहयोग बना रहा। प्रथम तो इसलिए कि पंडित नेहरू का कांग्रेस दल तथा राज्यों में इतना प्रभाव था कि किसी मुख्यमंत्री के लिए केन्द्र के विरुद्ध किसी प्रकार की आवाज उठाना ही संभव नहीं था। दूसरे केन्द्र तथा राज्यों में कांग्रेस दल की सरकार होने से नीति संबंधी कोई मतभेद नहीं था। फिर भी राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू होने पर विरोधी दल आवाज उठाते रहते थे कि उन्हें मंत्रिमंडल बनाने का मौका ही नहीं दिया गया। नेहरू की मृत्यु के बाद विशेषतः चतुर्थ आम चुनाव 1967 के परिणामस्वरूप देश की राजनीतिक–अवस्था में एक महान् परिवर्तन आ गया। चतुर्थ आम चुनावों को मतपत्र की क्रांति की संज्ञा दी जाती है। लगभग आधे राज्यों में गैर–कांग्रेसी सरकारों का निर्माण हुआ। संसद में कांग्रेस को पहले जैसा बहुमत नहीं मिला। नेहरू जैसा वटवृक्ष' नहीं रहा जो कांग्रेस को एक सूत्र में बाँध सके। राज्यों की गैर–कांग्रेसी सरकारें केन्द्र से अधिकाधिक हिस्सेदारी की माँग करने लगी, परिणामस्वरूप केन्द्र तथा राज्यों के बीच झगड़े आरम्भ हो गये। किसी विचारक ने ठीक ही कहा है कि केन्द्र–राज्य संबंध सांविधानिक उपबंध पर निर्भर नहीं करते वरन् दलीय संबंधों पर निर्भर करते हैं। राज्य अपनी निजी समस्याओं के लिए भी केन्द्र को दोष देते देखे जा सकते हैं वहीं केन्द्र भी कई दफा राजनीतिक दुराग्रह की नीति से राज्यों को सहायता देने में आनाकानी करता है। 1967 में केरल के मुख्यमंत्री

निम्बूद्रीपाद ने राज्य में अन्न का संकट होने पर केन्द्रीय सरकार की आलोचना की और कहा कि "यदि केन्द्र केरल राज्य के प्रति अन्न संबंधी अपने वचन को पूरा नहीं करेगा तो मुझे विवश होकर इस समस्या को सुलझाने के लिए चीन के साथ प्रबन्ध करना पड़ेगा।" विगत वर्षों में विधायी, प्रशासनिक तथा वित्तीय संबंधों के प्रश्नों पर केन्द्र तथा राज्यों में गहरे मतभेद उभरे हैं। राज्यों की सबसे बड़ी शिकायत केन्द्र से यह है कि केन्द्र शक्तियों का 'सकेन्द्रण कर रहा है। केन्द्र की शिकायत यह है कि राज्य हाथ पर हाथ धरे, सस्ती लोकप्रियता के लिए वित्तीय संसाधनों में अभिवृद्धि नहीं करते, केन्द्र से खैरात की जुगत में रहते हैं।

संक्षेप में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य उत्पन्न हुए तनावों के निम्नलिखित कारण हैं–

1. राज्यपाल का पद दोहरी हैसियत का पद है। एक हैसियत में वह राज्य सरकार का संवैधानिक मुखिया है। इस हैसियत से उससे यह अपेक्षित है कि वह ब्रिटिश–सम्राट की भाँति मुख्यमंत्री की सलाह से कार्य करेगा। दूसरी हैसियत से वह केन्द्र का नुमाइंदा है। राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है, उसका एक राज्य से दूसरे राज्य में स्थानान्तरण किया जा सकता है और उसे वापिस भी बुलाया जा सकता है, इसलिए उसे केन्द्र में बैठे स्वामियों के प्रति निष्ठा प्रकट करनी होती है। यही कारण है कि जब केन्द्र तथा राज्य में अलग–अलग दल की सरकारें होती हैं तो राज्यपाल का पद विवाद का विषय बन जाता है। 1967 के बाद कई बार राज्यपाल का अन्ध स्वार्थपरता के रूप में इस्तेमाल किया गया। राज्यपाल जब संवैधानिक दायित्व को भुलाकर केन्द्र के हाथों में कठपुतली बन जाता है तो केन्द्र तथा राज्यों में तनाव उत्पन्न हो जाता है। राज्यपाल सक्रिय राजनीतिज्ञ बनने की तुलना में रेफरी की भूमिका का निर्वाह करें तो संभव है तनाव या मतभेद उभरे ही नहीं।

2. केन्द्र–राज्य संबंधों में संघर्ष या मतभेद का दूसरा प्रमुख मुद्दा अनु. 356 है। इस अनुच्छेद के अनुसार किसी राज्य में आपात की घोषणा इस आधार पर की जा सकती है कि वहाँ सांविधानिक–गतिरोध है, संविधान के उपबंधों के अनुसार राज्य का शासन नहीं चलाया जा रहा है। केन्द्र के हाथ में यह एक प्रकार का राजनैतिक हथियार है। सन् 1977 में मोरारजी देसाई की जनता–सरकार ने नौ राज्य सरकारों को अपदस्थ किया और तीन वर्ष बाद श्रीमती इन्दिरा गाँधी की सरकार ने भी ऐसा ही किया। राजनीतिक–दूराग्रहों से राज्य सरकारों को अपदस्थ करना अलोकतांत्रिक है।

3. केन्द्र–राज्य संबंधों में मतभेदों का तीसरा बड़ा कारण वित्तीय संसाधनों का केन्द्रीयकरण है। सभी राज्य सरकारें अधिक से अधिक धन की माँग करती हैं, उनका तर्क यह रहता है कि आय के सभी प्रमुख साधन केन्द्र के हाथ में हैं, इसलिए वे चाहते हैं कि राजस्व के मामले में राज्यों को भी हकं मिलना चाहिए। 1971 में राजमन्नार समिति ने सझाया था कि वित्तीय अधिकारों का विकेन्द्रीकरण करके राज्यों को अधिक वित्तीय अधिकार दिए जावें। केन्द्र सरकार ने इस आयोग की इस माँग को स्वीकार नहीं किया। 1973 में अकाली नेताओं ने आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव में भी राज्यों के लिए अधिक वित्तीय अधिकारों की पुरजोर माँग की ताकि राज्यों को केन्द्र की भीख पर निर्भर न रहना पड़े। ये प्रस्ताव भी केन्द्र सरकार ने स्वीकार नहीं किया। ऐसी परिस्थितियों में राज्य–सरकारों के पास केवल एक ही रास्ता शेष बचा कि वे अपना हिस्सा बढवाने के लिए हर पाँच वर्ष के बाद वित्त–आयोग के समक्ष अपना ज्ञापन रखे।

4. केन्द्र–राज्य संबंधों में मतभेद का चौथा प्रमुख मुद्दा 'आयोजना' का है। आर्थिक तथा सामाजिक आयोजन एक समवर्ती विषय है। लेकिन केन्द्र ने 'योजना' बनाने का सारा काम अपने हाथ में ले लिया है। 1950 में पंडित जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में योजना आयोग का गठन किया था और तब से अब तक वह उसी रूप में कायम है। प्रधानमंत्री योजना–आयोग का अध्यक्ष होने के कारण, योजना के तकनीकी पक्ष पर राजनीतिक पक्ष हावी हो जाता है। योजना–आयोग एक गैर–संवैधानिक परामर्शदात्री निकाय है परन्तु इस निकाय ने संवैधानिक निकाय वित्त–आयोग को पछाड़ दिया है। 1952 में पंचवर्षीय योजनाओं के प्रारूप पर विचार करने के लिए पंडित जवाहर लाल नेहरू ने राष्ट्रीय विकास परिषद का गठन किया जिसमें सभी मुख्यमंत्रियों को शामिल किया गया। यह प्रबन्ध आयोजन के संबंध में राज्यों का सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से किया गया। लेकिन योजना का प्रारूप योजना आयोग द्वारा तैयार किया जाता है। राष्ट्रीय विकास परिषद में तो उस पर मात्र चर्चा की जाती है, अधिकांश मुख्यमंत्री प्रधानमंत्री का समर्थन करते हैं, इसलिए प्रधानमंत्री द्वारा तैयार की गई योजना का अंततः अनुमोदन कर दिया जाता है, ऐसे में उन राज्यों का सहयोग नहीं मिलता जिनकी केन्द्र सरकार में सहभागिता नहीं होती। 1967 में एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई जब केरल के मार्क्सवादी मुख्यमंत्री निम्बूद्रीपाद और पश्चिमी बंगाल के मार्क्सवादी मुख्यमंत्री ज्योति बसु ने राष्ट्रीय विकास परिषद् की बैठक में भाग लिया। उन्होंने पंचवर्षीय योजना का अपना ही प्रारूप विचारार्थ प्रस्तुत किया, इसकी अनुमति नहीं दी गई इसलिए वे दोनों बैठक से उठकर चले गए।

5. केन्द्र–राज्य संबंधों में तनाव का पाँचवां प्रमुख मुद्दा राज्यों द्वारा स्वायत्तता की माँग है। प्रत्येक संघीय व्यवस्था में इकाइयों को अपने आवंटित क्षेत्र में पूरी स्वायत्तता प्राप्त होती है। भारत में इकाइयों को आवंटित–क्षेत्र में स्वायत्तता का क्षेत्र बहुत सीमित है। जम्मू और कश्मीर के पूर्व मुख्यमंत्री शेख अब्दुल्ला प्रायः यह आग्रह करते थे कि केन्द्र के पास केवल प्रतिरक्षा, संचार, विदेशी मामले और मुद्रा आदि से संबंधित सीमित अधिकार होने चाहिए अन्य सभी कार्य राज्यों को सौंप दिए जावें। 1973 में आन्नदपुर साहिब प्रस्ताव में भी राज्यों के लिए और भी अधिक अधिकारों की माँग की गई। भारत–सरकार का कहना है कि मौजूदा प्रबन्ध संतोषप्रद है और राज्यों को और अधिकार दिए जाने की जरूरत नहीं है।

6. केन्द्र–राज्य संबंधों में तनाव के अन्य कारण निम्न हैं–

(अ) सांविधानिक उपबंधों ने केन्द्रीय–केन्द्रीयकरण को बढ़ावा दिया है। शक्ति विभाजन केन्द्र के पक्ष में है।

(ब) राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के लिए आरक्षित विधेयकों पर राष्ट्रपति की मंजूरी की अवधि तय नहीं है।

(स) दूरदर्शन तथा आकाशवाणी पर सीधा केन्द्र का नियंत्रण है, राज्यों को पर्याप्त अवसर नहीं दिए जाते।

(द) अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारियों का कार्यक्षेत्र तो राज्यों में रहता है लेकिन उन पर नियंत्रण केन्द्र का रहता है, उन पर अनुशासनात्मक नियंत्रण गृह मंत्रालय का होने के कारण वे राज्यों के हितों तो कम ही महत्त्व देते हैं।

(य) संघ और राज्यों के बीच अथवा राज्यों के बीच उठने वाले विवादों का समाधान करने हेतु एक मंच के रूप में अन्तर्राज्यीय परिषद का गठन 1990 में किया गया लेकिन यह संस्था मात्र परामर्शदात्री है। विवादों को हल करने का कोई प्रभावी मंच नहीं है।

(र) संघ राज्यों में सुरक्षा बलों की तैनाती कर सकता है, इससे केन्द्र तथा राज्यों में तनाव बढ़ता है।

(ल) केन्द्र किसी राज्य के मुख्यमंत्री के विरुद्ध जाँच–आयोग गठित कर सकता है।

(व) पंचायतीराज को संवैधानिक दर्जा देने से (73वें संशोधन) केन्द्र राज्य सरकारों को आवश्यक दिशा–निर्देश दे सकता है।

केन्द्र राज्य संबंधों में आए तनावों को सांविधानिक दायरे में ही हल किया जा सकता है।

सरकारिया–आयोग की सिफारिशें:

सन् 1983 में आर. एस. सरकारिया की अध्यक्षता में पंजाब में अकालियों के आंदोलन से पैदा हुई हिंसक परिस्थिति में केन्द्र–राज्य संबंधों पर विचार करने के लिए तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने एक आयोग की स्थापना की। शुरू में यह आयोग एक सदस्यीय था, बाद में दो अन्य सदस्य एस. शिवरामन तथा एस. आर. सेन को शामिल किया गया। आरम्भ में इस आयोग का कार्यकाल एक वर्ष रखा गया, बाद में बढ़ा दिया गया। 1985 में राजीव लोंगोवाल समझौते के परिणामस्वरूप इसे आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव पर विचार करने का काम सौंपा गया और आयोग का कार्यकाल बढ़ा दिया गया। आयोग ने देश के विभिन्न राजनीतिक दलों, संविधान–विशेषज्ञों, मुख्यमंत्रियों तथा प्रबुद्धजनों से व्यापक विचार–विमर्श किया। चार वर्षों की कठोर साधना और श्रम से तीन खंडों में विभक्त 4900 पृष्ठों में प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमें कुल 247 सिफारिशें सुझायी गई। इस आयोग ने नव. 1987 में सरकार को अपनी सर्वसम्मत रिपोर्ट पेश की। आयोग ने एक सबल केन्द्र पर बल देते हुए भी सहकारी संघ की अवधारणा को सुदृढ़ करने की सिफारिशें की। आर.एस. सरकारिया का मत है कि हमें सबल केन्द्र की सख्त जरूरत है। इसके बिना तो मानो सब कुछ बिखर जाएगा। सबसे अच्छे गुलाब तो कलमों से पैदा होते हैं बशर्ते तना मजबूत हो, तना नरम हो तो बात नहीं बनती। संविधान में संघ तथा राज्यों के मध्य अधिकारों के मध्य विभाजन किया गया है, जो उचित है क्योंकि उसमें सबल केन्द्र तथा राज्यों की स्वायत्तता की आवश्यकताओं का पूरा ध्यान रखा गया है। देश की एकता और अखंडता के लिए केन्द्र सरकार के अधिकारों पर अंकुश लगाना उचित नहीं है।

अनु. 263 के प्रावधानों के अनुसार अन्तर्राज्यीय परिषद् का गठन हो, इसमें राज्यों के मुख्यमंत्री शामिल हों। यह आर्थिक तथा सामाजिक नियोजन और विकास के अतिरिक्त राज्यों से संबंधित अन्य मामलों पर भी विचार करे। – अनु. 356 का प्रयोग अन्तिम विकल्प के रूप में किया जावे। राज्य में राष्ट्रपति शासन कम से कम लागू किया जाए एवं लागू करने से पूर्व वैकल्पिक सरकार बनाने की सभी संभावनाओं पर विचार कर लिया जाए। आपातकाल की घोषणा के बाद जब तक इसे संसद की स्वीकृति न मिले तब तक राज्य की विधानसभा को भंग नहीं किया जावे। इस हेतु संविधान के अनु. 356 में संशोधन किया जावे।

राज्यपाल के विषय में आयोग ने सुझाया कि सक्रिय राजनीतिज्ञों को राज्यपाल नियुक्त नहीं किया जावे। जव केन्द्र तथा राज्यों में अलग–अलग राजनीतिक दलों की

सरकारें हों तो राज्यपाल केन्द्र के राजनीतिक दल का नहीं होना चाहिए और सेवानिवृत्त राज्यपाल को किसी लाभ के पद पर नहीं रखा जाना चाहिए। असाधारण परिस्थितियों को छोड़कर सामान्यतः राज्यपाल को कार्यकाल में अन्य राज्य में स्थानान्तरित नहीं किया जावे। राज्यपाल की नियुक्ति से पूर्व राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श कर लिया जाना चाहिए विशेषकर ऐसी स्थिति में जब राज्य में किसी अन्य दल का शासन हो।

केन्द्र द्वारा प्रायोजित परियोजनाओं की संख्या कम की जानी चाहिए। राज्यों की ऋण देने की रीति–नीति पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए।

राज्यों में केन्द्रीय रक्षा बलों की नियुक्ति करने का केन्द्र को निर्णय लेने का पूरा अधिकार है। यदि केन्द्र चाहे तो राज्य सरकार की इच्छा के विरुद्ध भी राज्य में सुरक्षा बल तैनात कर सकता है। परन्तु आयोग का सुझाव है कि जहाँ संभव हो राज्यों की सलाह ली जानी चाहिए।

आयोग ने नई अखिल भारतीय सेवाएँ, इन्जीनियरिंग, चिकित्सा, शिक्षा, कृषि, सहकारिता और उद्योग के लिए गठित करने का सुझाव दिया। अखिल भारतीय सेवाएँ क्षेत्रीय अनेकता में एकता स्थापित करने में बहुत सहायक सिद्ध हुई हैं। इन सेवाओं को समाप्त करने या किसी राज्य को व्यवस्था के बाहर रहने का विकल्प देने का परिणाम प्रतिगामी रहेगा। प्रशासन की अखंडता, समरूपता, दक्षता और समायोजन प्रभावित होंगे। इन सेवाओं को मजबूत बनाने के लिए केन्द्र तथा राज्यों में समय–समय पर बातचीत होनी चाहिए। आयोग ने सुझाया कि देश की एकता और अखंडता के लिए त्रिभाषा–फार्मूला सभी राज्यों में सच्चे अर्थों में लागू किया जावे।

योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद् के संबंध में आयोग का कहना था कि योजना–आयोग केन्द्र सरकार के नियंत्रण में रहे और इसके विचार–विमर्श के विषय में स्वस्थ परम्पराएँ विकसित की जाए। आयोग के उपाध्यक्ष की नियुक्ति राजनीतिक आधार पर न की जावे वरन् एक योग्य तथा विशेषज्ञ व्यक्ति हो। राष्ट्रीय विकास परिषद् का नाम बदलकर राष्ट्रीय आर्थिक और विकास परिषद कर देना चाहिए। राष्ट्रीय विकास परिषद् को और अधिक प्रभावशाली बनाया जाए तथा क्षेत्रीय परिषदों को सक्रिय किया जाए। केन्द्र सरकार को राज्य के मुख्यमंत्री या पूर्व मुख्यमंत्री के विरुद्ध पद के दुरुपयोग के आरोपों की जाँच के लिए जाँच–आयोग नियुक्त करने का अधिकार हो। ऐसे प्रस्ताव पर संसद के दोनों सदनों का अनुसमर्थन आवश्यक हो ताकि इस शक्ति का दुरुपयोग न किया जा सके।

केन्द्र तथा राज्यों के सामान्य हितों पर विचार करने के लिए एक 'उच्च–मंत्रिमंडल' बनाया जावे जिसमें प्रधानमंत्री, सभी केन्द्रीय मंत्री और राज्यों के मुख्यमंत्री शामिल हो।

वित्त–आयोग की कार्यसूची का निर्धारण राज्य सरकारों के विचार–विमर्श के बाद किया जाना चाहिए। राज्य–स्तर पर भी ऐसे विशेषज्ञ निकाय होने चाहिए।

आयकर तथा उत्पादन शुल्क के बंटवारे को उचित व्यवस्था की जावे। संविधान में संशोधन करके निगम कर का राज्यों के साथ बंटवारा किया जावे।

राज्य के विधेयकों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति मिलने तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के समय में होने वाले विलम्ब को रोका जाना चाहिए।

आयोग ने यह भी सुझाया कि जनसंचार के माध्यमों को संघ–सरकार के अधीन रखा जावे। एक वाजिब सीमा तक विकेन्द्रीकरण कर दिया जावे। राष्ट्रीय हितों और राज्यों की आकांक्षाओं के बीच संतुलन कायम करने से संचार माध्यमों का प्रयास करना चाहिए।

सरकारिया आयोग ने यह भी सिफारिश की कि समवर्ती सूची के विषयों पर कानून बनाने में केन्द्रको संयम से काम लेना चाहिए। इन विषयों पर कानून बनाने से पूर्व केन्द्र और राज्यों में खुलकर विचार–विमर्श होना चाहिए। आयोग ने यह भी सुझाया कि संघ–सरकार द्वारा किसी राज्य के क्षेत्र को उपद्रवग्रस्त घोषित करने से पूर्व संबंधित राज्य–सरकार से मशविरा करना चाहिए। स्थानीय स्वशासन के निकायों तथा पंचायतीराज तथा शहरी स्थानीय निकायों नगरपरिषद, नगरपालिका तथा नगरनिगम आदि के नियमित चुनाव हों, अधिवेशन की संख्या निश्चित की जावे। इन संस्थाओं के वित्तीय साधनों को बढ़ाने का प्रयास किया जावे।

अन्तर्राज्यीय नदी जल विवाद के संबंध में आयोग ने सिफारिश की कि जैसे ही किसी राज्य से तत्संबंधी शिकायत प्राप्त हो, संघीय सरकार को अविलम्ब न्यायाधिकरण की स्थापना कर देनी चाहिए। इस न्यायाधिकरण का निर्णय बाध्यकारी हो।

इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सरकारिया–आयोग ने केन्द्र–राज्य संबंधों के कार्यात्मक पक्ष पर महत्त्वपूर्ण सिफारिशें की, राष्ट्रीय एकता और अखंडता के मध्य नजर सशक्त केन्द्र को अनिवार्य माना।

स्पष्टतः एक मजबूत केन्द्र के बावजूद झुकाव केन्द्र और राज्यों के बीच सहयोगी साझेदारी की ओर है। सहयोगी साझेदारी में स्वतंत्रता और परस्पर निर्भरता दोनों बातें होती

हैं। समय–समय पर आयोग गठित कर देने या केन्द्र की आलोचना मात्र करने की 'शतुर–मुर्ग नीति' को छोड़ना होगा। केन्द्र राज्य संबंधों में पैदा हुए विरोधाभासों को समाप्त करने के लिए देश के बड़े राजनीतिक दलों को आम सहमति बनानी पड़ेगी। साफ नीति और नियत से कार्य करना होगा। केन्द्र में गठबंधन सरकारों का दौर आरम्भ हो चुका है, गठबंधन में सभी विचारधाराओं वाले घटक होते हैं, कई क्षेत्रीय राजनीतिक दल भी हैं इन दलों का उद्देश्य केन्द्र सरकार के माध्यम से क्षेत्रीय–हितों की रक्षा करना है। वहीं दूसरी ओर भारत में पृथकतावादी ताकतें भी मुँह बाये खड़ी हैं उन से राष्ट्रीय अस्मिता की रक्षा करनी है। इसलिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है कि केन्द्र शक्तिशाली हो। राज्यों के अधिकारों में वृद्धि संवैधानिक दायरे में ही की जा सकती है। ग्रेनविल आस्टिन के शब्दों में "भारत नई दिल्ली नहीं है, बल्कि राज्यों की राजधानियाँ भी हैं। राज्य केन्द्रीय सहायता के आकांक्षी हैं किन्तु राज्यों के सहयोग के बिना संघ बहुत दिनों तक कायम नहीं रह सकता। राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार की नीतियों का माध्यम हो सकती है। किन्तु उसकी सहायता के बिना केन्द्रीय सरकार अपनी योजनाओं को क्रियान्वित नहीं कर सकती। वस्तुतः दोनों ही एक–दूसरे पर अन्तः निर्भर हैं।"

वस्तुतः जिस प्रकार चलने के लिए दाएँ और बाएँ दोनों पैरों की आवश्यकता होती है ठीक इसी प्रकार देश की राज्यव्यवस्था को गतिशील बनाने के लिए केन्द्र तथा राज्यों, दोनों के सहयोग की जरूरत है। केन्द्र तथा राज्य आपसी संबंधों का संचालन दलीय नजरिये से न करे, राष्ट्रीय दृष्टिकोण को अपनाएँ। संवैधानिक दायरे में राज्यों को स्वायत्तता देने में कोई हर्ज नहीं। राज्यों को वित्तीय संसाधनों के भिक्षावृत्ति को छोड़कर स्वयं वित्तीय संसाधन जुटाने का प्रयास करना चाहिए। राज्य स्वायत्तता का अर्थ 'स्वतंत्रता' न मानें। केन्द्र राज्यों के साथ 'संरक्षक' की भूमिका अदा करे तो केन्द्र–राज्य संबंधों में तनाव को निश्चित रूप से कम किया जा सकता है। शक्तियों के केन्द्रीयकरण से 'रक्त–चाप बढ जाता है और अन्त में 'रक्त–अल्पता' आ जाती है जिसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि 'रूग्णता' और अक्षमता आ जाती है। अतः जरूरत इस बात की है कि संघ तथा राज्यों के मध्य संतुलनकारी संबंध बने रहे।

ग्रन्थ–सूची (Bibliography)

1. अग्रवाल, आर.सी.; "इण्डियन पॉलिटिकल सिस्टम", एस. चान्द एण्ड कम्पनी, न्यू देहली, 2000
2. अग्रवाल, श्याम मोहन; "भारतीय राजनीतिक व्यवस्था", आस्था प्रकाशन, जयपुर–2011
3. अय्यर, एस.पी. एण्ड मेहता, उषा (संपा.); "एस्से ऑन इण्डियन फेडरेलिज्म", एलाइड पब्लिशर्स प्रा.लि., लन्दन, 1965
4. अम्बेडकर, डॉ. भीमराव; "कॉन्स्टिट्यूशन असेम्बली डिबेट्स", खण्ड–XI
5. आशीर्वाद, ए.डी. एवं मिश्र, के.के. "राजनीति विज्ञान", एस.चन्द एण्ड क. लि, नई दिल्ली–2001
6. अवस्थी, ए.पी.; "भारतीय राज व्यवस्था, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, 2001
7. अय्यर, एस.पी.; "फेडरेलिज्म एण्ड सोशल चेन्ज, एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बम्बई, 1971
8. अय्यर, वी.आर. कृष्णा; "लॉ एण्ड द पीपुल : ए कॉलेशन ऑफ ऐसेस", पी.पी.एच., नई दिल्ली, 1972
9. एंडरसन, विलियम; "द स्टेट्स एण्ड द नेशन : राइवल्स ऑर पार्टनर्स?", मिनमियापोलिस ग्रीनवुड, 1955
10. एलेक्जेन्ड्रोविच; "कान्स्टिट्यूशनल डवलपमेन्ट इन इण्डिया", आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1957
11. ऑस्टिन, ग्रेनविल; "द इण्डियन कॉन्स्टिट्यूशन – कार्नर स्टोन ऑफ ए नेशन", ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1966
12. ऑस्टिन, ग्रेनविल; "द इण्डियन कॉन्स्टिट्यूशन", वोरा एण्ड कम्पनी, बम्बई, 1965
13. बोस, तरूण चन्द्र (संपा.); "इण्डियन फेडरेलिज्म प्रोब्लम्स् एण्ड इश्यूज", के.पी. बाईची, कोलकाता–1987
14. बक्शी, उपेन्द्र एण्ड पारेख, भीखू; "क्राइसिस एण्ड चेन्ज इन कोन्टेम्परेरी इण्डिया", सेज, न्यू देहली, 2002
15. बसु, दुर्गादास; "भारत का संविधान : एक परिचय", प्रेटिस हॉल इण्डिया प्रा.लि, नई दिल्ली, 1993
16. बनर्जी, पी.बी.; "दी क्रिटिकल प्रोबलम्स ऑफ़ इण्डियन गवर्नमेन्ट", हरियाणा प्रकाशन, दिल्ली, 1989
17. ब्रेशर, माइकल; "नेहरू ए पॉलिटिकल बायोग्राफ", ऑक्सफोर्ट प्रेस, बम्बई, 1968

18. भाटिया, कृष्णा; "द बॉयोग्राफी ऑफ प्राइमिनिस्टर मिसेज गाँधी", राबर्टसन, लन्दन, 1974
19. ब्रास, पॉल आर.; "पॉलिटिक्स इन एन इण्डियन स्टेट : द कांग्रेस पार्टी इन उत्तर प्रदेश, पॉपुलर प्रेस, बम्बई, 1966
20. बरदाचारी, वी.के. "गवर्नमेन्ट इन इण्डियन कॉन्स्टिट्यूशन", हैरिटेज प्रेस, नई दिल्ली, 1980
21. चौधरी, वासुकीनाथ एवं कुमार, युवराज; "भारतीय शासन एवं राजनीति", ओरियंट ब्लेक स्वान प्राइवेट लिमिटेड, आसफ अली रोड़, न्यू देहली–2011
22. छाबड़ा, एच.के. "स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया : ए स्टेडी ऑफ सेन्टर–स्टेट रिलेशन्स", देहली, सुरजीत पब्लिकेशन्स, 1977
23. चौहान, आर.एस. एण्ड वासुदेव, शैलजा; "कोलिएशन गवर्नमेन्ट इन इण्डिया प्रोब्लम एण्ड प्रोस्पेक्टस", दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन्स प्रा.लि., न्यू देहली, 2010
24. चाको, पी.टी.; "संविधान सभा का वाद–विवाद", खण्ड–II
25. चन्दा, अशोक; "फेडरलिज्म इन इण्डिया", एलन एण्ड अनविन, लन्दन, 1963
26. चन्दा, अशोक; "भारत में संघवाद", एलन एण्ड अनविन, लन्दन, 1968
27. चटर्जी, बेरार्ड के.; "द कॉलेशन गवर्नमेन्ट", आशिष प्रेस, नई दिल्ली, 1974
28. चन्द्र, बिपिन; "भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1998
29. चार्ल्स एण्ड बेटलहाइम; "इण्डिया इन्डपेन्डेन्ट", कौशल एण्ड कोपरेटिव, नई दिल्ली , 1977
30. चतुर्वेदी, गीता; "भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, पंचशील प्रकाशन, जयपुर,
31. डायसी, ए.वी.; "लॉ ऑफ द कॉन्स्टिट्यूशन", मैकमिलन एण्ड कम्पनी, लन्दन, 1952
32. देसाई, कीर्ति देवी एवं जोशी, राम; "टूवर्डस ए मोर कम्पेटेटीव पार्टी सिस्टम', 'एशियन सर्वे', 1978
33. देसाई, ए.आर.; "प्रजेन्ट स्ट्रगल्स इन इण्डिया", ओक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1979
34. दास, बी.सी.; "पॉलिटिकल डवलपमेन्ट इन इण्डिया", आशिष प्रेस, नई दिलली, 1989
35. डहल, रार्बट ए.; "मार्डन पॉलिटिकल एनालाइसिस", प्रेन्टिस हॉल, दिल्ली, 1977
36. ईगल्स, फ्रेडरिक; "द ऑरिजिन ऑफ फेमिली", प्राइवेट प्रोपर्टी एण्ड द स्टेट", प्रोग्रेस प्रेस, मास्को, 1977

37. फड़िया एवं जैन; "भारतीय शासन एवं राजनीति", साहित्य भवन, आगरा– 2016
38. फड़िया, बी.एल.; "इण्डियन गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स", आगरा, 2010
39. फड़िया, बी.एल.; "भारत में केन्द्र–राज्य सम्बन्ध, साहित्य भवन, आगरा–2007
40. फड़िया, बी.एल.; "कॉलेशन पॉलिटिक्स इन इण्डियन स्टेट, स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया", रेडियेन्ट प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984
41. फड़िया, बी.एल.; "कॉलेशन पॉलिटिक्स इन द इण्डियन स्टेट", स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया, 1984
42. फ्रन्डा, मारकूस; "वेस्ट बंगाल एण्ड द फेडरिलिजिंग प्रोसेस", प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1968
43. गहलोत, एन.एस.; "न्यू चेलेन्जेज टू इण्डियन पॉलिटिक्स", दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन्स प्रा.लि., न्यू देहली, 2002
44. गहलोत, एन.एस.; "स्टेट गवर्नर्स इन इण्डिया : ट्रेन्डस एण्ड इश्यूज", विकास प्रेस, दिल्ली, 1973
45. गाबा, ओ.बी.; "विवेचनात्मक राजनीति विज्ञान कोश", नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 2000
46. गुप्ता, डी.सी.; "इण्डियन गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स", विकास प्रकाशन, नई दिल्ली, 1983
47. गुप्ता, विश्व प्रकाश एवं मोहिनी; "भारतीय राजनीति : विकास एवं विश्लेषण", राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2001
48. गौरीशंकर; "इण्डियन नेशनल कांग्रेस : इट्स हिस्टरी एण्ड हैरिटेज", एलाइड, नई दिल्ली , 1975
49. गोस्वामी, आचार्य भालचन्द्र प्रखर'; "भारत का संविधान और उसमें संशोधन", पोइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर, 1998
50. ग्रोवर, विरेन्द्र "एसेज ऑन इण्डियन गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स", दीप एण्ड दीप, नई दिल्ली, 1988
51. ग्रोवल, वीरेन्द्र (संपा.); "फेडरल सिस्टम : स्टेट ऑटोनोमी एण्ड सेन्टर–स्टेट रिलेशन्स", दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन्स, न्यू देहली, 2000
52. घोष, शंकर; "सोशलिज्म, डेमोक्रेसी एण्ड नेशनलिज्म इन इण्डिया", यूनिवर्सिटी ऑफ बम्बई, 1973

53. हसन, जोया (संपा.); "पॉलिटिक्स एण्ड द स्टेट इन इण्डिया", सेज पब्लिकेशन्स, न्यू देहली–2000
54. हसन, ए.एच.; "द प्रोसेस ऑफ प्लानिंग : ए स्टेडी ऑफ इण्डियाज फाइव इयर प्लानस 1957–64", मारलिन प्रेस लन्दन, 1966
55. हार्टमैन; "पॉलिटिकल पार्टीज इन इण्डिया", मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1977 56
56. जौहर, के.एल. एण्ड राना, एस.पी. (संपा.); "सेन्टर–स्टेट टेन्शनस् : ए स्टेडी", हरमन पब्लिशिंग हाउस, न्यू देहली, 1990
57. जोन्स, मॉरिस; "द गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ इण्डिया", हेटचिसन यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1964
58. जौहरी, जे.सी. एवं पुखार, आर.के. "भारतीय शासन और राजनीति", विशाल पब्लिकेशन्स, जालन्धर, दूसरा संस्करण
59. जोशी, आर.पी. एवं आढ़ा, आर.एस.; "भारतीय राजनीतिक व्यवस्थाः पुनर्रचना के विविध आयाम", रावत पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2000
60. जेनिग्स, सर आइवर; "सम केरेक्टरिस्टिक्स ऑफ इण्डियन कान्स्टिटयूशन", ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1953
61. जैन, हरिमोहन; "भारतीय शासन और राजनीति", शारदा पुस्तक भवन, इलाहबाद, 2001,
62. जार्ज व रोसन; "डेमोक्रेसी एण्ड इकोनोमिक चेन्ज इन इण्डिया", यूनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई, 1967
63. कपूर, ज्ञान; "द चीफ मिनिस्टर एज एडमिनिस्ट्रेटर", अरिहन्त प्रकाशन, जयपुर, 1992
64. करूणाकरण, के.पी.; "कॉलेशन पॉलिटिक्स इन इण्डिया", हैरिटेज प्रेस, नई दिल्ली, 1975
65. कश्यप, सुभाष (संपा.); "कोलिशन गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया", उप्पल पब्लिकेशन्स, न्यू देहली, 1997
66. कश्यप, सुभाष (संपा.); "यूनियन–स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया", न्यू देहली, 1983
67. कश्यप, सुभाष; "अन्डरस्टेण्डिग द कॉन्स्टीट्यूशन", एन.सी.ई.आर.टी., न्यू देहली, 2000।
68. कश्यप, सुभाष; "अवर कॉन्स्टिटयूशन", नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1994
69. कश्यप, सुभाष; "हमारा संविधान", नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2001
70. कश्यप, सुभाष एण्ड राय, एम.पी.; "भारतीय सरकार एवं राजनीति", रिसर्च दिल्ली, 1978

71. कश्यप, सुभाष; "नेहरू एण्ड कॉन्स्टिट्यूशन", एलाइड प्रेस, नई दिल्ली, 1981
72. कश्यप, सुभाष; "द पॉलिटिक्स ऑफ डिफेक्शन – ए स्टडी ऑफ स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया", नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1969
73. कोठारी, रजनी; "पॉलिटिक्स इन इण्डिया", ऑरियन्ट लॉगमेन्स, नई दिल्ली, 1995
74. कोठारी, रजनी; "पार्टी सिस्टम एण्ड इलेक्शन स्टेडीज़", एलाइड पब्लिशिंग, नई दिल्ली, 2000
75. कोठारी, रजनी; "द कांग्रेस सिस्टम इन इण्डिया", एलाइड पब्लिशिंग, नई दिल्ली, 1977
76. कोठारी, रजनी; "द कांग्रेस पार्टी ऑफ इण्डिया", प्रिंसटन प्रेस, नई दिल्ली, 1968
77. क्राइस्ट, गिल; "पॉलिटिकल साइन्स एण्ड गवर्नमेन्ट", ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1955
78. कौशिक, सुशीला; "इलेक्शन्स इन इण्डिया : इट्स सोशियल बेसिस", विकास प्रकाशन, कलकत्ता, 1982
79. कौशिक, सुशीला; "भारतीय शासन एवं राजनीति", हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विष्वविद्यालय, दिल्ली–1990
80. कौशिक, पी.डी.; "द कांग्रेस आइडियोलॉजी एण्ड प्रोग्राम", एलाइड प्रेस, बम्बई, 1964
81. कुरीन एण्ड के. मैथ्यू; "इण्डिया स्टेट एण्ड सोसाइटी : ए मैक्सीमम एप्रोच", ऑरियन्ट लॉगमैन, बम्बई, 1975
82. खान, अहमद; "द इण्डियन फेडरेशन", मैकमिलन एण्ड कम्पनी, लन्दन, 1939
83. खेरा, एस.एस.; "द सेन्ट्रल एक्जिक्यूटिव", ऑरियन्ट लौंगमैन, दिल्ली, 1975
84. लीकॉक; "एलीमेन्ट्स ऑफ पॉलिटिक्स", प्रेन्टिस हॉल, दिल्ली, 1977
85. लॉरेंस, सीज; "फेडरेलिज्म विआउट सेन्टर", सेज पब्लिकेशन्स, न्यू देहली, 2002
86. मुखर्जी, निर्मल एण्ड अरोड़ा, बलवीर(संपा.); "फेडरेलिज़्म इन इण्डिया : ऑरिजिन एण्ड डवलपमेन्ट", विकास पब्लिशिंग हाउस, न्यू देहली, 1992
87. मजूमदार, ए.के. एण्ड सिंह, भंवर; "सेन्टर–स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया", आर.एस.बी.ए. पब्लिशर्स, एस.एम.एस. हाईवे, जयपुर, 2000
88. मजूमदार, आर.सी.; "स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष", रिसर्च, नई दिल्ली, 1978
89. मंगलानी, रूपा, "भारतीय शासन और राजनीति", राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2005

90. महला, अशोक कुमार और ऑलिव पीकॉक; "भारतीय राज व्यवस्था, अरिहंत पब्लिशिंग हाऊस, जयपुर, 2004–05
91. मार्केन्डय, के.सी.; "डाइरेक्टिव प्रिंसिपल्स इन द इण्डियन कानिस्टट्यूशन", एलाइड प्रेस, बम्बई, 1984
92. माहेश्वरी, प्रो. श्रीराम; "अखिल भारतीय सेवाएँ", पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1996
93. माहेश्वरी, बी.एल.; "सेन्ट्रल– स्टेट रिलेशन इन सेवन्टीज", नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1973
94. माहेश्वरी, श्रीराम; "स्टेट गवर्नमेन्ट इन इण्डिया", एशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1987
95. मिल, जे.एस.; "रिप्रजेन्टेटिव गवर्नमेन्ट", यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, 1967
96. मिश्र, कृष्णकांत; "भारतीय शासन एवं राजनीति", ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली,
97. मुंशी, के.एम.; "भारतीय संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति", एस. चांद कम्पनी, नई दिल्ली– 1974
98. मेनन, वी.पी.; "द स्टोरी ऑफ इन्टीग्रेशन ऑफ इण्डियन स्टेट्स, ऑरियन्ट लौंगमैन, नई दिल्ली, 1985
99. नैय्यर, जीवन एण्ड जैन, वी.सी.; "सेन्टर–स्टेट रिलेशन्स", पॉइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर, 1972
100. नारायण, इकबाल; "राष्ट्रीय आन्दोलन तथा भारतीय संविधान", शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा–1981
101. नारायण, इकबाल; "भारतीय शासन और राजनीति", राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1967
102. नारायण, इकबाल; "कॉलेशन पॉलिटिक्स एण्ड द इण्डियन पॉलिटिकल सिस्टम", द काइसेस ऑफ कम्पेटीबिलिटी, वाधवा एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1974
103. नारायण, इकबाल एण्ड माथुर, पी.सी.; "यूनियन स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया : ए केस स्टेडी ऑफ राजस्थान", इन एस.पी. अय्यर एण्ड ऊषा मेहता "ऐसेस इन इण्डियन फेडरलिज्म', बम्बई, 1965
104. नारायण, इकबाल; "स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया", प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1968
105. नरूला, बी.सी.; "राजनीति शास्त्र विश्वकोष", भाग–2, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 2009

106. पालिकर, एस.ए.; "इण्डियन गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स, ए.डी.बी. पब्लिशर्स, जयपुर, 2008
107. प्रसाद, अनिरूद्ध; "सेन्टर एण्ड स्टेट पॉवर अन्डर इण्डियन फेडरेशन", दीप एण्ड दीप, न्यू देहली, 1981
108. पॉल, चन्द्रा; "सेन्टर–स्टेट रिलेशन्स एण्ड को–ऑपरेटिव फेडरेलिज्म", दीप एण्ड दीप, न्यू देहली, 1983
109. पिल्लई, रमन के.; 'फेक्ट्स ऑफ इण्डियन पॉलिटिक्स, ए.पी.एच. पब्लिशिंग कॉरपोरेशन, दरियागंज, न्यू देहली, 2010
110. पायली, एम.वी.; "द कॉन्स्टिट्यूशन ऑफ इण्डिया", एशिया पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1966
111. पायली, एम.वी.; "भारतीय संविधान : एक परिचय", विकास पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1997
112. पायली, एम.वी.; "द कॉन्स्टिट्यूशनल गवर्नमेन्ट इन इण्डिया", एशिया पब्लिशियन हाऊस, नई दिल्ली, 1977
113. पामर, नार्मन डी.; "द इण्डियन पॉलिटिकल सिस्टम, त्रिपाठी, बम्बई, 1994
114. पामर, नार्मन डी.; "इण्डिया फोर्थ जनरल इलेक्शन", एशियन सर्वे, वोल्यूम–7, 1967
115. पालिखवाला, एन.ए.; "अवर कॉन्स्टिट्यूशन डिफेक्टस एण्ड डिफिल्ड", मैकमिलन प्रेस, नई दिल्ली, 1994
116. पाण्डेय, जयनारायण; "भारत का संविधान", सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद, 2002
117. पालेकर, एस.; "इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन : गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स", ए.डी.बी.
118. राव, के.वी.; "पार्लियामेन्टरी डेमोक्रेसी इन इण्डिया", दीप एण्ड दीप, दिल्ली, 1988
119. राव, के.वी.; "रोल ऑफ स्टेट गर्वनर इन इण्डिया", दीप एण्ड दीप, दिल्ली, 1988
120. राजकुमार; "शासन और राजनीति", अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली–2006 121
121. रे, अमल; "टेन्शन ऐरिया इन इण्डियाज फेडरल सिस्टम", वर्ड प्रेस, कलकत्ता, 1970
122. रॉय, एम.पी.; "भारतीय शासन एवं राजनीति", कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, 1971–72
123. स्वामी, कृष्णा ए.; "द इण्डियन यूनियन एण्ड द स्टेट्स : ए केस स्टेडी इन ऑटोनोमी एण्ड इन्टेग्रेशन", ऑक्सफोर्ड लन्दन, पेरगमन प्रेस, 1964
124. शीतलवाड़, एम.सी.; "यूनियन–स्टेट रिलेशन्स अन्डर द कॉन्स्टीट्यूशन"
125. शर्मा, रश्मि; "सोनिया वर्सेस बाजपेयी – 14जी लोकसभा इलेक्शन्स – 2004", दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन्स, देहली, 2004

126. शर्मा, साधना (संपा.); "स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया", मित्तल पब्लिकेशन्स, न्यू देहली, 1995
127. शंख धर, एम.एल. डेमोक्रेटिक पोलिटिक्स एण्ड गर्वेन्नेंस इन इण्डिया, दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2014
128. सिंह, सुरत, डी सेन्ट्रेलाईज्ड गर्वेन्नेस इन इण्डिया, दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन, प्रा.लि. नई दिल्ली, 2004
129. सिंह, डॉ. बी.पी., शासन एवं राजनीति, ज्ञानदा प्रकाशन, 2002
130. सिंह, आर.एस., तथा जैन बीना, भारतीय शासन एवं राजनीति, एस चन्द एण्ड कम्पनी लिमिटेड, नई दिल्ली, 1976
131. सिंह, सुभाष एन, ''सेन्टर इस्टेट रिलेशन इन इण्डिया'', दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1990
132. शशरूर, राजेश एम; (सम्पा), चेलेंजेज टू डेमोक्रेसी इन इण्डिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सीटी, नई दिल्ली, 2002
133. श्री निवासन, एम.एल, ''डेमोक्रेटिक गर्वेन्मेन्ट इन इण्डिया'' औरियन्त लौंग मेन नई दिल्ली, 1972
134. संचानम, के; ''यूनियन स्टेट रिलेशन इन इण्डिया'', ऐशिया पब्लिशिंग हाऊस दिल्ली, 2002
135. संचानम, के, ''डेमोक्रेटिक प्लानिंग प्रॉब्लम्स एण्ड पिट फॉल्स'', मेट्रोपॉलिटन, नई दिल्ली, 1982
136. सईद, एस.एम; ''भारतीय राजनीतिक व्यवस्था'' भारत बुक सेन्टर, लखनऊ, 2006
137. स्टार्म, कॉरे; ''माझांरिटी गर्वेन्मेन्ट इन पार्लियामेन्ट्री डेमोक्रेसी; रेशनेलिटी ऑफ नॉन विनिंग केबिनेट सॉल्यूशन, कम्पेरेटिव पॉलिटिकल स्टीडीज'', दिल्ली, 1984
138. सेन, अशोक, ''टॉल ऑफ गवर्न्स इन इमर्जिग पैटर्न ऑफ सेन्टर इस्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया'', नेशलन बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1988
139. सिवाय, जे. आर; ''द इण्डियन प्रेसीडेंसी'', हरियाणा प्रकाशन, 1975
140. सीखई, एच.एम; ''द कान्सीट्यूशल लॉ ऑफ इण्डिया,'' त्रिपाठी प्रेस, बम्बई, 1988
141. पत्रिका ईयर बुक, 2017, 11वां संस्करण
142. राजस्थान पत्रिका प्राईवेट लिमिटेड, 5ई झालाना संस्थानिक क्षेत्र जयपुर, (राज.)
143. पत्रिका ईयर बुक, 2018, 12वां संस्करण
144. पत्रिका ईयर बुक, 2019, 13वां संस्करण

145. पत्रिका ईयर बुक, 2020, 14वां संस्करण
146. साहित्यिक सुभाषित कोष, 2016, राजपाल एण्ड सन्स कश्मिरी गेट, दिल्ली
147. भारतीय शासन और राजनीति, 2018, ओरियन्ट ब्लैकस्वान प्राईवेट लिमिटेड, दिल्ली
148. भारतीय शासन एवं राजनीति, 2016, डॉ. डी.एस. यादव, आस्था प्रकाशन, जयपुर।
149. भारतीय शासन और राजनीति, 2017, डॉ. विपल्व, संदर्भ पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटरर्स, नई दिल्ली।
150. भारतीय शासन एवं राजनीति, 2019 फड़िया बी.एल. एवं फड़िया कुलदीप साहित्य भवन, आगरा
151. भारतीय शासन एवं राजनीति, 2020, जैन पुखराज एवं फडिया बी.एल. साहित्य भवन, आगरा
152. भारतीय शासन और राजनीति 2018, महेन्द्र प्रसाद सिंह, दिल्ली
153. इंडिया पॉलिटिकल सिस्टम 2017, दुबे, एस.एन. लक्ष्मीनारायण अग्रवाल,आगरा–3
154. राजनीति विज्ञान विश्व कोष, 2017 गाबा ओ.पी. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
155. भारतीय राजनीति पर नटवर सिंह की आत्मकथा, रूपा पब्लिकेशन इण्डिया, 2019
156. भारतीय शासन एवं राजनीति, डॉ० विप्लव संदर्भ पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्री ब्युटर्स– दरियागंज दिल्ली, 2019
157. बाऊ संजय, दी एक्सीडेंट एट प्राईम मिनिस्टर, पैनगुइन प्रकाशन, दिल्ली, 2019
158. भारतीय शासन एवं राजनीति, फड़िया बी.एल. एण्ड कुलदीप, साहित्य भवन आगरा, 2019 एवं 2020
159. भारत का संविधान, फड़िया बी.एल. साहित्य भवन, आगरा 2019
160. उच्चतर लोक प्रशासन, फड़िया बी.एल. एवं मन्जु, साहित्य भवन, आगरा, 2019
161. लोक प्रशासन, फड़िया बी.एल., साहित्य भवन आगरा, 2020
162. भारतीय शासन एवं राजनीति (राज्यों की राजनीति सहित) जैन, पुखराज एवं फड़िया बी.एल. साहित्य भवन, आगरा, 2019
163. फड़िया बी.एल. एवं मन्जु, भारत में केन्द्र एवं राज्य संबंध साहित्य भवन आगरा, 2019

OUR PEER - REVIEWED RESEARCH JOURNALS

- *International journal of Scientific & Innovative Research Studies*
- *International journal of Innovative Science & Technology Research*
- *International journal of Innovation & Rural Development*
- *International journal of Innovation & Tourism Management*

ANDROID APP ON Google play
Download "Research Journal" App

ISSN 2349-1876

Published by:
Centre for Scientific & Innovative Research Studies
M-3/661, Sector-H, LDA Colony, Kanpur Road, Lucknow-226012
http://www.csirs.org.in

copy right©2015 all rights reserved

INTERNATIONAL JOURNAL OF INNOVATIVE SOCIAL SCIENCE & HUMANITIES RESEARCH

ISSN: 2349-1876 (Print) | ISSN: 2454-1826 (Online)

Double Blind Peer-reviewed Refereed Research Journal

INTERNATIONAL JOURNAL OF INNOVATIVE SOCIAL SCIENCE & HUMANITIES RESEARCH

Volume-V, Issue-III, July-September, 2018
(UGC Approved Journal)

Chief Editor
Dr. Vinit Kumar

Associate Editors
Dr. Ram Bilas
Dr. Anamika Chaudhary
Dr. Anil Kumar Saini

Centre for Scientific & Innovative Research Studies

http://www.csirs.org.in
2018

केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में राज्यपाल की भूमिका

राजेश चौहान
शोधार्थी
(राजनीति विज्ञान)
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
झालावाड़ (राजस्थान)

व्यवस्था में राज्यपाल कई पद नया नहीं हैं। अंग्रेजी शासनकाल में राज्यपाल भारत के 'वर्नर जनरल' के निर्देशन, निरीक्षण में कार्य करने वाला स्वेच्छाचारी शासक था जबकि वर्तमान संविधान के अन्तर्गत' वह राज्य सरकार का रस्मी प्रधान है। केन्द्र की तरह राज्यों में भी संसदात्मक शासन प्रणाली को अपनाया गया है। राज्यों का शासन राज्यपाल द्वारा एक लोकप्रिय तथा उत्तर दायी मन्त्रिपरिषद की सहायता से चलाया जाता है। के. एम. मुंशी के अनुसार, 'राज्यपाल राज्य में केन्द्र का पहरेदार तथा सांविधानिक सम्पत्ति का रखवाला और राज्य को केन्द्र से जोड़ने वाला देश की एकता का कर्णधार हैं।''

केन्द्र–राज्य सम्बन्ध आयोग (सरकारिया आयोग) के समक्ष राज्यपाल की भूमिका का प्रश्न संघ–राज्य सम्बन्धों के मूल मुद्दों में से एक मुद्दे के रूप में उभर कर आया है। राज्यपाल की भूमिका पर इस आधार पर आक्षेप लगाया गया कि कुछ राज्यपाल निष्पक्षता और दूरदर्शिता जिनकी उनसे अपेक्षा की गई थी, के गुणों को प्रदशित नहीं कर पाये। उन पर आरोप लगाया गया था कि इन्होंने आवश्यक विषय निष्ठता के साथ या तो अपने विवेक का उपयोग करके था संघ और राज्यों के बीच' महत्वपूर्ण सम्पर्क के रूप में अपनी भूमिका निभाकर कार्य नहीं किया। कुछ राज्यपालों द्वारा विशेष रूप से राष्ट्रपति शासन की सिफारिश में और राष्ट्रपति के विचार के लिए राज्य विधेयक को आरक्षित रखने में निभाई गई भूमिका' से जबर दस्त विद्वैध उत्पन्न हुआ। राज्यपाल को अवधि के समाप्त होने से पूर्व ही उनको बार–बार हटाने और स्थानान्तरण से इस पद की गरिमा कम हो गई। इस बात' की आलोचना भी की गई है कि संघ सरकार अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राज्यपालों को प्रयोग में लाती है। बहुत–से राज्यपाल, जो कि केन्द्र के अधीन असे पद को बढ़वाने के लिए इच्छुक होते हैं, या अपनी सेवा अवधि के बाद राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाना चाहते हैं, स्वयं को केन्द्र के एजेण्ट के रूप में समझाते आये हैं।

राज्यपाल की नियुक्ति

राज्यपाल की नियुक्ति के विषय पर संविधान निर्मात्री सभा के सदस्यों में काफी वाद–विवाद हुआ। संविधान निर्मात्री सभा की प्रान्तीय संविधान समिति ने सुझाव दिया था कि राज्यपाल का निर्वाचन राज्य की जनता द्वारा वयस्क मता धिकार के आधार पर होना चाहिए। परन्तु इस सुझाव को संविधान सभा ने स्वीकार नहीं किया। संविधान सभा का मत' था कि जनता द्वारा निर्वाचित राज्य पाल तथा विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी मुख्यमन्त्री के बीच सह–अस्तित्व सम्भव नहीं है। यही नहीं, सन् 1947 से लेकर 1949 तक शासन के संचालन का जो अनुभव संविधानवेत्ताओं ने प्राप्त किया था, उससे वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि यदि देश में राष्ट्रीय

एकता स्थापित करनी है तो यह आवश्यक हैं कि राज्यपाल केन्द्र और राज्यों को जोड़ने वाली सांविधानिक कड़ी के रूप में काम कर। श्री अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर ने अनुभव किया राष्ट्रपति द्वारा नामांकित राज्यपाल केन्द्र और राज्य के बीच उचित सम्बन्धों की स्थापना कर सकेगा तथा आपस में होने वाले विवादों को सुलझाने में सहायक बन सकेगा।'' स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू ने भी अय्यर के मत का समर्थन किया और कहा "आज की सर्वप्रथम आवश्यकता विघटनकारी एवं पृथकतावादी तत्वों को नष्ट करने की है। जनता द्वारा चुना हुआ राज्यपाल आवश्यक रूप से प्रान्तीयता एवं पृथकतावादी भावनाओं के विकास में सहयोग देगा एवं उसके चुनाव पर राष्ट्रीय धन, समय और शक्ति का अपव्यय होगा।'' अतः यह निर्णय किया गया कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाये। व्यवहार में इसका अर्थ है कि राज्यपाल की नियुक्ति प्रधानमन्त्री तथा गृह मन्त्रालय द्वारा की जाये। राज्यपाल के कार्यकाल की अवधि सामान्यतया पाँच वर्ष रखी गयी परन्तु राष्ट्रपति इससे पूर्व भी उसे हटा सकते हैं। नियुक्ति के तरीके से स्पष्ट है कि राज्यपाल राज्य में राष्ट्रपति का मनोनीत' व्यक्ति हैं, राज्य में वह राष्ट्रपति का एजेण्ट है। किन्तु इस सम्बन्ध में एक परस्परा भी विकसित होने लगी। वह यह कि राज्य विशेष में राज्यपाल की नियुक्ति करने से पूर्व केन्द्रीय सरकार उस राज्य की इच्छा को जानने का प्रयत्न करती है। प्रायः सम्बन्धित राज्य के मुख्य मन्त्री से सलाह ली जाती है। यह इस लिए किया जाता है कि केन्द्र और राज्यों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों का वाता वरण बना रहे। परन्तु इस परम्परा का सभी जगह पालन नहीं किया गया। उदाहरण के लिए, केन्द्र सरकार ने जब श्रीप्रकाश को मद्रास का राज्यपाल नियुक्त किया, उड़ीसा में जब कुमार स्वामी राजा को राज्यपाल नियुक्त किया, बिहार में जब नित्यानन्द कानूनगो को राज्यपाल नियुक्त किया तो वहाँ के मुख्य मन्त्रियों से परामर्श नहीं लिया गया।[5] चौथे आम चुनाव के बाद अनेक गैर–कांग्रेसी राज्यों में मुख्यमन्त्रियों ने यह मत व्यक्त किया कि उनके राज्य में

राज्यपाल की नियुक्ति करते समय राष्ट्रपति ने उनसे सलाह नहीं ली। इसका एक अच्छा उदाहरण पश्चिम बंगाल में मुख्यमन्त्री एवं राज्यपाल के पारस्परिक सम्बन्धों में अवलोकित किया जा सकता है। इस राज्य में धर्मवीर को राज्यपाल के पद पर राज्य सरकार के परामर्श के बिना नियुक्त किया गया था। मार्च 1969 में मुख्य मन्त्री अजय मुखर्जी नै केन्द्र से धर्मवीर को वापिस बुलाने का आग्रह किया क्योंकि वह राज्य के प्रशासन को मन्त्रिमण्डल के सहयोग के साथ संचालित करने में असमर्थ थे। परन्तु इस 'माँ' को केन्द्र ने यह कहकर ठुकरा दिया कि संघ सरकार इस परिपाटी के विरुद्ध है। कि राज्य सरकारों की इच्छा के अनुसार राज्यपालों की नियुक्ति की जाये। यद्यपि बाद में धर्मवीर को पश्चिम बंगाल से वापस बुला लिया गया तथापि केन्द्र ने कहा कि उसने वैसा राजनीतिक परिस्थितियों के कारण किया था, इसलिए नहीं कि वह मुख्य मन्त्री की इच्छा थी।

राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में दूसरी परम्परा यह विकसित हुई है। कि वह आमतौर से राज्य के बाहर का व्यक्ति होता है। इस बात को ध्यान में रखा जाता है कि दक्षिण में उत्तरी राज्यों के व्यक्तियों को और उत्तर में दक्षिणी राज्यों के व्यक्तियों को राज्यपाल नियुक्त किया जाए। इससे राष्ट्रीय एकता के निर्माण में सामंजस्यपूर्ण वातावरण निर्मित होता है।[6]

राज्यपाल की नियुक्ति सम्बन्धी सांविधानिक प्रावधानों से स्पष्ट है कि इस सम्बन्ध में भारत में जो कुछ किया गया है वह संघीय शासन प्रणाली के सिद्धान्त के साथ मेल नहीं खाता। इसके विपरीत संयुक्त राज्य अमेरिका में राज्यपाल को सम्बद्ध राज्य की जनता निर्वाचित' करती है तथा उसकी निश्चित अवधि के पूर्व

राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित' महाभियोग प्रस्ताव के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से नहीं हटाया जा सकता। आस्ट्रेलिया में राज्य ने गवर्नर को क्राउन के द्वारा नियुक्त किया जाता है परन्तु यथार्थ में ऐसा राज्य मन्त्रमण्डल के परामर्श से किया जाता है तथा गवर्नर किसी भी दृष्टि से केन्द्र की सरकार के प्रति उत्तर दायी नहीं है। वस्तुतः भारत में राज्यपाल की नियुक्ति की प्रचलित प्रणाली उसे औपचारिक कार्यपालिका की भूमिका अदा करने की अपेक्षा संघ सरकार के एजेण्ट की भूमिक अदा करने के लिए विवश करती हैं।[7]

राज्यपाल को दोहरी भूमिका

राज्यपाल को दो प्रकार की भूमिका निभानी होती है[8]: प्रथम, राज्य सरकार के अध्यक्ष के रूप में और द्वितीय, केन्द्र के एजेण्ट के रूप में। राज्यपाल गे यह आशा की जाती है कि वह इन दोनों भूमिकाओं में एक न्यायसंगत सन्तुलन स्थापित करने का प्रयास करेगा।[9] वैसे उसकी दोहरी भूमिका में कोई विरोध नहीं हैं। जब–तक कि उसकी विशेष रूप से कोई व्यवस्था नहीं हो, तब–तक राज्य पाल की केन्द्र के एजेण्ट' की भूमिका वहाँ से प्ररम्भ होती है, जहाँ उसकी राज्य के अध्यक्ष की भूमिका समाप्त होती है। इयवहार में इस प्रकार की स्थिति को स्पष्ट रूप से लेखाबद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि वह केन्द्र सरकार द्वारा नियुक्त होता है तथा केन्द्र द्वारा उस पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डाले जाते हैं।

राज्यपाल केन्द्र और राज्यों को जोड़ने वाली कड़ी

संविधान निर्माताओं ने राज्यपाल को केन्द्र और राज्यों को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में ढाला है। मैसूर के भूतपूर्व राज्यपाल वी. वी. गिरि ने अपने को राज्य में केन्द्र का दूत' कहा था।[10] राजस्थान के भूतपूर्व राज्यपाल जी. एन. सिंह के विचार में वे कई मामलों में केन्द्र एवं राज्य के बीच कड़ी का कार्य करते थे।[11] वस्तुतः संविधान ने अनुच्छेद 174 के अनुसार राज्यपाल के कर्तव्य इस प्रकार के हैं कि केन्द्र के प्रतिनिधि एवं संविधान के संरक्षक के रूप में कार्य कर सकता है।

संविधान ने राज्यपाल को विस्तृत रूप से यह अधिकार दिया है कि वह राज्य विधान मण्डल से पारित किसी भी विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित कर सकता है।[12] संविधान ने उसे यह शक्ति निश्चित रूप से इसलिए प्रदान की है कि केन्द्र और राज्यों में, कानून के क्षेत्र में कोई झगड़ा उत्पन्न न हो–विशेष रूप से' समवर्ती सूची के क्षेत्र में। इसके अतिरिक्त राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयक संविधान की किसी धारा के विरुद्ध न हों, मूल अधिकार एवं निर्देशक तत्वों की अवहेलना न करता हो, संसद द्वारा पारित कानून के विरुद्ध न हो अथवा केन्द्र के ऐसे कार्यों में बाधक न हो जिनसे सार्वजनिक हित का उन्नयन होता हो तो राज्यपाल ऐसे विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित कर सकता है। राज्यपाल को संविधान ने यह अधिकार प्रदान किया है कि वह राज्य विधान मण्डल को केन्द्र के परामर्श से सन्देश भेज सकता है, जिसका प्रभाव आवश्यक रूप से राज्य के वैधानिक कार्यक्रम पर पड़ेगा। राज्यपाल किसी भी विधेयक पर अपनी स्वीकृति देने से इंकार कर सकता है, अगर विधेयक संविधान के अनुच्छेदों तथा उसकी भावनाओं के विरुद्ध हो। संविधान ने राज्यपाल को अधिकार दिया है कि वह उन सब ही विधेयकों को सुरक्षित रखा सकता है जिसका सम्बन्धी सम्पत्ति के अनिवार्य कब्जा करने[13] से हो, उच्च न्यायालय की शक्ति में ह्रास कराने से सम्बन्धित हो[14], अथवा जिसमें पानी–बिजली पर कर वृद्धि एवं लये कर लगाने का प्रस्ताव हो।[15] इस सम्बन्ध में विचारणीय प्रश्न यह है कि किसी विधेयक को स्वीकृति न

प्रदान करने में तथा राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित करने में

राज्यपाल का राज्य मन्त्रिमण्डल की सलाह के विरुद्ध जाना कहाँ तक न्यायोचित है? राविधान के किसी भी अनुच्छेद में यह नहीं लिखा गया है कि राज्यपाल मन्त्रिमण्डल की सलाह से बाध्य होगा। इस सम्बन्ध में दुर्गादास बसु ने लिखा है, ''राज्यपाल का किसी भी विधेयक को, विशेष परिस्थितियों में, मन्त्रिमण्डल की इच्छा के विरुद्ध रक्षित करना न्यायोचित है यदि वह यह समझे कि उक्त विधेयक संविधान की धाराओं के विपरीत तथा केन्द्रीय सरकार के अधिकारों का उल्लंघन करता है।"

राज्यपाल को आवश्यकता पड़ने पर विशेष परिस्थितियों में अध्यादेश निकालने का अधिकार है।[16] करन्तु उसकी इस शक्ति पर दो प्रतिबन्ध हैं। प्रथम, अध्यादेश की घोषणा उसी रामय हो सकती है जब विधानमण्डल का अधिवेशन न हो रहा हो। द्वितीय, अध्यादेश की घोषणा के लिए राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति आवश्यक है, विशेषकर उस समय, जबकि सम्पत्ति पर अनिवार्य कब्जा करना हो, उच्च न्यायालय की शक्तियों में कमी करनी हो, समवर्ती सूची के विषयों में एवं राज्यों में विरोध होने की जहाँ सम्भावना हो और व्यापार एवं वाणिज्य की स्वतन्त्रा पर प्रतिबन्ध लगाना हो। इस अधिकार का उपयोग राज्यपालों ने खूब किया है।[17] इससे वह राज्य और केन्द्र के बीच एक कड़ी का रूप ग्रहण कर लेता है।।

राज्यपाल–केन्द्रीय अभिकर्ता के रूप में

केन्द्र के अभिकर्ता के रूप में राज्यपाल को कई कार्य करने पड़ते हैं। राज्य पाल का नैतिक कर्तव्य है कि वह देखे कि राज्य के कार्य केन्द्र के कार्यों के अनुकूल हों। अनुच्छेद 257 के अनुसार राज्य की कार्यपालिका शक्तियों का उपयोग केन्द्र की कार्यपालिका शक्तियों के तारतम्य में ही होना चाहिए। अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राज्यपाल राष्ट्रपति को यह प्रतिवेदन कर सकता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें राज्य का प्रशासन से विधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। इस पर राष्ट्रपति केन्द्रीय शासन की घोषणा कर सकता है। इस आपात्कालीन स्थिति में राज्यपाल, राज्य का केन्द्रीय प्रतिनिधि के रूप में वास्तविक शासक बन जाता है और अनुच्छेद 365 के अन्तर्गत केन्द्र द्वारा दिये गये। कार्यपालिका, वित्त एवं विधान सम्बन्धी अधिकारों का केन्द्रीय अभिकर्ता के रूप में उपयोग करता है।

केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल का मुख्य उत्तरदायित्व यह देखना है कि राज्य में सरकार सांविधानिक ढंग से चलाई जा रही है अथवा नहीं ? वह प्रति पन्द्रह दिन में राष्ट्रपति को राज्य की प्रगति एवं वर्तमान स्थिति को प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है, जिसे वह स्वतन्त्र रूप से भी भेज सकता है अथवा राज्य अन्त्रिमण्डल' की सलाह से भी हैं।

राज्यपाल स्वतन्त्र है अथवा राष्ट्रपति का अभिकर्ता

राज्यपाल के पद को लेकर मूल कठिनाई यह हैं कि, क्या राज्यपाल अपने सभी कार्यों में पूर्ण स्वतन्त्र है या उसे अपने सभी कार्य राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में करने हैं? यह बात निश्चित है कि राज्यपाल की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा होती है परन्तु साथ ही साथ उसे राज्य में सांविधानिक प्रमुख की भूमिका भी निभानी पड़ती है।। भारत के अधिकांश राज्यपालों ने राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में ही कार्य करना अधिक पसन्द किया है। ऐसा कहा जाता है कि सन् 1967 के उपरान्त उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हरियाणा आदि राज्यों के राज्यपालों ने केन्द्रीय सरकार की इच्छा का ही आदर किया।

राज्यपालों का एक ऐसा भी वर्ग है जिन्होंने संविधान की आत्मा के अनुसार कार्यकर मुख्यमन्त्रियों की सलाह का आदर किया है। तामिलनाडु, कर्णाटक, प. बंगाल व पंजाब के राज्यपालों ने अपने राज्यों के मुख्यमन्त्रियों द्वारा तैयार भाषणों को विधानसभा में पढ़ा, जिनमें केन्द्र पर अनेक प्रकार के आरोप लगाए गए। उदाहरणार्थ 20 जनवरी, 1970 को तामिलनाडु के राज्यपाल उज्ज्वलसिंह ने पंचम वित्त आयोग की सिफारिशों पर निराशा व्यक्त की। 19 जनवरी, 1970 को कर्णाटक के राज्यपाल धर्मवीर ने अपने भाषण में केन्द्र पर यह दबाव डाला कि कर्णाटक–महाराष्ट्र सीमा विवाद पर 'महाजन आयोग की सिफारिशों को तुरन्त' लागू करें। 21 जनवरी 1970 को प. बंगाल के राज्यपाल श्री धवन ने भी केन्द्र पर यह आरोप लगाया कि वह निरन्तर राज्य के आर्थिक विकास की उपेक्षा कर रहा है। 19 जनवरी, 1970 को पंजाब के राज्यपाल डॉ. पावटे ने अपने भाषण में चयडीगढ़ पर कोई निर्णय न लेने के कारण केन्द्र की कड़ी निन्दा की। ऐसा कहा जाता है कि राज्य पाल धर्मवीर ने कर्णाटक के राज्यपाल की हैसियत से एक ऐसा वक्तव्य दिया जिसे केन्द्रीय सरकार के दृष्टिकोणों के अनुकूल नहीं माना गया और राष्ट्रपति ने उनसे स्पष्टीकरण तक भी माँगा।[18]

वस्तुतः संविधान ने राज्यपाल को दोहरी भूमिका प्रदान की है। यदि एक ओर उसे मुख्यमन्त्री की सलाह के अनुसार कार्य करना है तो दूसरी ओर उसे सम्पूर्ण राष्ट्र के हित को ध्यान में रखते हुए केन्द्र के अभिकर्ता के रूप में भी कार्य करना है।[19] एच. वी. कामठ ने इस सम्बन्ध में कहा था, 'राज्यपाल एक ऐसी कठपुतली है जिसे एक ओर मुख्यमन्त्री और दूसरी ओर प्रधानमन्त्री नचा रहा होता है।''

राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है और उसको राष्ट्रपति की आँख और कान कहा जाता है। डा. अम्बेडकर ने राज्यपाल के कृत्यों का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि राज्य की सरकारों को केन्द्रीय सरकार की मातहती में काम करना है और इस बात की

पूर्ति के लिए राज्यपाल कुछ को रोक लेगा ताकि राष्ट्रपति को इस बात के लिए समय मिल जाय कि वह देख सके कि राज्य की सरकारे जो काम करती हैं वे इस संविधान से अधिकृत नियमों के अनुसार करती हैं और केन्द्र की मातहती में करती हैं।

राज्यपाल का चयन : सरकारिया आयोग की सिफारिश

सरकारिया आयोग के समक्ष प्रस्तुत तथ्यों से स्पष्ट होता है कि राज्यपाल पद पर सही व्यक्तियों का चयन नहीं किया गया। आलोचकों का कहना है 'संध के सत्ता धारी दल से निकाले गए असन्तुष्ट राजनीतिज्ञ जिन्हें अन्य कहीं भी स्थान नहीं मिलता, राज्यपाल नियुक्त कर दिए जाते हैं। पद पर रहते समय ऐसे व्यक्ति निष्पक्ष संवेधानिक अधिकारियों के रूप में कार्य करने के बजाय संघ सरकार के एजेण्ट के रूप में कार्य करते हैं।"[20] एक राज्य सरकार ने कुछ व्यक्तियों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जिन्हें न्यायिक आलोचनाओं के कारण अपने मन्त्रिपद से त्यागपत्र देना पड़ा था और बाद में उनकी नियुक्ति राज्यपालों के रूप में हुई थी।

सरकारिया रिपोर्ट के अनुसार ''हमारी स्वतन्त्रता प्राप्ति से अक्टूबर 1984 तक की अवधि में राज्यपालों की हुई नियुक्तियों के सर्वेक्षण से स्पष्ट होता है कि राज्यपालों की कुल संख्या के 60 प्रतिशत से अधिक ने राजनीति में सक्रिय भाग लिया था। उनमें अधिकांश ने तो अपनी नियुक्ति के तुरन्त बाद ऐसा किया। राज्य पाल के रूप में नियुक्त ऐसे व्यक्ति जो अन्य व्यवसायों में दक्ष थे उनकी संख्या 50 प्रतिशत से भी कम थी।''[21]

सरकारिया रिपोर्ट के अनुसार "हमारी सिफारिशें हैं कि राज्यपाल के रूप में चुने जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को निम्नलिखित मानदण्डों पर खरा उतरना चाहिए:

i वह कुछ व्यवसायों में दक्ष हो,

ii वह राज्य से बाहर का व्यक्ति हो,

iii वह असन्तुष्ट व्यक्ति हो तथा राज्य की स्थानीय राजनीति के साथ अधिक आत्मीयता से न जुड़ा हो।

iv वह ऐसा व्यक्ति हो जिसने सामान्य रूप से तथा विशेष रूप से हाल ही की पिछली अवधि में राजनीति में अत्यधिक मुख्य रूप से भाग न लिया हो।

आयोग ने यह भी सिफारिश की है कि किसी राज्यपाल का चुनाव करते गण' प्रधानमन्त्री को भारत के उपराष्ट्रपति तथा लोक सभा अध्यक्ष से मन्त्रण करनी चाहिए। ऐसी मन्त्रणा से राज्यपाल चुनाव प्रक्रिया की विश्वसनीयता बहुत द्य भागी। यह मन्त्रणा गोपनीय होनी चाहिए तथा सांविधानिक बाध्यता न अनोपचारिक होगी।[22] आयोग के अनुसार यह परम्परा होनी चाहिए कि अपना पद त्यागने के बाद कोई राज्यपाल, राज्यपाल के रूप में दूसरी पदावधि, या भारत के उपराष्ट्रपति या राष्ट्रपति के पद पर चुनाव लड़ने के अतिरिक्त केन्द्र या किसी राज्य सरकार के अधीन किसी अन्य नियुक्ति या लाभदायक पद पर नियुक्ति के लिए पात्र नहीं होना चाहिए। ऐसी परम्परा में यह भी आवश्यक है कि अपना पद छोड़ने या त्यागने के बाद राज्यपाल सक्रिय पक्षपाती राजनीति में नहीं लौटेगा।''[28]

आयोग के अनुसार राज्यपाल के रूप में किसी व्यक्ति का चयन करने के लिए राज्य के मुख्यमन्त्री से प्रभावी सलाह–मशविरा सुनिश्चित करने की प्रक्रिया अनुच्छेद 153 में समुचित' संशोधन करके संविधान में ही निर्धारित की जानी चाहिए।[24]

आयोग के अनुसार अनुच्छेद 200 स्पष्ट रूप से अथवा आवश्यक निहितार्थ द्वारा राज्यपाल को अपने कर्तव्य निष्पादन में सामान्य एवं विवेकाधिकार प्रदान नहीं करता जिसमें राष्ट्रपति के विचारार्थ भेजे जाने वाले विधेयक को आरक्षण भी शामिल है।

आयोग के अनुसार राष्ट्रपति के विचार के लिए बहुत बड़ी संख्या में विधेयक आरक्षित किए जा रहे हैं। सन् 1977 से 1985 के दौरान 1130 राज्य विधेयक राष्ट्रपति के विचार के लिए रखे गए थे।[25] ऐसे विधेयकों के निपटाने में बहुधा विलम्ब हुआ है और इसका कारण संघ और राज्यों के बीच विधान के मामलों में नीति' सम्बन्धी मतभेद है। आयोग ने सिफारिश की है कि राष्ट्रपति के विचार किए जाने के लिए रखे गए किसी विधेयक का निपटारा राष्ट्रपति द्वारा उस तारीख से चार माह की अवधि के भीतर किया जाना चाहिए जिस तारीख को वह संघ सरकार को प्राप्त होता है। (ii) तथापि, यदि राज्य सरकार से स्पष्टीकरण माँगना अथवा अनुच्छेद 201 के परन्तुक के अधीन राज्य विधान मण्डल के पुनः विचार के लिए विधेयक को वापस करना आवश्यक समझा जाए तो यह कार्रवाई उस तारीख से 2 मास के भीतर की जाए जिस तारीख को संघ सरकार को मूल पत्र प्राप्त हुआ था। संक्षेप में, विधेयकों को आरक्षित करने की प्रणाली का उपयोग इस हद तक न किया। जाय कि विधायी मामलों में संघीय कार्यपालिका राज्य विधानमण्डल पर हावी हो जाए।

केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में राज्यपाल की भूमिका

राज्यपाल केन्द्र तथा राज्य को बाँधने वाली कड़ी तथा संघ राज्यिक सम्बन्धों को विनियमित करने का माध्यम है। केन्द्र और राज्य के बीच संघर्ष में

राज्यपाल मध्यस्थ के कार्य को सही रूप से निभा सकता है। राज्यों के मन्त्रिमण्डल यह जानते हैं कि वे राज्यपाल के माध्यम से अधिक केन्द्रीय सहायता प्राप्त कर सकते हैं और केन्द्रीय सरकार अपने अभिकर्ता की माँगों पर अधिक ध्यान देगी। इस सम्बन्ध में श्रीप्रकाश ने लिखा है, 'जब प्रदेश क मुख्यमंत्री एवं अन्य मन्त्री अपने राज्य की आवश्यकताओं को बड़े ही जोरदार शब्दों में वादी सरकार के सम्मुख रखते हैं, तब केन्द्रीय सरकार यह उत्तर दे सकती हैं। कि उनके सम्मुख सारा देश है केवल' कोई विशेष राज्य नहीं। परन्तु जब उनका प्रतिनिधि ही राज्यपाल के रूप में राज्य की विशेष आवश्यकताओं के विषय में केन्द्रीय सरकार को आवश्यक तुरन्त' मदद के लिए लिखता है, तब केन्द्रीय सरकार इसकी बात सुनती है तथा उसको कार्यान्वित करने का यथाशक्ति प्रयत्न करती है।"

प्रो. के. वी. राव ने लिखा है कि, "राज्यपाल वही है जो केन्द्र उसे बनाना चाहता है, व्यावहारिक रूप में राज्यपाल कुछ भी नहीं कर सकता और यदि राज्यपाल धर्मवीर और राज्यपाल चक्रवर्ती सक्रिय भूमिका निभाने की स्थिति में हैं तो इसका कारण यह है कि उसमें केन्द्र की मौन सम्मति था केन्द्र का निदशन है। वस्तुतः भारतीय संघ व्यवस्था में राज्यपाल का पद केन्द्रीय संस्था है, केन्द्र और राज्य को जोड़ने वाली कड़ी है। अतः केन्द्रीय सरकार को इसे अपने व्यस्त' राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति का अभिकरण नहीं मानना चाहिए अपितु इसे केन्द्र–राज्य सम्बन्धों को मधुर बनाने वाले पद के रूप में विकसित करना चाहिए।

सन्दर्भ

1. सी. ए. डी. खण्ड VIII, पृ. 431.
2. उपर्युक्त, पृ. 454–6,
3. भारतीय संविधानअनुच्छेद 155,
4. उपर्युक्त अनुच्छेद 156,
5. बिहार में नित्यानन्द' कानूनगो की नियुक्ति के समय मुख्यमन्त्री से सलाह नहीं की गई। विरोध प्रदशित करने के लिए मुख्यमन्त्री राज्यपाल के स्वागत हेतु हवाई अड्डे पर नहीं गए।।
6. इस परम्परा के कतिपय अपवाद भी हैं, जैसे–डॉ. एच. सी. मुकर्जी को अपने राज्य बंगाल में राज्यपाल नियुक्त किया गया था और कर्णाटक राज्य में मैसूर के राजा को राज्यपाल बनाया गया था।
7. एन. एस. गहलौत, दि हि अफ दिन––इस क्वन्स्टीट्यूशनल इमेज एण्ड रियलिटी (त्रु' पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, 1977), पृ. 193.
8. पी. बी. मुखर्जी, श्री एलीमेंटल प्राब्लम्स आफ दि इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन (नेशनल, दिल्ली, 1902), पृ. 91.
9. ए. आर. सी., रिपोर्ट अफ दि स्टडी टीम आन सेंटर–स्टेट रिलेशंस (सितम्बर 1964), पार्ट 1, पृ. 18.
10. दि हिन्दुस्तान टाइम्स (दिल्ली संस्करण), दिसम्बर 9, 1960.
11. जी. एन. सिंह, हि रोल अफ स्टेट गवर्नर इन इण्डिया टूडे (इलाहाबाद, किताब महल, 1968), पृ. 14,
12. भारतीय संविधानअनुच्छेद 200
13. उपर्युक्त अनुच्छेद 31(3), 51(ए)(1).
14. उपर्युक्त, अनुच्छेद 200.
15. उपर्युक्त, अनुच्छेद 288(2).
16. उपर्युक्त, अनुच्छेद 213(1)
17. भारत सरकार गृह मन्त्रालय प्रतिवेदन, 1963–64 (9. 33) के अनुसार सन् 1963 में राष्ट्रीय ने 151 राज्य विधेयकों की स्वीकृति प्रदान की थी, तथा 18

अध्यादेशों की घोषणा करने के लिए पूर्व अनुमति प्रदान की थी।

18. धर्मवीर, मेमोयर्स ऑफ ए सिविल सर्जेण्ट' (विकास, 1875), पृ. 133.
19. इस बात के प्रमाण हैं कि राज्यपाल को अपने दायित्वों को केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में निभाना पड़ता है। जब जनवरी 1974 में तमिलनाडु में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया तो गवर्नर का प्रतिवेदन गृहमन्त्रालय में तैयार किया गया तथा राज्यपाल के. के. शाह ने कर्तव्यपरायणता के साथ उस पर हस्ताक्षर कर दिया।
20. केन्द्र–राज्य सम्बन्ध आयोग रिपोर्ट, भाग–1 (1988), पृ. 112,
21. उपर्युक्त, पृ. 123.
22. उपयुक्त, पृ. 115.
23. उपर्युक्त, पृ. 115.
24. उपर्युक्त, 124.
25. उपर्युक्त, पृ. 144.

OUR PEER - REVIEWED RESEARCH JOURNALS

- *International journal of Innovative Social Science & Humanities Research*
- *International journal of Innovative Science & Technology Research*
- *International journal of Innovation & Rural Development*
- *International journal of Innovation & Tourism Management*

ANDROID APP ON Google play
Download "Research Journal" App

Published by:
Centre for Scientific & Innovative Research Studies
M-3/661, Sector-H, LDA Colony, Kanpur Road, Lucknow-226012
http://www.csirs.org.in

copy right©2014 all rights reserved

INTERNATIONAL JOURNAL OF SCIENTIFIC & INNOVATIVE RESEARCH STUDIES

ISSN: 2347-7660 (Print) | ISSN: 2454-1818 (Online)

Double Blind Peer-reviewed Refereed Research Journal

INTERNATIONAL JOURNAL OF SCIENTIFIC & INNOVATIVE RESEARCH STUDIES

Volume-VI, Issue-XI, November - 2018
(UGC Approved Journal)

Chief Editor
Dr. Vinit Kumar

Associate Editors
Dr. S. Kumar
Dr. Madhu Singh
Dr.Hemendra Singh

2018

संविधान का 42वां संशोधन और संघवाद

राजेश चौहान,
शोधार्थी
(राजनीति विज्ञान)
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
झालावाड़ (राज०)

संविधान एक जीवित एवं परिवर्तनशील प्रलेख है। राष्ट्र की बदलती हुई परिस्थितियों के साथ-साथ उसे भी बदलना आवश्यक है, ताकि वह बदलती हुई परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुकूल हो।[1] यदि किसी संविधान को स्थायी मान लिया जाय तो उसकी तुलना धर्मशास्त्र से ही की जाने लगेगी। यदि संविधान में सरलता से परिवर्तन नहीं किया जा सके तो क्रान्ति ही प्रगति का अन्तिम विकल्प रह जाती है। संविधान में संशोधन से अभिप्राय है पुनः रचना या पुनर्निर्माण। संशोधनों द्वारा ही लिखित संविधान का विकास होता है अन्यथा संविधान' गतिहीन एवं जड़ बन जायेगा। वस्तुतः किसी भी संविधान की महानता इसी में है कि वह नष्ट हुए बिना बदलती हुई सामाजिक-आर्थिक मान्यताओं के अनुरूप ढाला जा सके।[2]

भारतीय संविधान अपनी निराली संशोधन प्रक्रिया के फलस्वरूप नम्यता और अनभ्यता का सुन्दर सामंजस्य उपस्थित करता है।[3] संविधान संशोधन प्रक्रिया का विवरण संविधान के भाग 20, अनुच्छेद 368 में किया गया है।[4] संविधान के कतिपय अंशों को हमारी संसद केवल सादे बहुमत से ही बदल सकती है। संविधान के बहुत-से अंश ऐसे हैं जिनको तब्दील करने के लिए संसद में उपस्थित और मत-दान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई और संसद की कुल संख्या के स्पष्ट बहुमत की आवश्यकता है। संविधान के कतिपय ऐसे प्रावधानों की, जो केन्द्र-राज्य सम्बन्धों को प्रभावित करते हैं, संशोधित करने के लिए संसद में उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत और संसद की कुल संख्या के स्पष्ट बहुमत के बाद कस से कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों का भी समर्थन प्राप्त करना पड़ता है।[5]

संसार के किसी अन्य संविधान में इतने कम समय में शायद ही इतने अधिक संशोधन किए गए हों जितने भारत के संविधान में गत 40 वर्षों में किए गए हैं। जवाहर लाल नेहरू के शासन काल (1950-1964) में संविधान में 17 संशोधन किए गए। श्रीमती इन्दिरा गाँधी के शासन काल में कुल मिलाकर संविधान में 32 संशोधन किए गए जिनमें 26 संशोधन (1966-1976) उनके कार्यकाल की पहली अवधि में तथा 6 संशोधन (1980-1984) उनके कार्यकाल की दूसरी अवधि में हुए। इनमें 42वाँ संशोधन सबसे बड़ा संशोधन अधिनियम है। जनता पार्टी के युग (1977-79) में 43वाँ और 44वाँ संशोधन किया गया। राजीव गांधी के प्रधान मन्त्रित्व (1984-1989) में 11 बार संविधान में परिवर्तन किया गया। राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने 62वें संविधान संशोधन से शुरूआत की और पहले 6 माह में लगभग 10 संविधान संशोधन विधेयक संसद में प्रस्तावित कर दिये। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अमेरिका के संविधान में लगभग 200 वर्षों में केवल 26 संशोधन किए गए हैं जबकि अमरीकी संविधान विश्व का सबसे

छोटा संविधान है और उसमें संशोधनों की ज्यादा आवश्यकता पड़नी चाहिए थी।

बयालीसवाँ संविधान संशोधनः परिचय

42वें सांविधानिक संशोधन अधिनियम द्वारा भारतीय संविधान की प्रस्ता वना से लेकर अन्त तक लगभग सभी महत्वपूर्ण भागों में संशोधन किया गया। यह संशोधन अधिनियम आपातकाल की निरंकुश सरकार के मस्तिष्क की उपज थी। इस संशोधन अधिनियम की प्रमुख विशेषताएँ थीं: संसद के बजाय प्रधान मन्त्री की शक्तियों में वृद्धि करना, न्यायपालिका को पंगु करना तथा राज्यों की तुलना में केन्द्रीय सरकार की शक्तियों में वृद्धि करना। यह कहना अनुपयुक्त प्रतीत नहीं होता कि 42वाँ संविधान संशोधन अपने बृहत् रूप के कारण स्वयं एक संविधान की हैसि यत रखता है और कम से कम यह संशोधन अधिनियम आकार की दृष्टि से अमरीकी संविधान से बड़ा है। इस संशोधन अधिनियम में 59 खण्ड हैं जिनके माध्यम से संविधान में कुछ नए भाग और कुछ नए अनुच्छेद जोड़े गए हैं; कतिपय अनुच्छेदों के स्थान पर नए अनुच्छेदों का अंतःस्थापन किया गया है, और कुछ पुराने अनुच्छेदों में संशोधन किया गया है।

42वाँ संविधान संशोधन स्वर्गसिंह समिति की सिफारिशों का परिणाम है। तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष देवकांत बरूआ ने 26 फरवरी, 1976 को स्वर्ण सिंह की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की, जिसे यह कार्य सौंपा गया कि वह सम्पूर्ण संविधान पर सविस्तार विचार करने के उपरान्त संविधान में संशोधन के लिए अपनी संस्तुतियाँ दे। इस समिति के द्वारा दिए गए प्रतिवेदन के आधार पर सितम्बर 1976 को लोकसभा में संविधान में संशोधन का 44वाँ विधेयक प्रस्तुत किया गया। 2 नवम्बर, 1976 को लोकसभा ने तथा 11 नवम्बर, 1976 की राज्यसभा ने भारी बहुमत से इस विधेयक को पारित कर दिया। लोकसभा और राज्यसभा के अधिकांश प्रतिपक्षी दलों के सदस्य इस समय मीसा और डी. आई. आर. में बन्द थे।

18 दिसम्बर, 1976 को इस विधेयक पर भारत के राष्ट्रपति के हस्ताक्षर हुए और इसे भारतीय संविधान का 42वाँ संविधान संशोधन अधिनियम घोषित किया गया।

42वाँ संविधान संशोधन' और संघ व्यवस्था

संविधान संशोधनों ने भारतीय संघ व्यवस्था को अनवरत रूप से प्रभावित किया है और 42वें संविधान संशोधन ने भारत की संघीय प्रणाली में आमूल परि वर्तन किए हैं, जो इस प्रकार है——

1. **राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद की सलाह के अनुसार का करे**——42वें संवि धान संशोधन द्वारा अनुच्छेद 74 को संशोधित किया गया है। अनुच्छेद 74(1) में यह लिखा था कि राष्ट्रपति को अपने कृत्यों का सम्पादन करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद् होगी जिसका प्रधान प्रधानमन्त्री हो गई।' अब इस अनुच्छेद को इस प्रकार लिखा गया है कि राष्ट्रपति को अपने कार्य के सम्पादन में सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद् होगी जिसका प्रधान प्रधान मन्त्री होगा और राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद की सलाह के अनुसार कार्य करेगा।[5]

अर्थात् अब यदि राजनीतिक कारणों से केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करना चाहे तो राष्ट्रपति आनाकानी नहीं कर सकता और उसे मन्त्रिपरिषद् की सलाह माननी ही होगी। इससे राज्यों के मामलों में केन्द्रीय सरकार के हस्तक्षेप के अवसर बढ़ जाते हैं।

2. **देश के किसी भाग के लिए आपात्काल की घोषणा**——42वें संविधान संशोधन से पूर्व यह व्यवस्था थी कि अनुच्छेद 352 के अधीन

संकटकाल की घोषणा पूरे देश के लिए ही की जा सकती थीं, देश के किसी एक या कुछ भागों के लिए नहीं। अब अनुच्छेद 352(1) में संशोधन करके राष्ट्रपति में यह अधिकार विहित किया। गया है कि वह देश के किसी एक हिस्से में आवश्यकतानुसार या पूरे देश में आपात कालीन स्थिति की घोषणा कर सकता है।

यदि केन्द्रीय सरकार राजनीतिक कारणों से किसी राज्य विशेष में आपातु कालीन स्थिति की घोषणा लागू करना चाहे तो 42वें संशोधन ने इसे आसान बना दिया है। अनुच्छेद 353 में यह भी जोड़ दिया गया कि आपात्काल की उद्घोषणा भारत के किसी हिस्से में ही की गई है तो केन्द्र की कार्यपालिका शक्ति उस राज्य या भारत के भाग को निर्देश दे सकती है। साथ ही संसद भी उस हिस्से या राज्य के लिए कानून बनाने की शक्ति रखती है।

3. **राष्ट्रपति शासन की अवधि एक वर्ष कर देना**——42वें संविधान संशो धन द्वारा अनुच्छेद 356(4) में भी संशोधन किया गया है। पहले किसी भी राज्य में संसद की स्वीकृति के बाद राष्ट्रपति का शासन 6 महीने तक लागू रह सकता था और उसके बाद पुनः संसद की स्वीकृ ति लेकर 6 महीने बढ़ाया जा सकता था तथा अधिकतम 3 वर्ष तक किसी भी राज्य में लगातार राष्ट्रपति का शासन रह सकता था। परन्तु प्रत्येक 6 माह बाद संसद' की स्वीकृति आवश्यक थी। इस संशोधन द्वारा दोनों स्थानों पर 6 मास के स्थान पर एक वर्ष कर दिया गया तथा अधिकतम सीमा 3 वर्ष ही रखी गयी है। इस परिवर्तन से भी राज्यों के मामलों में केन्द्रीय हस्तक्षेप की गुंजाइश में वृद्धि हो गई।

4. न्यायपालिका की पंगुता——42वें संशोधन द्वारा न्यायपालिका की शक्तियों को विभिन्न ढंगों से सीमित करके उसे अधीनस्थ स्थिति में पहुँचा दिया गया है। अभीतक संविधान का रक्षक न्यायपालिका को समझा जाता था लेकिन 42वें संशोधन ने संविधान को संसद की इच्छा का विषय बना दिया और न्यायपालिका को सांविधानिक संशोधनों की सांविधानिकता के परीक्षण करने के अधिकार से वंचित कर दिया। इससे संसद पर से न्यायपालिका का नियन्त्रण बड़ी हद तक खत्म हो गया।

42वें संशोधन ने न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार को इतना प्रतिबन्धित कर दिया है कि न्यायपालिका किसी विधि को मुश्किल से ही' असांविधानिक घोषित कर सकेगी। उपरोक्त संशोधन द्वारा यह उपबन्ध' किया गया है कि केन्द्रीय विधियों की सांविधानिक वैधता का परीक्षण केवल सर्वोच्च न्यायालय करेगा और राज्यविधियों की वैधता का निर्धारण केवल सम्बन्धित उच्च न्यायालय द्वारा किया जायगा। यह भी शर्त लगाई गई कि किसी विधि की सांविधानिक वैधता के प्रश्न पर विचार करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय में 7 न्यायाधीशों और उच्च न्यायालय में 5 न्यायाधीशों की उपस्थिति आवश्यक होगी और किसी विधि को असांविधानिक घोषित करने के लिए उपरोक्त संख्या के 2/3 बहुमत की स्वीकृति आवश्यक होगी।[6]

5. केन्द्र द्वारा राज्यों में सशस्त्र बल भेजना——चतुर्थ आम चुनाव के बाद शक्ति सन्तुलन राज्यों की तरफ झुकने लगा था और राज्यों को नियन्त्रण में रखना केन्द्रीय सरकार के लिए कठिन हो गया था। विगत वर्षों में केन्द्र और राज्य सर कारों के बीच जो गतिरोध उत्पन्न हुए उसका एक कारण यह भी था कि कुछ राज्यों में आन्तरिक अव्यवस्था दूर करने के लिए केन्द्र सरकार ने सी. आर. पी. भेज दी। राज्य सरकारों की ओर से इसका घोर विरोध किया गया और इसे असांविधानिक तथा राज्यों की स्वायत्तता के लिए घातक समझा गया।[7] संविधान का 42वाँ संशोधन राज्य सरकारों की इस शिकायत का उचित समाधान करने के बजाय केन्द्र सरकार की

इस कार्यवाही को सांविधानिक मान्यता प्रदान करता है। संविधान में अन्तःस्थापित एक नया अनुच्छेद 257-ए यह घोषणा करता है कि भारत सरकार किसी राज्य में विधि और व्यवस्था की गम्भीर परिस्थिति का सामना करने के लिए संघ के सशस्त्र बल का या संघ के नियन्त्रण के अधीन किसी अन्य बल का अभियोजन कर सकेगी।'

इस संशोधन अधिनियम में 'विधि और व्यवस्था की गम्भीर परिस्थिति' शब्दों की कोई निश्चित परिभाषा नहीं की गई है। केन्द्र सरकार किस राज्य में एक साधारण हड़ताल होने को भी गम्भीर अव्यवस्था की स्थिति मान सकती है और सेना भेजकर उस राज्य के प्रशासन में हस्तक्षेप कर सकती है।

6. शक्ति विभाजन में परिवर्तन——42वें संशोधन द्वारा केन्द्र और राज्यों के बीच शक्ति विभाजन में भी कुछ परिवर्तन किया गया है। राज्य सूची के कुछ विषयों को जिनमें शिक्षा उल्लेखनीय है समवर्ती सूची में रख दिया गया। राज्य सूची से न्याय, प्रशासन, वन, जंगली जानवरों और पक्षियों का संरक्षण, तोल और माप विषयों को निकालकर समवर्ती सूची में रख दिया गया है। जनसंख्या नियन्त्रण और परिवार नियोजन को भी समवर्ती सूची में सम्मिलित किया गया है। यह परिवर्तन निस्संदेह संघ सरकार की शक्तियों में वृद्धि की ओर संकेत करते हैं। इन विषयों को समवर्ती सूची में सम्मिलित करने का प्रभाव यह होगा कि इन विषयों से सम्बन्धित कानूनों में एकरूपता आएगी तथा मुख्य नीतियों का निर्धारण केन्द्रीय सरकार द्वारा कर दिया जाएगा।[8]

बयालीसवाँ संविधान संशोधन—केन्द्रीयकरण में वृद्धि

बयालीसवें संविधान संशोधन द्वारा राज्यों की स्वायत्तता पर प्रहार किया गया एवं कठोर संघात्मकता (Federalism tightened) की प्रवृत्ति के संकेत मिलते हैं। केन्द्रीय सरकार अव्यवस्था अथवा हिंसा की आशंका के नाम पर राज्यों में सेना भेजकर राज्य के प्रशासन में हस्तक्षेप कर सकती है। राज्य सूची के अनेक विषयों को समवर्ती सूची में रख देने से उन पर केन्द्रीय संसद द्वारा विधि निर्माण सम्भव हो गया है। राष्ट्रपति अपात् की उद्घोषणा देश के किसी भाग अथवा राज्य के लिए कर सकता है। यह प्रावधान संघ सरकार को राज्यों की स्वायत्तता में हस्तक्षेप करने का और भी अधिक अवसर प्रदान करता है। संघ सरकार केवल राजनीतिक कारणों से कुछ राज्यों के भू-भाग' में आपातु उद्घोषणा करके उन पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर सकती है। ई. एम. एस. नाम्बुद्रीपाद के अनुसार 'इस संविधान संशोधन से राज्यों पर केन्द्र का नियन्त्रण अधिक कठोर कर दिया गया है। इससे राज्यों की स्वायत्तता तहस-नहस होगी और एकता के नाम पर असन्तोष बढ़ेगा।"[9] प्रो० एलू दस्तुर के अनुसार, "महत्वपूर्ण राष्ट्रीय मसलों जैसे अन्तर्राज्यीय सीमा विवाद, नदी-पानी विवाद आदि को हल करने के प्रश्न पर तो यह संशोधन अधिनियम चुप है। न्याय प्रशासन जैसे विषय को राज्य सूची से समवर्ती सूची में डालने का कोई औचित्य समझ में नहीं आता है।[10] सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियों को प्रतिबन्धित करने वाले उपबन्धों से भी संघात्मकता का आधारभूत तत्व प्रभावित होता है।

बाद में जनता पार्टी सरकार ने बयालीसवें संशोधन की कतिपय बुराइयों को दूर करने के लिए 43वाँ और 44वाँ संविधान संशोधन अधि किया। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता और क्षेत्राधिकार को पूर्वव दिया गया। शिक्षा और वन जैसे विषयों को पुनः राज्य सूची में। किन्तु राज्य सभा में काँग्रेस दल का बहुमत होने के कारण उसने शिक्षा और राज्य सूची में रखना स्वीकार नहीं किया। 43वें संशोधन द्वारा अब यह परिवर्तन भी कर दिया गया है कि राज्यों की

सहमति के बिना केन्द्रीय फोर्स तैनात नहीं की जाएगी।

संक्षेप में, संविधान संशोधनों से भारत में केन्द्र की शक्ति में वृद्धि हुई है। केन्द्र की शक्तियाँ मुख्य रूप से अन्तर्राज्यीय व्यापार और उद्योगों के नियन्त्रण और नियमन तथा सम्पति के अधिग्रहण के सम्बन्ध में तो पूर्व में ही बढ़ चुकी थीं। 42वें संशोधन ने राज्यों को केन्द्र का मातहत बना दिया और राज्य सरकारों का अस्तित्व केन्द्र की इच्छा पर निर्भर कर दिया।

70 वर्षों में देश के संविधान में किए जा चुके हैं 103 संशोधन

संविधान सभा में नेहरू ने कहा था– बदलती आवश्यकताओं के अनुसार भविष्य में संविधान में संशोधन की जरूरत हो सकती है, क्योंकि कोई भी संक्रिधान आने वाली पीढ़ियों को बाँध नहीं सकता।' दरअसल संविधान में संशोधन संविधान के ही अनुच्छेद 368 के अंतर्गत हो सकता है। इसमें अब तक 103 संशोधन हो चुके हैं। इसके लिए 124 संविधान संशोधन विधेयक पारित हुए हैं। ऐसे में कई बार यह भ्रांति हो जाती है कि संविधान में 124 संशोधन हो चुके हैं। हमारे संविधान को विश्व के सबसे अधिक संशोधित संविधानों में से माना जाता है। लेकिन इनमें से अधिकांश संशोधन छोटे-मोटे स्पष्टीकरण वाले ही हैं। जैसे- राज्य का नाम बदलना, भाषाओं को संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल करना या आरक्षण की समय अवधि बढ़ाना। यहां जानिए बीते 70 वर्षों में हुए 12 सवर्ण संशोधनों के बारे में...

7वां संशोधनः राज्य का भाषाई आधार पर पुनर्गठन

1955 : इससे मामा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किया गया। राज्य पुनर्गठन आयोग की रिपोर्ट के आधार पर यह संशोधन किया गया।

44वां संशोधनः संपत्ति मूल अधिकार से बाहर

1978 सम्पत्ति का पहला महत्वपूर्ण संशोधन था। जमींदारी उन्मुलन और संपत्ति के अधिकार को लेकर लंबे समय तक पालिका और विधायिका के बीच रस्साकशी चली थी। जमींदारी उन्मूलन के क्ष में जो क़ानून संसद में बनाया था, उसे न्यायपालिका ने निरस्त कर दिया। इसके बाद विधान में संथन किया गया। फिर को न्यायपालिका को स्वीकार्य नहीं हुई तो कई संशोधन करने पड़े, जिनमें पहला, चौथा, 17वां, 29वा, 34वां आदि संशोधन है। अखिर 1978 में 44वें संशोधन द्वारा संपत्ति के अधिकार को मूल अधिकारी के अध्याय से निकाल दिया गया।

52वां संशोधनः दल बल के खिलाफ

1985: इसके जरिए संविधान में दसवीं अनुसूची जोड़ी गई, जिसे दल-बदल विरोधी कानून कहा जाता है। इसमें दल बदलने वालों की सदस्यता समाप्त करने का प्रावधान किया गया।

73वां संशोधनः पंचायती राज व्यवस्था के लिए

1952: 73वां और 74वाँ संशोधन से पंचायती राज व्यवस्था आई। नगर पालिकाओं और पंचायतों को संवैधानिक दर्जा दिया गया और प्रावधान किया गया कि इन्हें 6 महीने से अधिक समय के लिए निलंबित नहीं रखा जा सकता।

86वां संशोधनः शिक्षा बना मूल अधिकार

2002 इस संविधान संशोधन के माध्यम से छह से 14 वर्ष की आयु के बच्चों के लिए शिक्षा का अधिकार लाया गया। संविधान आयोग ने सिफारिश की थी कि शिक्षा के अधिकार को मूल अधिकार माना जाए, लेकिन संशोधन में ऐसा सिर्फ 6 वर्ष से 14 वर्ष तक की आयु के लिए किया गया।

91वां संशोधनः मंत्रियों की संख्या पर नियंत्रण

2004: इसके माध्यम से केंद्र और राज्यों में मंत्रियों की संख्या पर अंकुश लगाया गया। तय किया गया कि मंत्रियों की संख्या निम्न सदन के 15 प्रतिशत से। अधिक नहीं होगी। इसके पहले कुछ राज्यों में ऐसा हो रहा था कि विधानसभा में कुल सदस्यों की संख्या तो 60 है और इसमें से 49 को मंत्री बना दिया गया। बाकी को भी मंत्री के समकक्ष दर्जा देकर पद दे दिया गया। इसे रोकने के लिए संविधान आयोग की सिफारिश पर यह संशोधन लाया गया।

93वां संशोधनः ओबीसी को कोटा मिला

2006: इसके माध्यम से संविधान के अनुच्छेद 15 में बदलाव करके सामाजिक और शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़ों को शिक्षण संस्थानों में आरक्षण की व्यवस्था की गई। पहले यह प्रावधान सिर्फ एससी-एसटी और एंग्लो इंडियंस के लिए था। इस संशोधन के जरिए अन्य पिछड़ा वर्ग (ओबीसी) को यह सुविधा दी गई।

99वां संशोधन ज्यूडिशियल कमीशन बनाया

2014 : यह बहुत महत्वपूर्ण संशोधन था, जिसके द्वारा नेशनल ज्यूडिशियल आइटमेट कमीशन का प्रावधान किया गया। दुनिया में कोई देश ऐसा नहीं है, जहां जज अपने ही ब्रदर जज को खुद चुनते हैं,

लेकिन हिंदुस्तान में यह व्यवस्था थी और अभी है। इसमें जजों के जजों के कोलेजियम द्वारा ही चुन। जाता है, इसी में सुधार के लिए 99 वां संशोधन लाया गया। लेकिन जब्डू मामला अदालत के सामने पहुंचा तो सुप्रीम कोर्ट ने उसे असंवैधानिक घोषित कर दिया।

ये भी अहम संशोधन

61वां संशोधन ——

1989 में इस संशोधन से मताधिकार की आयु 21 वर्ष से कम करके 18 वर्ष की गई थी।

101वां संशोधन——

2017 में गुड्स एंड सर्विसेस टैक्स (जीएसटी) को लागू करने के लिए 101वां संविधान संशोधन किया गया।

103वां संशोधन——

2019 में संपन्न संसद के शीतकालीन सत्र में अंतिम संशोधन आर्थिक रूप से पिछड़ों को आरक्षण देने के लिए किया गया है।

सन्दर्भ

1. एम. वी. पायली, इण्डिया कॉन्स्टीट्यूशन (बम्बई, 1967), पृ० 403.
2. सुभाष काश्यप, सांविधानिक विकास और स्वाधीनता संघर्ष (नई दिल्ली, 1972), पृ. 350,

3. के. सी. ह्वीयर, मॉडर्न कॉल्स्टीट्यूशन, पृ. 43.
4. भारतीय संविधान----अनुच्छेद 368.
5. लोकसभा सचिवालय, कॉन्स्टीट्यूशनल एयद्धमेण्ट इन इण्डिया, (नई दिल्ली, 1976), पृ. 3-4.
6. अनुच्छेद 144-ए तथा 228-ए.
7. डॉ. बाबूलाल फड़िया, भारतीय संघ में अन्तर्राज्यीय सम्बन्ध', लोक प्रशासन, जुलाई-दिसम्बर 1978, पृ. 263.
8. उपर्युक्त।
9. ओ. पी. गोयल, इण्डिया-गवर्नमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स (नई दिल्ली, 1979), पृ. 270-271 से उद्धृत।
10. उपर्युक्त, पृ. 271.
11. दैनिक भास्कर कोटा संस्करण पृ. 04 26/01/2019

परिशिष्ट–1

केन्द्र–राज्य सम्बन्धों पर प्रशासनिक सुधार आयोग का प्रतिवेदन

सन् 1966 में भारत सरकार ने भारतीय प्रशासन में सुधार हेतु संस्तुतियाँ प्रस्तुत करने के लिए प्रशासनिक सुधार आयोग (Administrative Reforms Commission) की स्थापना की। इस आयोग के अध्यक्ष मोरारजी देसाई थे और जब वे केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में उपप्रधानमन्त्री बना दिये गये तो के. हनुमन्तैया की अध्यक्षता में आयोग ने सरकार के सामने अपने प्रतिवेदन प्रस्तुत किये। प्रशासनिक सुधार आयोग को अन्य विषयों के साथ–साथ केन्द्र–राज्य सम्बन्धों पर भी अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करने को कहा गया। 19 जून, 1969 को आयोग ने केन्द्र–राज्य सम्बन्धों पर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए निम्नलिखित सिफारिश की :

आयोग का मानना था कि भारत में केन्द्रोन्मुखी संघ व्यवस्था होने के बावजूद केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में व्यवधान उत्पन्न होना स्वाभाविक है। सन् 1967 तक केन्द्र–राज्य सम्बन्ध खुले तौर से चर्चा का विषय नहीं बने किन्तु उसके बाद भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करने वाली प्रमुखतम समस्याओं में केन्द्र–राज्य सम्बन्ध ही प्रधान समस्या रही है। यह माँग की जाती रही है कि राज्यों के दायित्व बढ़ते जा रहे हैं अतः संविधान में संशोधन करके राज्यों को अधिकतम वित्तीय और प्रशासनिक अधिकार प्रदान कर दिये जाने चाहिए। आयोग का विचार था कि केन्द्र–राज्य मतभेदों का कारण संविधान द्वारा शक्तियों का दोषपूर्ण या असन्तुलित वितरण नहीं है अपितु सांविधानिक प्रावधानों के क्रियान्वयन की त्रुटिपूर्ण पद्धति एवं प्रक्रिया है। जहाँ एक ओर परिणामों की शीघ्र उपलब्धि हेतु केन्द्रीय नियोजन का सहारा लिया जिससे राज्यों के आन्तरिक मामलों में केन्द्रीय हस्तक्षेप में वृद्धि हुई। दूसरी तरफ राज्यों ने महत्वाकांक्षी योजनाएँ बनायीं जिन पर केन्द्र ने नियन्त्रण लगाया तो उसे राज्यों के विरोध का सामना करना पड़ा। जब केन्द्र में सुदृढ़ करिश्माई नेतृत्व था तो ऐसे मतभेदों का निदान करना आसान था। किन्तु अब केन्द्र तथा राज्यों में प्रतिद्वन्द्वी दलों की सरकारें होने के कारण केन्द्र–राज्य सम्बन्ध बहुत अधिक जटिल बनते जा रहे हैं। आयोग का विचार है कि भारत का सांविधानिक ढाँचा काफी सुदृढ़ है और सुदृढ़ ही रहना चाहिए। संविधान इतना लचीला है कि प्रतिद्वन्द्वी दलीय व्यवस्था में भी कार्यरत रह सकता है। संविधान संशोधन से ही केन्द्र–राज्य सम्बन्धों को मधुर नहीं

बनाया जा सकता अपितु सभी राजनैतिक दल सहयोग एवं समन्वय की भावना से कार्य करें तो सामंजस्यपूर्ण केन्द्र–राज्य सम्बन्धों का विकास सम्भव है।

राज्य सूची के विषयों पर केन्द्र की भूमिका

केन्द्रीय सरकार अपने को संघ सूची और समवर्ती सूची के विषयों तक ही सीमित नहीं रखती है। यह राज्य सूची के विषयों में भी हस्तक्षेप करने लगी है। आर्थिक नियोजन के परिणामस्वरूप केन्द्रीय अभिकरण राज्यों के मामलों में अनवरत दखलन्दाजी करने लगे हैं। केन्द्र एवं राज्यों में एक ही दल की सरकार (कांग्रेस युग) होने से तथा वित्तीय सहायता के लिए राज्यों की केन्द्रीय निर्भरता से इस प्रवृत्ति को और अधिक बल मिला। आयोग का विचार है कि राज्य सूची के विषयों पर केन्द्रीय सरकार को मार्गदर्शक मित्र और दार्शनिक की ही भूमिका अदा करना चाहिए। राज्य सूची के विषयों पर राज्य सरकारों को अपनी विचारधारा के अनुरूप नीतियाँ बनाने तथा उन्हें क्रियान्वित करने की पूरी छूट दी जानी चाहिए। केन्द्र एवं राज्यों में अलग–अलग विचारधाराओं वाले दलों की सरकारें होने के कारण सम्पूर्ण देश में एकरूप नीतियों का क्रियान्वयन सम्भव नहीं है। आयोग का विचार है कि राज्य–सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों में केन्द्रीय सरकार की अधोलिखित भूमिका होनी चाहिए :

प्रथम, राज्यों को देश के अन्य भागों में किये जाने वाले अच्छे कार्यक्रमों एवं कार्यपद्धतियों की सूचनाएँ प्रेषित करना, राज्यों को अच्छे कार्यक्रम बनाने के लिए प्रेरित करना।

द्वितीय, राज्यों के सहयोग से राष्ट्रीय विकास की योजनाएँ बनाना।

तृतीय, राष्ट्रीय स्तर पर उन विषयों के सम्बन्ध में अनुसन्धान कार्य हाथ में लेना जिन्हें राज्यों द्वारा पूरा करना सम्भव नहीं है।

चतुर्थ, विभिन्न विषयों पर विचार–विमर्श करने के लिए राज्यों के प्रतिनिधियों को किसी मंच पर एकत्रित करना।

पंचम, बुनियादी स्वरूप के प्रशिक्षण कार्यों को हाथ में लेना, जैसे नियोजनकर्ता एवं प्रशासकों को प्रशिक्षण देना, आदि।

वित्तीय संसाधनों का बँटवारा–प्रशासनिक सुधार आयोग ने अनुच्छेद 282 के अन्तर्गत राज्यों को दी जाने वाली वित्तीय सहायता का सरलतम रूप प्रस्तुत किया। इस सम्बन्ध में आयोग ने निम्नलिखित सिफारिशें की :

प्रथम, सर्वप्रथम राज्यों को दी जाने वाली कुल केन्द्रीय सहायता की मात्रा तय की जानी चाहिए। इसके बाद ऋण (Loan) के रूप में दी जाने वाली रकम तय कर लेनी चाहिए। इसके बाद बची हुई रकम को अनुदान (Grant) के रूप में वितरित किया जाना चाहिए।

द्वितीय, इस अनुदान को वितरित करते समय वह राशि अलग कर लेनी चाहिए जो मूलभूत राष्ट्रीय महत्व की परियोजनाओं पर खर्च की जानी है। बची हुई राशि को ही केन्द्रीय अनुदान के रूप में राज्यों में वितरित किया जाना चाहिए।

तृतीय, यदि राज्य ने किसी परियोजना को पूरा नहीं किया है तथा केन्द्रीय अनुदान को अधिक खर्च कर दिया है तो बाद में केन्द्रीय अनुदान की मात्रा कम की जा सकती है।

चतुर्थ, राज्यों में केन्द्रीय पहल की परियोजनाओं की संख्या कम होनी चाहिए और केन्द्रीय पहल की परियोजनाओं के मानदण्ड निश्चित होने चाहिए।

राज्यों की ऋणग्रस्तता

वर्तमान में राज्यों की वित्तीय स्थिति अच्छी नहीं है। राज्यों का खर्च बढ़ गया है, कल्याणकारी एवं विकास योजनाओं में वे अधिक खर्च करने लगे हैं। राज्यों की बढ़ती हुई ऋणग्रस्तता के चार मुख्य कारण हैं: **प्रथम,** पिछड़े हुए क्षेत्रों के विकास पर किया जाने वाला अधिकतम व्यय। इस व्यय से आर्थिक लाभ की आशा नहीं की जा सकती। **द्वितीय,** सार्वजनिक उद्यमों, सिंचाई और बिजली परियोजनाओं में किये जाने वाले व्यय से तुरन्त आर्थिक लाभ की उम्मीद नहीं की जा सकती। **तृतीय,** प्राकृतिक प्रकोप जैसे अकाल, सूखे और बाढ़ से भी राज्यों की ऋणग्रस्तता में वृद्धि हुई है। **चतुर्थ,** कई राज्य महत्वाकांक्षी बड़ी–बड़ी योजनाएँ बनाते हैं और अपने साधनों की उपेक्षा कर देते हैं। इन योजनाओं को पूरा करने के लिए उन्हें ऋण लेना ही पड़ता है।

आयोग का विचार है कि राज्यों की परियोजनाओं को दो भागों में– उत्पादित और गैर–उत्पादित (Productive And Non & Productive Schemes) में बाँटा जाना चाहिए। योजना आयोग को वे सिद्धान्त तय करने चाहिए जिनके आधार पर परियोजनाओं को दो

भागों में विभाजित किया जा सकता है। केवल उत्पादित परियोजनाओं के लिए ही ऋण सहायता उपलब्ध करायी जानी चाहिए। ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि उस परियोजना के चालू होने पर व्याज सहित ऋण लौटाया जा सके।

योजना अनुदान के सिद्धान्त

संविधान के अनुच्छेद 282 के अन्तर्गत राज्यों की योजना के लिए केन्द्रीय वित्तीय सहायता की व्यवस्था की गयी है। इस अनुच्छेद में अनुदान–सहायता के सिद्धान्तों का उल्लेख नहीं किया गया है। आयोग का विचार है कि वित्त आयोग को वे सिद्धान्त निश्चित करने चाहिए जिनके तहत् राज्यों को वित्तीय अनुदान प्रदान किये जाते हैं।

राज्य कर्मचारियों की वेतन वृद्धि और केन्द्र

केन्द्रीय सरकार अपने कर्मचारियों का महँगाई–भत्ता आदि बढ़ाती रहती है, इसका प्रभाव राज्यों के बजट पर पड़ता है। राज्य कर्मचारी भी केन्द्र के बराबर महँगाई भत्ते की माँग करते हैं, राज्य सरकारों को उनकी मांगों के आगे झुकना पड़ता है जिससे उन पर काफी आर्थिक भार बढ़ जाता है। आयोग का विचार है कि केन्द्रीय सरकार की नीति के कारण ही मुद्रा–प्रसार बढ़ता है, अतः राज्यों के इस प्रकार के बढ़ते हुए व्यय का भार केन्द्रीय सरकार को ही वहन करना चाहिए।

राज्यपाल की भूमिका

राज्यपालों को अपने स्वविवेक से भी कार्य करना होता है। राज्यपालों की स्वविवेकी शक्तियाँ लोकतन्त्रात्मक सरकारों के क्रियाकलापों को प्रभावित करती हैं। राज्यपाल अपनी स्वविवेकी शक्तियों का प्रयोग निश्चित मानदण्डों के आधार पर करें, इसके लिए कतिपय मार्ग निर्देशक सिद्धान्त (Guide lines) तय किये जाने चाहिए। ये मार्ग निर्देशक सिद्धान्त अन्तर्राज्यीय परिषद जैसी संस्था को बनाने चाहिए। आयोग ने अनुच्छेद 194 के अन्तर्गत राज्यपाल की शक्तियों में वृद्धि करने की सिफारिश भी की है ताकि सांविधानिक संकट के समय वह पर्याप्त कार्यवाही कर सकें।

अन्तर्राज्यीय परिषद्

संविधान के अनुच्छेद 263 के अन्तर्गत एक अन्तर्राज्यीय परिषद् स्थापित किये जाने का प्रावधान है। सन् 1967 के बाद ऐसी परिषद् स्थापित करने की माँग की जाती रही है। आयोग ने भी अन्तर्राज्यीय परिषद स्थापित करने की सिफारिश की है। आयोग का विचार

है कि अन्तर्राज्यीय परिषद जैसी संस्था से केन्द्र–राज्य सम्बन्ध अधिक मधुर होंगे। अन्तर्राज्यीय परिषद् का गठन प्रधानमन्त्री, वित्त मन्त्री, गृहमन्त्री, लोकसभा में विपक्ष के नेता, प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद से एक प्रतिनिधि (कुल पाँच प्रतिनिधि) तथा सम्बन्धित मामले के केन्द्रीय मन्त्री अथवा मुख्यमन्त्री से किया जाना चाहिए।

परिशिष्ट – 2

केन्द्र–राज्य सम्बन्धों पर राजमन्नार समिति प्रतिवेदन

तमिलनाडु सरकार ने 22 सितम्बर, 1969 को केन्द्र–राज्य सम्बन्धों पर जाँच समिति (Centre & State Relations Inquiry Committee, 1971) नियुक्त की। इस समिति को इसके अध्यक्ष के नाम से 'राजमन्नार समिति के नाम से जाना जाता है। समिति ने सन् 1971 में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों की पुनर्रचना हेतु कतिपय महत्वपूर्ण सुझाव दिये।

तमिलनाडु की डी. एम. के. पार्टी 'राज्य स्वायत्तता' की माँग कर रही थी। उस समय कांग्रेस विभाजन के परिणामस्वरूप इसकी सौदेबाजी की स्थिति में वृद्धि हो गयी थी और यह अपनी राज्य स्वायत्तता की माँग को अधिकृत वैधानिक तर्कों से सम्पुष्ट करना चाहती थी। चतुर्थ आम चुनाव के बाद बदले राजनीतिक वातावरण में केन्द्र–राज्य सम्बन्ध प्रमुखतम विवादास्पद मुद्दा था और डी. एम. के. सरकार इससे राजनीतिक लाभ अर्जित करना चाहती थी।

इस जाँच समिति में तीन ख्यातिप्राप्त व्यक्ति रखे गये थे। ये ऐसे व्यक्ति थे जिनकी डी. एम. के. की राज्य स्वायत्तता की माँग से सहानुभूति थी। इस समिति से सम्पूर्ण केन्द्र–राज्य सम्बन्धों का अध्ययन करके राज्यों को अधिकतम स्वायत्तता प्रदान करने हेतु सांविधानिक सुझाव प्रस्तुत करने को कहा गया। समिति ने राज्यों के मुख्यमन्त्रियों, मुख्य सचिवों, सेवानिवृत्त न्यायाधीशों, सम्पादकों, विधायकों आदि के पास प्रश्नावलियाँ भेजीं। इसके बाद समिति ने निम्नलिखित महत्वपूर्ण सिफारिशें की :

1. एक अन्तरराज्यीय परिषद् स्थापित की जाये, जिसका अध्यक्ष प्रधानमन्त्री हो तथा राज्यों के मुख्यमन्त्री या उनके नामित व्यक्ति उसके सदस्य हों। उस परिषद् से परामर्श किये बिना संसद में ऐसा कोई विधेयक प्रस्तुत न किया जाये जिससे एक या अधिक राज्य प्रभावित होते हों। प्रतिरक्षा और विदेशी सम्बन्धों के अतिरिक्त उस परिषद् से परामर्श किये बिना ऐसा कोई निर्णय न किया जाये जिससे एक या अधिक राज्यों के हित प्रभावित होते हों।

2. योजना आयोग भंग कर दिया जाये तथा उसके स्थान पर एक सांविधानिक निकाय नियुक्त किया जाये जिसमें राज्यों को सलाह देने के लिए विज्ञान, तकनीक, कृषि

और अर्थ विशेषज्ञ हों। राज्यों के अपने आयोजन मण्डल हों और ये निकाय उन्हें परामर्श देने का कार्य करें।

3. वित्त आयोग स्थायी आधार पर स्थापित किया जाये तथा राज्यों के पक्ष में करों का पहले से अधिक वितरण हो ताकि उन्हें केन्द्र पर कम से कम निर्भर करना पड़े।

4. समिति ने केन्द्र–राज्य सम्बन्धों के पुननिर्धारण का सुझाव दिया। समिति का सुझाव था कि संघीय एवं समवर्ती सूची से कई विषयों को हटाकर राज्य सूची में रख दिया जाना चाहिए। कई विषय जैसे विनिमय स्कन्ध एवं भविष्य के सौदे, राष्ट्रीय महत्व के ऐतिहासिक स्थान, समाचार–पत्रों तथा उन पर दिये गये विज्ञापनों पर कर, विवाह तथा तलाक, सम्पत्ति का हस्तांतरण, श्रमिक संघ, औद्योगिक एवं श्रम विवाद, सामाजिक सुरक्षा, बीमा एवं बेरोजगारी, बॉयलर, सम्पत्ति का अधिग्रहण आदि राज्य सूची में रख दिये जाने चाहिए। समिति का विचार था कि संविधान के अनुच्छेद 248 एवं संघ सूची की 97वीं मद के अन्तर्गत दी गई अवशिष्ट शक्तियों पर विधि निर्माण का अधिकार राज्यों को दे दिया जाना चाहिए।

5. राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति राज्य के मन्त्रिमण्डल अथवा उसी उद्देश्य से बनायी गई किसी उच्चाधिकार निकाय के परामर्श से और जो व्यक्ति एक बार राज्यपाल बन जाय उसे दुबारा किसी अन्य सरकारी पद पर नियुक्त न किया जाये। संविधान में संशोधन करके राष्ट्रपति को राज्यपालों के लिए आदेशपत्र जारी करने का अधिकार दिया जाना चाहिए। इस प्रकार के आदेश पत्र में उनके लिए मार्गदर्शी रूपरेखा हो। अनुच्छेद 164 मन्त्रियों का अपने पद पर बना रहना राज्यपाल की इच्छा पर निर्भर होगा', संविधान में से निकाल दिया जाना चाहिए।

6. राज्यों के उच्च न्यायालय राज्यों के क्षेत्राधिकार के सभी मामलों के लिए उच्चत्तम न्यायालय हों। तथापि संविधान की व्याख्या सम्बन्धी मामले, पूर्व की भाँति, उच्चतम न्यायालय में पेश किये जायें।

7. समिति का विचार था कि आपात्काल की घोषणा से सम्बन्धित अनुच्छेदों जैसे 356, 357 तथा 360 को संविधान से निकाल देना चाहिए।

8. राज्यों को वित्तीय क्षेत्र में स्वायत्तता प्रदान की जानी चाहिए। राज्यों को निगम कर, निर्यात कर तथा आबकारी कर में से हिस्सा मिलना चाहिए।

9. राज्य सभा में सभी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए तथा अंग्रेजी को लिंक भाषा के रूप में मान्यता दी जानी चाहिए।

राजमन्नार रिपोर्ट को निष्पक्ष प्रतिवेदन नहीं कहा जा सकता। इस प्रतिवेदन में उन दृष्टिकोणों का समर्थन किया गया है जिनमें इस समिति को नियुक्त करने वाली डी. एम. के. पार्टी की सरकार का विश्वास था। उस समय की केन्द्रीय सरकार ने इस प्रतिवेदन को पूर्णतया अस्वीकार कर दिया। आन्ध्रप्रदेश के तात्कालिक मुख्यमन्त्री ब्रह्मानन्द रेड्डी ने कहा कि वे राजमन्नार समिति प्रतिवेदन' से सहमत नहीं हैं। कर्नाटक के तात्कालिक मुख्यमन्त्री वीरेन्द्र पाटिल का विचार था कि 'समिति की कुछ स्वीकार करने योग्य सिफारिशें मान ली जानी चाहिए।' जनसंघ के तात्कालिक अध्यक्ष का मत था कि 'राजमन्नार समिति प्रतिवेदन से प्रान्तीयता की संकीर्ण मनोवृत्ति फैलेगी और भारत की राष्ट्रीय एकता खण्डित होगी।

परिशिष्ट– 3

भारतीय संविधान की सूची

(1) सूची–1 संघ सूची

(1) भारत की और उसके प्रत्येक भाग की रक्षा जिसके अन्तर्गत रक्षा के लिए तैयारी और ऐसे सभी कार्य हैं, जो युद्ध के समय युद्ध के संचालन और उसकी समाप्ति के पश्चात् प्रभाव सैन्य विनियोजन में सहायक हों।

(2) नौ सेना, सेना और वायु सेना, संघ के अन्य सशस्त्र बल–(क) संघ के किसी सशस्त्र बल या संघ के नियंत्रण के अधीन किसी अन्य बल का या उसकी किसी टुकड़ी या यूनिट का किसी राज्य में सिविल शक्ति की सहायता में अभियोजन ऐसे अभिनियोजन के समय ऐसे बलों के सदस्यों की शक्तियाँ, अधिकारिता, विशेषाधिकार और दायित्व।

(3) छावनी क्षेत्रों का परिसीमन, ऐसे क्षेत्रों में स्थानीय स्वशासन, ऐसे क्षेत्रों के भीतर छावनी प्राधिकारियों का गठन और उनकी शक्तियाँ तथा ऐसे क्षेत्रों में गृहवास–सुविधा का विनिमय (जिसके अन्तर्गत भाटक का नियंत्रण है।)

(4) नौसेना, सेना और वायुसेना संकर्म।

(5) आयुध, अगन्यायुध, गोला बारूद और विस्फोटक।

(6) परमाणु उर्जा और उसके उत्पादन के लिए आवश्यक खनिज सम्पत्ति स्रोत।

(7) संसद द्वारा विधि द्वारा रक्षा के प्रयोजन के लिए या युद्ध के संचालन के लिए आवश्यक घोषित किये गये उद्योग।

(8) केन्द्रीय आसूचना और अन्वेषण ब्यूरो।

(9) रक्षा, विदेश कार्य, या भारत की सुरक्षा सम्बन्धी कारणों से निवारक निरोध। इस प्रकार निरोध में रखे गये व्यक्ति।

(10) विदेश कार्य सभी विषय जिनके द्वारा संघ का किसी विदेश से सम्बन्ध होता है।

(11) राजनयिक, कौंसलीय, और व्यापारिक प्रतिनिधित्व।

(12) संयुक्त राष्ट्र संघ।

(13) अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, संगमों और अन्य निकायों में भाग लेना और उनमें किये गये विनिश्चयों का कार्यान्वयन।

(14) विदेशों से सन्धि और करार करना और विदेशों से की गई सन्धियों का करार और अभिसमयों का कार्यान्वयन।

(15) युद्ध और शान्ति।

(16) वैदेशिक अधिकारिता।

(17) नागरिकता, देशीयकरण, और अन्यदेशीय।

(18) प्रत्यर्पण।

(19) भारत मे प्रवेश और उसमें से उत्प्रवास और निष्कासन, पासपोर्ट और वीजा।

(20) भारत से बाहर के स्थानों की तीर्थ यात्राएँ।

(21) खुले समुद्र या आकाश में की गई दस्युता और अपराध, स्थल या खुले समुद्र या आकाश में राष्ट्रों की विधि के विरुद्ध किये गये अपराध।

(22) रेल।

(23) ऐसे राजमार्ग जिन्हें संसद द्वारा बनाई गई विधि द्वारा या उसके अधीन राष्ट्रीय राजमार्ग घोषित किया गया है।

(24) यन्त्र नोदित जलयानों के सम्बन्ध में ऐसे अन्तर्देशीय जलमार्गों पर पोत परिवहन और नौ परिवहन जो संसद द्वारा विधि द्वारा राष्ट्रीय जल मार्ग घोषित किये गये हैं ऐसे जल मार्गों पर मार्ग का नियम।

(25) समुद्री पोत परिवहन और नौ परिवहन जिसके अन्तर्गत ज्वारीय जल में पोत परिवहन और नौ परिवहन है। वाणिज्यिक समुद्री बेड़े के लिए शिक्षा और प्रशिक्षण की व्यवस्था तथा राज्यों और अन्य अभिकरणों द्वारा दी जाने वाली ऐसी शिक्षा और प्रशिक्षण का विनियमन।

(26) प्रकाश स्तम्भ जिनके अन्तर्गत प्रकाश पोत, बीकन तथा पोत परिवहन और वायुयान की सुरक्षा के लिए अन्य व्यवस्था है।

(27) ऐसे पत्तन जिन्हें संसद द्वारा बनाई गई विधि या विद्यमान विधि द्वारा उसके अधीन महापत्तन घोषित किया जाता है, जिसके अन्तर्गत उनका परिसीमन और उनमें पत्तन प्राधिकारियों का गठन और उनकी शक्तियाँ निहित हैं।

(28) पत्तन करतीन जिसके अन्तर्गत उससे सम्बद्ध अस्पताल हैं–नाविक और समुद्रीय–अस्पताल।

(29) वायुमार्ग, वायुयान और विमान चालन, विमान क्षेत्रों की व्यवस्था, विमान यातायात और विमान क्षेत्रों का विनियमन और संगठन, वैमानिक शिक्षा और प्रशिक्षण के लिए व्यवस्था तथा राज्यों और अन्य अभिकरणों द्वारा दी जाने वाली ऐसी शिक्षा और प्रशिक्षण का विनियमन।

(30) रेल, समुद्र या वायुमार्ग द्वारा अथवा यन्त्र नोदित जलयानों में राष्ट्रीय जलमार्गो द्वारा यात्रियों और माल का वहन।

(31) डाकतार, टेलीफोन, बेतार प्रसारण और वैसे ही अन्य संचार साधन।

(32) संघ की सम्पत्ति और उससे राजस्व, किन्तु राज्य में स्थित सम्पत्ति के सम्बन्ध में, वहाँ तक के सिवाय जहाँ तक संसद विधि द्वारा अन्यथा उपबन्ध करे, उस राज्य के विधान के अधीन रहते हुए।

(33) (पूर्वोक्त धारा 26 द्वारा प्रविष्टि 33 का लोप)।

(34) देशी राज्य के शासकों की सम्पदा के लिए प्रतिपाल्य अधिकरण।

(35) संघ का लोक ऋण।

(36) करेंसी, सिक्का निर्माण और वैध निविदा, विदेशी मुद्रा।

(37) विदेशी ऋण।

(38) भारतीय रिजर्व बैंक।

(39) डाकघर बचत बैंक।

(40) भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार द्वारा संचालित लॉटरी।

(41) विदेशों के साथ व्यापार और वाणिज्य, सीमाशुल्क सीमान्तों के आर–पार आयात और निर्यात, सीमाशुल्क सीमान्तों का परिनिश्चय।

(42) अन्तर्राज्यीय व्यापार और वाणिज्य।

(43) व्यापार निगमों का जिनके अन्तर्गत बैंककारी, बीमा और वित्तीय निगम हैं, किन्तु सहकारी सोसाइटी नहीं हैं, निगमन, विनिमयन और परिसमापन।

(44) विश्वविद्यालयों को छोड़कर ऐसे निगमों का, चाहे वे व्यापार निगम हो या नहीं जिनके उद्देश्य एक राज्य तक सीमित नहीं हैं, निगमन, विनिमयन और परिसमापन।

(45) बैंककारी।

(46) विनिमय–पत्र, चैक, वचन–पत्र और वैसी ही अन्य लिखतें।

(47) बीमा।

(48) स्टाक एक्सचेंज और वायदा बाजार।

(49) पेटेंट, अविष्कार और डिजाइन, प्रतिलिप्याधिकार, व्यापार चिन्ह और पण्य वस्तु चिन्ह।

(50) बाटों और मापों के मानक नियत करना।

(51) भारत से बाहर निर्यात किए जाने वाले या एक राज्य से दूसरे राज्य को परिवहन किये जाने वाले माल की क्वालिटी के मानक नियत करना।

(52) वे उद्योग जिनके सम्बन्ध में संसद ने विधि द्वारा घोषणा की है कि उन पर संघ का नियंत्रण लोकहित में समीचीन है।

(53) तेल क्षेत्रों और खनिज तेल सम्पत्ति स्रोत का विनियमन और विकास, पेट्रोलियम और पेट्रोलियम उत्पाद, अन्य द्रव्य और पदार्थ जिनके विषय में संसद ने विधि द्वारा घोषणा की है कि वे खतरनाक रूप से ज्वलनशील है।

(54) उस सीमा तक खानों का विनियमन और खनिजों का विकास जिस तक संघ के नियंत्रण के अधीन ऐसे विनियमन और विकास को संसद, विधि द्वारा, लोकहित मे समीचीन घोषित करें।

(55) खानों तथा तेल क्षेत्रों में श्रम और सुरक्षा का विनियमन।

(56) उस सीमा तक अन्तर्राज्यीय नदियों और नदी दूनों का विनिमय और विकास जिस तक संघ के नियंत्रण के अधीन ऐसे विनिमय और विकास को संसद, विधि द्वारा लोकहित में समीचीन घोषित करे।

(57) राज्य क्षेत्रीय सागर खण्ड से परे मछली पकड़ना और मीन क्षेत्र।

(58) संघ के अभिकरणों द्वारा नमक का विनिर्माण, प्रदाय और वितरण, अन्य अभिकरणों द्वारा किये गये नमक के विनिर्माण, प्रदाय और वितरण का विनियमन और नियंत्रण।

(59) अफीम की खेती, उसका विनिर्माण और निर्यात के लिए विक्रय।

(60) प्रदर्शन के लिए चलचित फिल्मों की मंजूरी।

(61) संघ के कर्मचारियों से सम्बन्धित औद्योगिक विवाद।

(62) इस संविधान के प्रारम्भ पर राष्ट्रीय पुस्तकालय भारतीय संग्रहालय, इम्पीरियल युद्ध संग्रहालय विक्टोरिया स्मारक और भारतीय युद्ध स्मारक नामों से ज्ञात संस्थाएँ और भारत सरकार द्वारा पूर्णत या भागतः वित्तपोषित और संसद द्वारा, विधि द्वारा, राष्ट्रीय महत्व की घोषित वैसी ही कोई अन्य संस्था।

(63) इस संविधान के प्रारम्भ पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्व विद्यालय और दिल्ली विश्वविद्यालय नामों से ज्ञात संस्थाएँ (अनुच्छेद 371 ड़ के अनुस्मरण में स्थापित विश्वविद्यालय) संसद द्वारा, विधि द्वारा, राष्ट्रीय महत्व की घोषित कोई अन्य संस्था।

(64) भारत सरकार द्वारा पूर्णतः या भागतः वित्तपोषित और संसद द्वारा, विधि द्वारा, राष्ट्रीय महत्व की घोषित वैज्ञानिक या तकनीकी शिक्षा संस्थाएँ।

(65) संघ के अभिकरण और संस्थाएँ, जो (क) वित्तीक, व्यावसायिक या तकनीकी प्रशिक्षण के लिए हैं जिसके अन्तर्गत पुलिस अधिकारियों का प्रशिक्षण, या (ख) विशेष अध्ययन या अनुसन्धान की अभिवृद्धि के लिए है, या (ग) अपराध के अन्वेषण या पता चलाने में वैज्ञानिक या तकनीकी सहायता के लिए है।

(66) उच्चतर शिक्षा या अनुसंधान में तथा वैज्ञानिक और तकनीकी संस्थाओं में मानकों का समन्वय और अवधारणा।

(67) (संसद द्वारा बनाई गई विधि द्वारा या उसके अधीन) राष्ट्रीय महत्व के (घोषित) प्राचीन और ऐतिहासिक संस्मारक और अभिलेख तथा पुरातत्वीय स्थल व अवशेष।

(68) भारतीय सर्वेक्षण, भारतीय भू–वैज्ञानिक, वनस्पति विज्ञान, प्राणीविज्ञान और मानवशास्त्र सर्वेक्षण, मौसम विज्ञान संगठन।

(69) जनगणना।

(70) संघ लोक सेवाएँ, अखिल भारतीय सेवाएँ, लोक सेवा आयोग।

(71) संघ की पेंशने अर्थात भारत सरकार द्वारा या भारत की संचित निधि में से संदेय पेंशनें।

(72) संसद के लिए राज्यों के विधानमण्डलों के लिए तथा राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के पदों के लिए निर्वाचन, निर्वाचन आयोग।

(73) संसद के प्रत्येक सदन की और प्रत्येक सदन के सदस्यों और समितियों की शक्तियाँ, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ, संसद की समितियों या संसद द्वारा नियुक्त आयोगों के समक्ष साक्ष्य देने या दस्तावेज पेश करने के लिए व्यक्तियों को हाजिर कराना।

(74) संसद सदस्यों के राज्यसभा के सभापति और उपसभापति के तथा लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन व भत्ते।

(75) राष्ट्रपति और राज्यपालों की उपलब्धियाँ, भत्ते, विशेषाधिकार और अनुपस्थिति छुट्टी के सम्बन्ध में अधिकार, संघ के मंत्रियों के वेतन व भत्ते, नियंत्रक महालेखा परीक्षक के वेतन, भत्ते और अनुपस्थिति छुट्टी के सम्बन्ध में अधिकार और सेवा की अन्य शर्ते।

(76) संघ के और राज्यों के लेखाओं की संपरीक्षा।

(77) उच्चतम न्यायालय का गठन, संगठन, अधिकारिता और शक्तियाँ (जिनके अन्तर्गत उस न्यायालय का अवमान है) और उसमें ली जाने वाली फीस, उच्चतम न्यायालय के समक्ष विधि व्यवसाय करने के हकदार व्यक्ति।

(78) उच्च न्यायालयों के अधिकारियों और सेवकों के बारे में उपबन्धों को छोड़कर उच्च न्यायालयों का गठन और संगठन (जिनके अन्तर्गत दीर्घावकाश) है। उच्च न्यायालयों के समक्ष विधि–व्यवसाय करने के हकदार व्यक्ति।

(79) किसी उच्च न्यायालय की अधिकारिता का किसी संघ राज्य क्षेत्र पर विस्तारण और उससे अपवर्जन।

(80) किसी राज्य के पुलिस बल के सदस्यों की शक्तियों और अधिकारिता का उस राज्य से बाहर किसी क्षेत्र पर विस्तारण, किन्तु इस प्रकार नहीं कि एक राज्य की पुलिस उस राज्य के बाहर किसी क्षेत्र में उस राज्य की सरकार की सहमति के बिना, जिसमें ऐसा क्षेत्र स्थित है, शक्तियों और अधिकारिता का प्रयोग करने में समर्थ हो सके, किसी राज्य के पुलिस बल के सदस्यों की शक्तियों और अधिकारिता का उस राज्य के बाहर रेल क्षेत्रों पर विस्तारण।

(81) अन्तर्राज्यिक प्रवजन, अन्तर्राज्यिक करतीन।

(82) कृषि आय से भिन्न आय पर कर।

(83) सीमा शुल्क जिसके अन्तर्गत निर्यात शुल्क है।

(84) भारत में विनिर्मित या उत्पादित तम्बाकू और अन्य माल पर उत्पाद शुल्क जिसके अन्तर्गत मानवीय उपभोग के लिए ऐल्कोहाली लिकर, (ख) अफीम, इण्डियन हेप और अन्य स्वापक औषधियों तथा स्वापक पदार्थ, नहीं हैं, किन्तु ऐसी औषधियाँ और प्रसाधन निर्मितियाँ है, जिसमें एल्कोहाल या इस प्रविष्टि के उप–पैरा (ख) का कोई पदार्थ अन्तर्विष्ट है।

(85) निगम कर।

(86) व्यष्टियों और कम्पनियों की आस्तियों को, जिनके अन्तर्गत कृषि भूमि नहीं है, पूंजी मूल्य पर कर, कम्पनियों की पूँजी पर कर।

(87) कृषि भूमि से भिन्न सम्पत्ति के सम्बन्ध में सम्पदा शुल्क।

(88) कृषि भूमि से भिन्न सम्पत्ति के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में शुल्क।

(89) रेल, समुद्र या वायुमार्ग द्वारा ले जाये जाने वाले माल या यात्रियों पर सीमा कर, रेलभाड़ों और मालभाड़ों पर कर।

(90) स्टॉक एक्सचेंजों और वायदा बाजारों के संव्यवहारों पर स्टाम्प शुल्क से भिन्न कर।

(91) विनिमय–पत्रों, चेकों, वचन–पत्रों, प्रत्यय पत्रों, बीमा पॉलिसियों,शेयरों के अन्तरण, डिबेंचरो, परोक्षियों और प्राप्तियों के सम्बन्ध में स्टाम्प शुल्क की दर।

(92) समाचार पत्रों के क्रय विक्रय या उनमें प्रकाशित विज्ञापनों पर कर (क) समाचार पत्रों से भिन्न माल के क्रय या विक्रय पर उस दशा में कर जिसमें ऐसा क्रय या विक्रय अन्तर्राज्यीक व्यापार या वाणिज्य के दौरान होता है। (ख) माल के प्रेषण पर (चाहे प्रेषण उसके करने वाले व्यक्ति को या किसी अन्य व्यक्ति को किया गया है) इस दशा में कर, जिसमें ऐसा प्रेषण अन्तर्राज्यीय व्यापार या वाणिज्य के दौरान होता है।

(93) इस सूची में विषयों में से किसी विषय से सम्बन्धित विधियों के विरुद्ध अपराध।

(94) इस सूची के विषयों में से किसी विषय के प्रयोजनों के लिए जाँच, सर्वेक्षण और आँकड़े।

(95) उच्चतम न्यायालय से भिन्न सभी न्यायालयों की सूची के विषय में से किसी विषय के सम्बन्ध में आधिकारिता और शक्तियाँ, नावधिकरण विषयक अधिकारिता।

(96) इस सूची के विषयों में से किसी विषय के सम्बन्ध में फीस, किन्तु इसके अन्तर्गत किसी न्यायालय में ली जाने वाली फीस नही है।

(97) कोई अन्य विषय जो सूची–2 या सूची–3 में प्रगणित नहीं है और इसके अन्तर्गत कोई ऐसा कर है, जो उन सूचियों में से किसी सूची में उल्लिखित नहीं है।

सूची 2

राज्य सूची

(1) लोक व्यवस्था (किन्तु इसके अन्तर्गत सिविल शक्ति की सहायता के लिए नौसेना सेना या वायु सेना या संघ के किसी अन्य सशस्त्र बल का या संघ के नियंत्रण के अधीन किसी अन्य बल का या उसकी किसी टुकड़ी या यूनिट का प्रयोग नहीं है)

(2) सूची 1 की प्रविष्टि 2 (क) के उपबन्धनों के अधीन रहते हुए पुलिस (जिस के अन्तर्गत रेल और ग्राम पुलिस है।)

(3) उच्च न्यायालय के अधिकारी और सेवक, भाटक और राजस्व न्यायालयों की प्रक्रिया, उच्चतम न्यायालय से भिन्न सभी न्यायालयों में ली जाने वाली फीस।

(4) कारागार, सुधारालय, बोर्टल संस्थाएँ और उसी प्रकार की अन्य संस्थाएँ और उनमें निरुद्ध व्यक्ति, कारागारों और अन्य संस्थाओं और अन्य संस्थाओं के उपयोग के लिए अन्य राज्यों से ठहराव।

(5) स्थानीय शासन अर्थात नगर निगमों, सुधार न्यासों, जिला बोर्डो, खनन–बस्ती प्राधिकारियों और स्थानीय स्वशासन या ग्राम प्रशासन के प्रयोजनों के लिए अन्य स्थानीय प्राधिकारियों का गठन और शक्तियाँ।

(6) लोक स्वास्थ्य और स्वच्छता, अस्पताल और औषधालय।

(7) भारत के बाहर के स्थानों की तीर्थ यात्राओं से भिन्न तीर्थ यात्राएँ

(8) मादक लिकर अर्थात लिकर का उत्पादन, विनिर्माण, कब्जा, परिवहन, क्रय और विक्रय।

(9) निःशक्त और नियोजन के लिए अयोग्य व्यक्तियों की सहायता।

(10) शव गाड़ना और कब्रिस्तान, शवदाह और श्मशान।

(11) संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम 1976 की धारा 57 द्वारा प्रविष्टि 11 लोप (3–1–1977 से प्रभावी)

(12) राज्य द्वारा नियंत्रित या वित्तपोषित पुस्तकालय, संग्रहालय या वैसी ही अन्य संस्थाएँ (संसद द्वारा बनाई गई विधि द्वारा या उसके अधीन) राष्ट्रीय महत्व के घोषित किये गये प्राचीन और ऐतिहासिक संस्मारकों और अभिलेखों से भिन्न प्राचीन और ऐतिहासिक संस्मारक और अभिलेख।

(13) संचार अर्थात् सड़के, पुल, फेरी और अन्य संचार साधन जो सूची 1 में विनिर्दिष्ट नहीं हैं, नगरपालिका ट्राम, रज्जू मार्ग, अन्तर्देशीय जल मार्गों के सम्बन्ध में सूची–1 और सूची–3 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए अन्तर्देशीय जलमार्गों और उन पर यातायात, यन्त्र नोदित यानों से भिन्न यान।

(14) कृषि जिसके अन्तर्गत कि कृषि, शिक्षा और अनुसंधान नाशक बीजों से संरक्षण व पादप रोगों का निवारण है।

(15) पशुधन का परिरक्षण, संरक्षण और सुधारों तथा जीवन/जन्तुओं के रोगों का निवारण, पशु चिकित्सा प्रशिक्षण और व्यवसाय।

(16) कांजी हाउस और पशु अविचार का निवारण।

(17) सूची 1 प्रविष्टि 56 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए जल अर्थात् जल प्रदाय, सिंचाई और नहरें, जल निकास और तटबन्ध, जल भण्डारकरण और जल शक्ति।

(18) भूमि अर्थात् भूमि में या उस पर अधिकार, भूधृति जिसके अन्तर्गत भू–स्वामी और अभिधारी का सम्बन्ध है और भ्रमक का संग्रहण, कृषि भूमि का अन्तरण और अन्य संक्रामण, भूमि विकास और कृषि उधार, उपनिवेशन।

(19) संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम 1976 की धारा 57 द्वारा प्रविष्टि 19 एवं 20 का लोप (3–1–1977 से प्रभावी)

(20) संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम 1976 की धारा 57 द्वारा प्रविष्टि 19 एवं 20 का लोप (3–1–1977 से प्रभावी)

(21) मात्स्यिकीम।

(22) सूची 1 की प्रविष्टि 34 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए प्रतिपाल्य अभिकरण विल्लंगित और कुर्क की गई सम्पदा।

(23) संघ के नियंत्रण के अधीन विनियमन और विकास के सम्बन्ध में सूची–1 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए खानों का विनियमन और खनिज विकास

(24) सूची 1 की (प्रविष्टि) और प्रविष्टि 52) के उपबन्धों के अधीन रहते हुए उद्योग।

(25) गैस व गैस संकर्म।

(26) सूची 3 की प्रविष्टि 33 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए राज्य के भीतर व्यापार और वाणिज्य।

(27) सूची–3 की प्रविष्टि 33 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए माल का उत्पादन, प्रदाय और वितरण

(28) बाजार और मेले।

(29) संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम 1976 की धारा 57 द्वारा प्रविष्टि 29 का लोप (3–1–1977 से प्रभावी)

(30) साहूकारी और साहूकार, कृषि ऋणता से मुक्ति।

(31) पौथशाला और पौथशालापाल।

(32) ऐसे निगमों का, जो सूच–1 विनिर्दिष्ट निगमों से भिन्न है और विश्वविद्यालयों का निगमन, विनियमन और परिसमापन, अनिगमित व्यापारिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक धार्मिक और अन्य सोसाइटियाँ और संगम, सहकारी सोसाइटियाँ।

(33) नाट्यशाला और नाट्यप्रदर्शन, सूची–1 की प्रविष्टि 60 उपबन्धों के अधीन रहते हुए सिनेमा, खेलकूद, मनोरंजन और आमोद।

(34) दाँव और द्यूत।

(35) राज्य में निहित या उसके कब्जे के संकर्म, भूमि और भवनें।

(36) संविधान (सातवाँ संशोधन) अधिनियम 1956 की धारा 26 द्वारा प्रविष्टि 36 का लोप।

(37) संसद द्वारा बनाई गई किसी विधि के उपबन्धों के अधीन रहते हुए राज्य के विधानमण्डल के लिए निर्वाचन।

(38) राज्य क विधान मण्डल के सदस्यों के विधानसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के और यदि विधान परिषद् है, तो उसके सभापति और उपसभापति के वेतन और भत्ते।

(39) विधानसभा की और उसके सदस्यों और समितियों की तथा यदि विधान परिषद् है, तो उस विधान परिषद् की और उसके सदस्यों और समितियों की शक्तियों, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ, राज्य के विधानमण्डल की समितियों के समक्ष साक्ष्य देने या दस्तावेज पेश करने के लिए व्यक्तियों का हाजिर कराना।

(40) राज्य के मंत्रियों के वेतन और भत्ते।

(41) राज्य लोक सेवाएँ, राज्य लोक सेवा आयोग।

(42) राज्य की पेंशने अर्थात् राज्य द्वारा या राज्य की संचित निधि में से संदेय पेंशन।

(43) राज्य का लोक ऋण।

(44) निखात निधि।

(45) भू–राजस्व जिसके अन्तर्गत राजस्व का निर्धारण और संग्रहण, भू–अभिलेख रखना, राजस्व के प्रयोजनों के लिए अधिकारों के अभिलेखों के लिए सर्वेक्षण और राजस्व का अन्य संक्रमण है।

(46) कृषि आय पर कर।

(47) कृषि भूमि के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में शुल्क।

(48) कृषि भूमि के सम्बन्ध में सम्पदा शुल्क।

(49) भूमि और भवनों पर कर।

(50) संसद द्वारा, विधि द्वारा, खनिज विकास के सम्बन्ध में अधिरोपित निर्बधनों के अधीन रहते हुए खनिज सम्बन्धी अधिकारों पर कर।

(51) राज्य में विनिर्मित या उत्पादित निम्नलिखित माल पर उत्पाद शुल्क और भारत में अन्यत्र विनिर्मित या उत्पादित वैसे ही माल पर उसी दर या निम्न दर से प्रति शुल्क (क) मानवीय उपभोग के लिए एल्कोहाली लिकर (ख) अफीम, इंडियन हैं और अन्य स्वापक औषधियाँ तथा स्वापक पदार्थ, किन्तु जिसके अन्तर्गत ऐसी औषधियाँ और प्रसाधन निर्मितियाँ नहीं हैं, जिनमें ऐल्कोहॉल या इस प्रविष्टि के उप–पैरा (ख) का कोई पदार्थ अन्तर्विष्ट हैं।

(52) किसी स्थानीय क्षेत्र में उपभोग, प्रयोग या विक्रय के लिए माल के प्रवेश पर कर।

(53) विद्युत के उपभोग या विक्रय पर कर।

(54) सूची–1 की प्रविष्टि 92 (क) के उपबन्धों के अधीन रहते हुए समाचार–पत्रों से भिन्न माल के क्रय या विक्रय पर कर।

(55) समाचार पत्रों में प्रकाशित और रेडियों या दूरदर्शन द्वारा प्रसारित विज्ञापनों से भिन्न विज्ञापनों पर कर।

(56) सड़कों या अन्तर्देशीय जलमार्गो द्वारा जे जाये जाने वाले माल या यात्रियों पर कर

(57) सूची 3 की प्रविष्टि 35 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए सड़कों पर उपयोग के योग्य बातों पर कर, चाहे वह यंत्र नोदित हों या नहीं, जिनके अन्तर्गत ट्रामकार है।

(58) जीवजन्तुओं और नौकाओं पर कर।

(59) पथकर।

(60) वृत्तियों, व्यापारों, आजीविकाओं और नियोजन पर कर।

(61) प्रति व्यक्ति कर।

(62) विलास वस्तुओं पर कर, जिसके अन्तर्गत मनोरंजन, आमोद पर कर।

(63) स्टाम्प शुल्क की दरों के सम्बन्ध में सूची 1 के उपबन्धों में विनिर्दिष्ट दस्तावेजों से भिन्न दस्तावेजों के सम्बन्ध में स्टाम्प शुल्क की दर।

(64) इस सूची में विषयों में से किसी विषय से सम्बन्धित विधियों के विरुद्ध अपराध।

(65) उच्चतम न्यायालय से भिन्न सभी न्यायालयों के इस सूची के विषयों में से किसी विषय के सम्बन्ध में अधिकारिता और शक्तियाँ।

(66) इस सूची के विषयों में से किसी विषय के सम्बन्ध में फीस, किन्तु इसके अन्तर्गत किसी न्यायालय में ली जाने वाली फीस नहीं है।

सूची–3

समवर्ती सूची

(1) दण्ड विधि जिसके अन्तर्गत ऐसे सभी विषय हैं, जो संविधान के प्रारम्भ पर भारतीय दण्ड संहिता के अन्तर्गत आते हैं, किन्तु इसके अन्तर्गत सूची एक या सूची दो में विनिर्दिष्ट विषयों में से किसी एक विषय से सम्बन्धित विधियों के विरुद्ध अपराध और सिविल शक्ति की सहायता के लिए नौसेना, वायु सेना, सेना अथवा संघ के किसी अन्य सशस्त्र बल का प्रयोग नहीं है।

(2) दण्ड प्रक्रिया जिसके अन्तर्गत ऐसे सभी विषय हैं जो इस संविधान के प्रारम्भ पर दण्ड प्रक्रिया संहिता के भारतका संवैधानिक विकास।

(3) किसी राज्य की सुरक्षा, लोक व्यवस्था बनाये रखने या समुदाय के लिए आवश्यक प्रदायों और सेवाओं को बनाये रखने सम्बन्धी कारणों से निवारक निरोध। इस प्रकार निरोध में रखे गये व्यक्ति।

(4) बन्दियों, अभियुक्त व्यक्तियों और इस सूची की प्रविष्टि 3 में विनिर्दिष्ट कारणों से निवारक निरोध में रखे गये व्यक्तियों का एक राज्य से दूसरे राज्य को हटाया जाना।

(5) विवाह और विवाह–विच्छेद, शिशु और अवयस्क, दत्तक ग्रहण, बिल, निर्वसीयता और उत्तराधिकार, अविभक्त कुटुम्ब और विभाजन, वे सभी विषय जिनके सम्बन्ध में न्यायिक कार्यवाहियों में पक्षकार इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले अपनी स्वीय विधि के अधीन थे।

(6) कृषि भूमि से भिन्न सम्पत्ति का अन्तरण, विलेखों और दस्तावेजों का रजिस्ट्री करण।

(7) संविदाए जिनके अन्तर्गत भागीदारी, अभिकरण, वहन की संविदाएँ और अन्य विशेष प्रकार की संविदाएँ हैं, किन्तु कृषि भूमि सम्बन्धी संविदा नहीं हैं।

(8) अनुयोज्य दोष।

(9) शोधन अक्षमता और दिवाला।

(10) न्याय और न्यासी।

(11) महाप्रशासक और शासकीय न्यासी (क) न्याय प्रशासन, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों से भिन्न सभी न्यायालयों का गठन औन संगठन।

(12) साक्ष्य और शपथ, विधियों, लोककार्यों और अभिलेखों और न्यायिक कार्यों को मान्यता।

(13) सिविल प्रक्रिया जिसके अन्तर्गत ऐसे सभी विषय हैं, जो इस संविधान के प्रारम्भ पर सिविल प्रक्रिया संहिता के अन्तर्गत आते हैं, परिसीमा और माध्यस्थम् ।

(14) न्यायालय का अवमान, किन्तु इसके अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय का अवमान नहीं।

(15) आहिंडन, यायावरी और प्रवाजी जनजातियाँ।

(16) (16) पागलपन और मनोवैकल्प जिसके अन्तर्गत पागलों और मनोविकल 'व्यक्तियों को ग्रहण करने या उनका उपचार करने का स्थान है।

(17) पशुओं के प्रति क्रूरता का निवारण (क) वन (ख) वन्य जीव–जन्तुओं और पक्षीयों का संरक्षण।

(18) खाद्य पदार्थों और अन्य माल का अपमिश्रण।

(19) अफीम के सम्बन्ध में सूची 1 की प्रविष्टि 59 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए मादक द्रव्य और विष।

(20) आर्थिक और सामाजिक योजना (क) जनसंख्या नियंत्रण और परिवार नियोजन।

(21) वाणिज्यिक और औद्योगिक एकाधिकार, गुट और न्यास।

(22) व्यापार संघ, औद्योगिक और श्रम विवाद।

(23) सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा, नियोजन और बेकारी।

(24) श्रमिकों का कल्याण जिसके अन्तर्गत कार्य की दशाएँ, भविष्य निधि, नियोजन का दायित्व, कर्मकार प्रतिकर, अशक्तता और वार्धक्य पेंशन तथा प्रसूति सुविधाएँ हैं।

(25) सूची 1 की प्रवृष्टि 63, 64, 65 और 66 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए शिक्षा जिसके अन्तर्गत तकनीकी शिक्षा, आयुर्विज्ञान शिक्षा और विश्वविद्यालय हैं। श्रमिकों का व्यवसायिक और तकनीकी प्रशिक्षण।

(26) विधिवित्ति, चिकित्सा वित्ति और अन्य वित्तियाँ।

(27) भारत और पाकिस्तान डोमिनियनों के स्थापित होने के कारण अपने मूल निवास स्थान से विस्थापित व्यक्तियों की सहायता और पुनर्वास।

(28) पूर्त कार्य और पूर्त संस्थाएँ, पूर्त और धार्मिक विन्यास और धार्मिक संस्थाएँ।

(29) मानवों, जीव–जन्तुओं या पौधों पर प्रभाव डालने वाले संक्रामक या सांसर्गिक रोगों अथवा नाशकजीवों के एक राज्य से दूसरे राज्य में फैलने का निवारण।

(30) जन्म–मरण सांख्यिकी जिसके अन्तर्गत जन्म और मृत्यु रजिस्ट्रीकरण है।

(31) संसद द्वारा बनाई गई विधि या विद्यमान विधि द्वारा या उसके अधीन महापत्तन घोषित पत्तनों से भिन्न पत्तन।

(32) राष्ट्रीय जलमार्गो के सम्बन्ध में सूची–1 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए अन्तर्देशीय जलमार्गो पर यन्त्र नोदित जलयानों के सम्बन्ध में पोत परिवहन और नौ परिवहन तथा ऐसे जलमार्गो पर मार्ग का नियम और अन्तर्देशीय जलमार्गो द्वारा यात्रियों और माल का वहन।

(33) (क) जहाँ संसद द्वारा विधि द्वारा किसी उद्योग का संघ द्वारा नियंत्रण लोकहित में समीचीन घोषित किया जाता है वहाँ उस उद्योग के उत्पादों का और उसी प्रकार के आयात किये गये माल का ऐसे उत्पादों के रूप में (ख) खाद्य पदार्थो का जिनके अन्तर्गत खाद्य तिलहन और तेल हैं। (ग) पशुओं के चारे का जिसके अन्तर्गत खली और अन्य सारकृत चारे हैं। (घ) कच्ची कपास का चाहे वह ओटी हुई हो या बिना ओटी हो और विनौले का और (ङ) कच्चे जूट का व्यापार और वाणिज्य तथा

उनका उत्पादन प्रदाय और उनका विवरण (च) बाट और माप जिनके अन्तर्गत मानकों का नियत किया जाना नहीं है।

(34) कीमत नियंत्रण।

(35) यन्त्र नोदित यान जिसके अन्तर्गत वे सिद्धान्त हैं जिनके अनुसार ऐसे यानों पर कर उद्‌गृहीत किया जाना हैं।

(36) कारखाने।

(37) वायलर।

(38) विद्युत।

(39) समाचार पत्र, पुस्तकें और मुद्रणालय।

(40) संसद द्वारा बनाई गई विधि द्वारा या उसके अधीन राष्ट्रीय महत्व के (घोषित) पुरातत्वीय स्थलों और अवशेषों से भिन्न पुरातत्वीय स्थल और अवशेष।

(41) ऐसी सम्पत्ति की (जिसके अन्तर्गत कृषि भूमि है) अभिरक्षा, प्रबन्ध और व्ययन जो विधि द्वारा निष्क्रान्त सम्पत्ति घोषित की जाय।

(42) सम्पत्ति का अर्जन और अधिग्रहण।

(43) किसी राज्य में उस राज्य से बाहर उद्भूत कर से सम्बन्धित दावों और अन्य लोक माँगों की वसूली जिनके अन्तर्गत भू–राजस्व की बकाया और ऐसी बकाया के रूप में वसूल की जा सकने वाली राशियाँ हैं।

(44) न्यायिक स्टाम्पों के द्वारा संगृहीत शुल्कों या फीसों से भिन्न स्टाम्प शुल्क, किन्तु इसके अन्तर्गत स्टाम्प शुल्क की दरें नहीं है।

(45) सूची–2 या सूची–3 में विनिर्दिष्ट विषयों में से किसी विषय के प्रयोजनों के लिए जाँच और ऑकड़े।

(46) उच्चतम न्यायालय से भिन्न सभी न्यायालयों की इस सूची के विषयों में से किसी विषय के सम्बन्ध में अधिकारिता और शक्तियाँ।

(47) इस सूची के विषयों में से किसी विषय के सम्बन्ध में फीस, किन्तु इसके अन्तर्गत किसी न्यायालय में ली जाने वाली फीस नहीं है।